आनन्द प्रवचन : द्वितीय भाग

◆ प्रकाशक :
श्री रतन जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, अहमदनगर (महाराष्ट्र)

◆ प्रकाशन
जून १९७२,
वि० स० २०२९, आषाढ

◆ पृष्ठ ४०८

◆ सस्करण
प्रथम २२००

◆ मूल्य . छह रुपये मात्र

◆ मुद्रण व्यवस्था
सजय साहित्य सगम
दासबिल्डिग न० ५,
बिलोचपुरा, आगरा–२

◆ मुद्रक
रामनारायन मेडतवाल,
श्रीविष्णु प्रिंटिग प्रेस,
राजा की मडी, आगरा–२

प्रकाशकीय

असीम हर्ष का विषय है कि हम श्रमण संघ के महामहिम आचार्य श्री आनन्दऋषि जी महाराज के प्रवचन संग्रह का द्वितीय भाग आपके सन्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रथम भाग कुछ समय पहले ही फरवरी १९७२ में प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँचा है। उसकी लोकप्रियता तथा अति उपयोगिता के विषय में सभी ओर से उत्साहजनक संदेश मिलने के कारण इस द्वितीय संग्रह को शीघ्र प्रकाशित करने का हमने प्रयत्न किया है। तथा उसके परिणाम स्वरूप ही यह पाठकों के समक्ष पहुँच रहा है।

परम प्रसन्नता की बात है कि जनता ने आचार्य देव के प्रवचन साहित्य का सर्वान्तःकरण से स्वागत किया है तथा इसके द्वारा आत्मोपयोगी साहित्य का भंडार अधिकाधिक भरने का आग्रह किया है। हम पाठकों की इच्छा और आग्रह का पूर्ण समर्थन करते हुए इस आध्यात्मिक साहित्य को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ाने की कोशिश करेंगे तथा निकट भविष्य में ही 'आनन्द प्रवचन' का तृतीय भाग प्रकाशित करके पाठकों को संतुष्ट करेंगे।

इस कार्य में श्री रतन मुनिजी महाराज का सहयोग, श्री कुन्दनऋषि जी महाराज की उत्कट प्रेरणा, सुश्री कमला जैन 'जीजी' का सुन्दरतम संपादन तथा श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' की आकर्षक मुद्रण व्यवस्था का जो योगदान है, वह अति सराहनीय है।

आशा है श्रद्धालु पाठक आचार्य श्री के इस मर्मस्पर्शी और आत्मोद्धारक साहित्य का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए अपनी चिर-पोषित अभिलाषा को पूर्ण करेंगे एवं प्रकाशन को सफल साबित करेंगे।

मंत्री
श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी (अहमदनगर)

आभार-दर्शन

श्रद्धेय आचार्य प्रवर के प्रवचन साहित्य को लिपिवद्ध कर सुन्दर आकर्पक रूप मे जन-जन तक पहुँचाने के लिए अनेक महानुभावो का आग्रह एव प्रेरणा रही है। समय-समय पर सहयोग भी मिलता रहा है। सहयोग की इसी भूमिका पर आन्न्द प्रवचन का यह द्वितीय भाग पाठको की सेवा मे प्रस्तुत है। इस पुनीत कार्य मे निम्नलिखित दानी महानुभावो का उदार सहयोग हमे प्राप्त हुआ है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

आशा है भविष्य मे भी इसी प्रकार सहयोग प्राप्त होता रहेगा और हम इस प्रवचन माला को पाठको के हाथो मे पहुँचाते रहेगे।

१२००)	चदनमल जी दगडूलाल जी पगारिया	औरगावाद
११११)	हस्तीमल जी पारसमल जी सिंगवी	
११००)	चद्रभान जी रूपचद जी डाकलिया	श्रीरामपुर
११००)	सचालाल जी छगनलाल जी वाफना	धुलिया
१०००)	गुलावचद जी सुराणा	बुलारम
५०१)	सोहनलाल जी जुगलकिशोर जैन	लुधियाना
५०१)	केशरचद जी कचरदास जी वोरा	आश्वी
५०१)	प्रकाशचद जी कश्मीरीलाल जी जैन	देहली (शक्तिनगर)
५०१)	लाला हसराज जी सोहनलाल जी जैन	चडीगढ
५०१)	श्रीमती सुधादेवी C/o कुन्दनलाल लोठिया	लुधियाना
५०१)	श्रीमती भागवन्ती देवी C/o अच्छरूमल जैन	पटियाला
५०१)	पुखराज जी कुन्दनमल जी पुनमियाँ	सादडी मारवाड
२५१)	चुनिलाल जी छगनमल जी चदनमल जी नगावत	शिवपुर
२०१)	श्रीमती सुशीलावती C/o रमेशचद जैन	लुधियाना
२०१)	श्रीमती सीतादेवी C/o वावू हाडस्वरूप जैन	लुधियाना
१०१)	सागरमल जी धर्मपत्नी भागीरथी वाई ओसवाल	भुसावल
१०१)	केवलचद जी नेमीचद जी भटेवडा	राहू



कुछ कहना है

श्रद्धेय गुरुवर्य आचार्य श्री जी के प्रवचनो के प्रकाशन की वलवती आकाक्षा मेरे अन्तर्मानस मे चिरकाल से पल रही थी। मै चाहता था कि आपके प्रवचनो का लाभ केवल निकटस्थ श्रोता ही नही, वरन सुदूरवर्ती पाठक भी उठाए तथा जीवन-निर्माण एव आत्मोत्थान की प्रवलतम शक्ति रखने वालो मे प्रवचन अमूल्य निधि के सदृश साहित्य के भण्डार मे सुरक्षित रहते हुए उसके महत्व मे चार चांद लगाते रहे।

आप जानते ही है **'श्रेयांसि वहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि**—श्रेष्ठ कार्यों मे प्राय. विघ्न आया करते है। लगभग निरन्तर विहार, अत्यधिक व्यस्तता आदि कारणो से जो कार्य कई वर्ष पूर्व ही हो जाना चाहिए था नही हो सका। इस वर्ष खुशालपुरा चातुर्मास मे यद्यपि व्यस्तता तो यहा भी कम न थी किन्तु हमारे विद्वान स्नेहनिधि साथी श्री रतन मुनिजी के एकत्त्ववत् सहयोग एव अन्यान्य अनुकूलता से मेरी हार्दिक इच्छा को प्रावल्य मिला और खुशालपुरा श्री सघ के सामने अपने विचार व्यक्त किये। श्री सघ ने सहर्ष मेरे प्रस्ताव का आदर करते हुए आचार्यदेव के प्रवचनो को लिपिवद्ध करवा लिया।

तत्पश्चात् यश प्राप्त लेखिका और सफल सम्पादिका श्री कमला जैन "जीजी" ने सम्पादन के भार को ग्रहण किया तथा अन्य कार्यों मे व्यस्त होने पर भी आचार्य श्री जी के प्रवचनो का अल्पकाल मे ही सर्वांगीण सुन्दर सम्पादन करके अपनी असीम श्रद्धा का परिचय दिया।

श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने इनके प्रकाशन आदि की सम्पूण व्यवस्था की जिम्मेदारी अपने हाथो मे लेकर इस कार्य को और भी अधिक सुन्दर व कलापूर्ण वना दिया तथा यथाशीघ्र जनता के हाथो मे पहुचाने का प्रयत्न किया है।

मुझे आशा ही नही, अपितु पूर्ण विश्वास है कि आत्मोन्नति के प्रशस्त क्षेत्र को प्रकाशित करने वाले इन प्रवचनो का लाभ अनेकानेक व्यक्ति उठाएँगे तथा विशेष रूप से हमारी नई पीढी के नवयुवक जो कि भविष्य में समाज के स्तभ बनेगे, इन्हे हृदयगम करते हुए अपने चरित्र का सुन्दर निर्माण करेगे तथा स्वार्थ, द्वेष एव कट्टरता के अधकार को चीर देने वाली विश्ववधुत्व की पुनीत और जाज्वल्यमान ज्योति जलाएँगे।

—कुन्दन ऋषि

सम्पादकीय

पाठक वधुओ !

परम प्रसन्नता की बात है कि आनन्द-प्रवचन का द्वितीय भाग आपके कर-कमलो मे पहुच रहा है। प्रथम भाग के पश्चात् अल्पकाल मे ही दूसरे भाग के प्रकाशित होने का श्रेय महामहिम आचार्य श्री आनन्दऋषि जी महाराज के प्रवचनों को ही है। आपके प्रवचन इतने सरस और हृदयग्राही हैं कि समयाभाव होने पर भी इनका सम्पादन करने मे मुझे उत्साह और आनन्द का अनुभव होता रहा है।

आशा है आप भी इस प्रवचन साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को, मन को तथा विचारो को परिष्कृत करते हुए मानव-पर्याय के उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयत्न करेंगे। आत्म-हितकारी प्रवचनो का जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सबध होता है। वे अदृश्य रूप से मानव का मार्ग-दर्शन करते हैं।

लोग दुनिया भर की पोथियाँ पढते हैं,सारे ससार का ज्ञान अपने दिमाग मे भर लेना चाहते हैं। किन्तु अपने अन्त करण को समझने का प्रयत्न नही करते, जिसका जीवन के उत्थान, पतन और अनन्तभविष्य के साथ भी निकटतम सबध होता है। श्रद्धेय आचार्य श्री के प्रवचन सीधे ही हमारे अन्त करण को छूते हैं तथा विचारो को शुद्ध, सात्विक एव निस्पृह बनाते हुए उन्हे सम्यक् मोड प्रदान करते हैं।

आवश्यकता है इन्हे आत्मसात् करते हुए अमल मे लाने की। अगर व्यक्ति ऐसा नही करता है, इनसे समुचित लाभ नही उठाता है तो समझना चाहिये कि वह आत्महितैषी नही है, अपितु उसका घोर शत्रु है। जीवन का लक्ष्य बाह्य समृद्धि जुटा लेना नही है, वरन् आतरिक वैभव को प्रकाशित करना है। और वह तभी अपने सहज व शुद्ध रूप मे प्रकट हो सकता है जबकि महापुरुषो की वाणी से निखर जाय।

आचार्य देव एक ऐसे ही महामानव हैं जिनकी मर्मस्पर्शी प्रवचन-धारा अनवरत प्रवाहित हो रही है। वे प्राणी अत्यन्त सौभाग्यशाली होंगे जो इस पावन-प्रवाह मे अवगाहन करके अपने मन व आत्मा को कलुष रहित बना लेंगे।

अत मे मैं मुनि श्री कुन्दनऋषि जी महाराज के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिनकी सतत प्रेरणा और समय-समय पर आवश्यक सुझावो के कारण सम्पादन-कार्य शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

साथ ही अपनी भाभी कुसुम भारिल्ल की भी कृतज्ञ हू जिन्होंने मेरे शारीरिक रूप से अस्वस्थ रहने पर भी अपने सरस व्यक्तित्व से मेरे मानसिक सतुलन को सहज और प्रफुल्ल बनाए रखते हुए सम्पादन सम्बन्धी अनेक सुविधाएँ प्रदान की।

पूर्ण विश्वास है कि पाठक इस द्वितीय भाग से लाभ उठाकर मेरे श्रम को सार्थक बनाएँगे तथा मेरे पूर्व प्रयत्न के समान ही इसे पसद करके भविष्य के लिए मुझे उत्साहित करेंगे।

—कमला जैन 'जीजी' एम०ए०

दो शब्द

सच्चे महापुरुष ससार के ज्ञान को अपने माहात्म्य मे ही ग्रहण करते है। और ग्रहण करने के पश्चात् अपने जीवन मे उतार कर जगत मे उसकी सचाई का प्रकाश फैला देते हैं। वह प्रकाश स्वय ही प्रकाशक का परिचय दे देता है, उसके विषय मे कहने, लिखने और इ गित करने की आवश्यकता नही रहती। और ऐसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही निरर्थक साबित होता है।

ठीक यही बात हमारे श्रमण सघ के गौरव एव नर-पु गव आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के विषय मे कुछ भी लिखना है। किन्तु अन्तर्मन केवल आत्म-सतोष के लिये ही अपनी श्रद्धा और भक्ति की अभिव्यक्ति करना चाहता है अत दो शब्द लिखने का प्रयास किया है।

मेरे नाथद्वारा के चातुर्मास काल मे जबकि श्री कमला जैन 'जीजी आपके प्रवचनो का सम्पादन कर रही थी, मैंने प्रवचनो को बहुत नजदीक से देखा है, उन्हे उलटा और पलटा है। फलरूप पाया है कि ये प्रवचन मानव-जीवन की अनेकानेक समस्याओ का सुलझाव तथा अनेक विशिष्ट और महत्वपूर्ण सदेश लेकर प्रस्फुटित हुए है। ऐसा लगता है, जैसे भारतीय सस्कृति की आत्मा स्वय ही अपने भावो मे गम्भीरता, भाषा मे सजीवता एव शैली मे तेजस्विता लिये हुए बोल रही हैं।

आपके प्रवचनो मे न किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या राष्ट्र के प्रति किसी प्रकार का आक्षेप है और न पक्षपात, अपितु प्रवचन जीवनस्पर्शी और आत्मा को उन्नत बनाने वाले तथा सामाजिक विषमता तथा असस्कारिता को नष्ट करते हुए आत्मिक आनन्द की सच्ची अनुभूति कराने वाले हैं।

इनमें भक्ति, त्याग और वैराग्य का अनुपम तेज है तथा मानवीय सद्गुणो के प्रतिष्ठान का प्रयत्न है।

आपके चिन्तन की सूक्ष्मता, हृदय की विराटता, व्यक्तित्व की भव्यता और भाषा की सरसता प्रवचनो में स्पष्ट झलकती है, जो जन-मानस को सहज ही मन्त्र-मुग्ध करती हुई मार्ग-भ्रष्ट प्राणियो को सही दिशा पर लाने की क्षमता रखती है।

अगर मानव शुद्ध हृदय और ग्राह्य भाव से इनका पाठन करे, चिन्तन और मनन करे तो कोई कारण नही है कि वह महामानव न बन सके।

—साध्वी उमरावकुवर 'अर्चना'

अनुक्रमणिका

आनन्द प्रवचन

द्वितीय भाग



१ उठ जाग मुसाफ़िर !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

यह संसार बहुत विराट है तथा इस विराट सृष्टि में जीव नाना गतियों और योनियों में भ्रमण करता आ रहा है। महापुरुषों ने बतलाया है कि जीव को जन्म लेने के लिये चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। सुनकर तनिक आश्चर्य होता है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसकी सच्चाई का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि हम अपनी आँखों से भी इस भूतल पर अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं को देखते हैं। अनेक जीव आकाश में उड़ते हैं, अनेक पृथ्वी पर चलते हैं तथा अनेकानेक जीव जल में तैरते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वर्षाऋतु में तो कीड़े-मकोड़े, मच्छर और डांस आदि से पृथ्वी भर जाती है।

इसके अलावा संसार इस पृथ्वी तक ही सीमित नहीं है। इसके ऊपर स्वर्ग है और नीचे नरक है, जिनमें देवता और नारकी अपना जीवन-यापन करते हैं। अनन्तानन्त तिर्यंच जीव भी इसी संसार में रहते हैं। इस प्रकार अगर हम विचार करें तो इस विश्व की विराटता और जीवों की अनन्तता

हमारी समझ मे आ सकती है। भले ही हम पूर्णतया इस जीव-जगत की विशालता को न जान सकें पर कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

विराट पथ का पथिक

हमारा जीव भी अनन्त काल से असख्ययोनियो मे जन्म लेता हुआ आज मानव योनि को प्राप्त कर सका है। दूसरे शब्दो मे, अपनी इस विराट यात्रा को तय करता हुआ मानव-पर्याय रूपी पडाव पर आकर टिका हुआ है।

यह पडाव उसे अनन्तानन्त कष्टो को सहने के वाद तथा असख्य कठिनाइयो को पार करने के पश्चात् महान पुण्य कर्मों के सचय के फल स्वरूप प्राप्त हुआ है। विचार करने की वात है कि असख्य योनियो से वचकर मनुष्य योनि प्राप्त कर लेना कितनी कठिन और वडी वात है ?

महिमामय मानव जीवन

जिन जीवो को यह मानव-पर्याय मिली हैं वे वडे पुण्यशाली हैं, इसमे तनिक भी सदेह नही है। क्योकि यह जीवन अनमोल है। कोई भी व्यक्ति लाखो करोडो रुपये देकर अथवा चक्रवर्ती सम्राट अपने छ खण्ड का राज्य और अपना सर्वस्व देकर भी इस मानव जीवन को मोल नही ले सकता।

मानव-जीवन की महिमा अपरम्पार है। इसका मुकावला देव-जीवन भी नही कर सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से जव हम विचार करते हैं तथा वीतराग और सर्वज्ञ प्रभु के वचनो पर ध्यान देते हैं तो हमे मालूम पडता है कि चरम सीमा तक का आध्यात्मिक विकास केवल मनुष्य ही कर सकता है। यद्यपि देवताओ को मनुष्यो की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त होते हैं, किन्तु आत्म-साधना और उसकी सिद्धि का सवाल जहाँ आता है, वे पीछे रह जाते हैं। देवता अधिक से अधिक चार गुणस्थान पा सकते हैं किन्तु आत्मा की अनन्त शक्ति का उपयोग करने मे समर्थ मानव चौदहो गुणस्थानो को पार करके परमात्म पद भी पा लेता है। तभी कहा गया है—

"धर्मार्थकाम मोक्षाणाम् मूलमुक्तं कलेवरम्।"

—धर्म का, धन का, विविध इच्छाओ का और मोक्ष का साधन यह मानव शरीर ही है।

केवल शरीर पाकर निश्चिन्त मत हो जाना।

वधुओ, अभी मैंने वताया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन सभी का साधन यह शरीर है। किन्तु आप यह विचार कर कि मानव शरीर पा

लिया है तो अब ये सभी मानव ही उत्तम हो जाएँगे, और निश्चिन्त होकर मन बैठ जाएगा। मोक्ष-प्राप्ति इस शरीर से संभव अवश्य है किन्तु उसके लिये बहुत साधना करनी पड़ती है। उसमें बहुत प्रयत्न, त्याग, तपस्या और अखंड साधना करनी पड़ती है। मोक्ष वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष आदि का सर्वथा त्याग करके चित्त को शुद्ध करता हुआ तथा समस्त सांसारिक ममता पर-पदार्थों से विमुख होकर ज्ञान, दर्शन, तप और भाव की आराधना करे। जो प्राणी अपने विद्या, बल, बुद्धि धन, जाति, कुल या प्रभुत्व के मद में चूर रहते हैं उनके लिये मुक्ति पाना कठिन ही नहीं, असंभव है।

समय केवल उसी के लिये है, जो इन सब बातों का मूल्यांकन करने के लिये सतत् जागरूक रहता है। तथा मोह निद्रा में पड़ा रहकर अपने मानव-जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ नहीं गँवाता। सन्त-महात्मा भी आपको सदा यही उपदेश देते हैं और मोह तथा प्रमाद की भान भुला देने वाली निद्रा से जगाने का प्रयत्न करते हैं। कहते हैं—

ऊँघे मत पथी जन ! ससार है अटवीवन,
काया रूपी नगर में रहे फतम घोर है।
जीव है बटाउ यामें आयकर वास कियो,
ठगिनि है पाँच यां को मुलक में सोर है।
ज्ञानादिक गुण रूप रतन अमोल धर्म,
ऊँघे तो ले जाय लूट मिथ्या तम घोर है।
तिलोक कहत सद्‌गुरु चोकीदार सीख—
धार रे ! बटाऊ ऊघे मती भई भोर है।

कितना सुन्दर पद्य है ? जिसप्रकार एक चौकीदार सड़क पर गश्त लगाता है तथा जिस घर के दरवाजे खुले देखता है, फौरन उसके निवासियों को दरवाजे बन्द करने और सावधान रहने के लिये चेतावनी देता है, ठीक उसी प्रकार कविकुलभूषण सत त्रिलोकऋषि जी म० जीव को जगाते है, उसे सचेत करते हैं। कहते हैं—

"अरे पथिक ! तू मोह-निद्रा में इस प्रकार बेभान होकर मत सो ! देख राग, द्वेष, कषाय मद आदि अनेक चोर तेरे अन्तर्मानस के खुले द्वारों की ओर टकटकी लगाए हुए है। अगर तू असावधान रहा तो मौका पाते ही ये दुष्ट तेरा आत्मिक-धन चुरा ले जाएंगे और तू किस पूंजी के बल पर अपनी इस विराट-यात्रा को सम्पन्न करेगा ?"

वास्तव मे ही हम सब मुसाफिर हैं। चाहे सत हो या सती, श्रावक हो या श्राविका सभी मुसाफिरी करते करते इस मानव-शरीर रूपी चोले मे आकर टिके हैं। पर यह भी स्थायी नही है। एक दिन इसे छोडकर पुन. गमन करना पडेगा। पर इस बीच मे अगर हमारा समस्त आत्मिक धन इन दुर्गुण रूपी लुटेरो ने लूट लिया तो फिर खाली हाथ यह यात्रा कैसे पूरी हो सकेगी ? कवि ने यही बात बडे सुन्दर ढग से समझाई है कि—

यह ससार एक भयानक अटवी अर्थात् जगल है। अनन्तकाल तक भटकते रहने के पश्चात् जीव ने बडी कठिनाई से मानव शरीर रूपी नगर पाया है। जहाँ इसे तनिक विश्राम मिला है। यद्यपि इसका गतव्य स्थान मुक्ति-धाम अभी बहुत दूर है और जीव को वहाँ पहुचने की अभिलाषा है। किन्तु महायात्रा की थकावट से क्लात होकर इस सुविधाजनक पडाव पर सो गया है। पर सोया भी ऐसी प्रमाद निद्रा मे है कि उठने का नाम ही नही लेता।

यह भूल गया है कि इस काया रूपी नगरी मे काम, क्रोध, लोभ लालच और विषय-भोग आदि अनेक ठग हैं जो प्रतिपल इसे लूट लेने की फिराक मे घूम रहे हैं। और तो और, स्वय इसकी पाँचो इन्द्रियाँ भी उन ठगो के साथ मिलकर ठगिनी बन गई हैं और इसे धोखा देने लगी हैं। इनकी शक्ति बडी जबर्दस्त है, जैसा कि कवि ने लिखा है—"ठगणी है पाँच याको मुलक मे शोर है।" मनुस्मृति मे भी कहा है—

"बलवान् इन्द्रिय-ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।"

इन्द्रिय समूह बडा बलवान है, और यही कारण है कि विद्वान भी इन्द्रियो के भुलावे मे आकर इनकी ओर आकर्षित हो जाया करते हैं। अतएव विषयो से प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिये।

हम देखते ही हैं कि जो व्यक्ति विषय भोगो मे आसक्त रहते हैं, तथा मिथ्यात्व के अधेरे मे मोह-निद्रा के वशीभूत होकर सजग नही रह पाते उनका सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी अमूल्य धर्म-रत्न कषायादि ठग और वासनाओ रूपी ठगिनिया चुरा लेती हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपनी मजिल तक पहुचा देने वाली पूँजी खो बैठता है तथा पुन ससार-अटवी मे भ्रमण करने को बाध्य हो जाता है। ऐसे जीवो का तिरस्कार करते हुए एक पजाबी कवि भी कहता है—

कि होया जे जन्म लिया ते कदर जन्म दा पाया नाँ।
जिनेश्वर दी भक्ति वाला सच्चा रंग चढ़ाया नाँ॥

काम क्रोध मद लोभ लुटेरे, अन्दर धाड़ मचाई ए।
भेद इनां दा किसे नूं नाहीं, तैं की पता लगाया नीं ॥

कहा है—'अरे प्राणी ! तुझे धिक्कार है कि तूने मनुष्य जन्म पाकर भी इस अमूल्य जन्म की कद्र नहीं की। तेरे इस सुन्दर जीवन को पाने से क्या लाभ हुआ ? जबकि तूने कषायों से कलुषित अपने हृदय पर भगवान की भक्ति का सच्चा और सुन्दर रंग नहीं चढ़ाया।

तेरे अन्तर्मानस में काम, क्रोध, मद तथा लोभ आदि लुटेरों ने कितनी जबर्दस्त लूट-पाट मचाई है ? और इन डाकुओं के विषय में नहीं जानता ? पर फिर भी तूने अपने अन्दर झांक कर नहीं देखा और इनका पता नहीं लगाया। फिर तेरे मनुष्य जन्म पाने से क्या लाभ हुआ ?"

बन्धुओ ! यह एक कवि के शब्द हैं जो बड़ी कठोरता और तिरस्कार से युक्त हैं। कवि जीव रूपी मुसाफिर की अत्यन्त कड़े शब्दों में भर्त्सना करता है।

किन्तु सन्तों का हृदय अत्यन्त कोमल और करुणापूर्ण होता है। तुलसी दास जी के शब्दों में—

'संत हृदय नवनीत समाना।'

यानी—सन्तों का हृदय मक्खन के समान, दूसरों के दुःख से अविलम्ब द्रवित हो जाने वाला होता है। इसीलिये वे किसी प्राणी के लिये कठोर भाषा का प्रयोग नहीं करते। वे अत्यन्त मुलायम और वात्सल्य पूर्ण शब्दों से उसे जगाते हैं, सावधान करते हैं। यथा—

तिलोक कहत सद्गुरु चौकीदार सीरा—
धार रे बटाउ ऊँघे मति भई भोर है।

कहा है—"भोले बटोही ! अब निद्रा छोड़ो। देखो ! तुम्हारे सद्गुरु एक चौकीदार के समान तुम्हारे आत्म धन की निगरानी और रक्षा कर रहे हैं तथा तुम्हें प्रमाद रूपी निद्रा से सचेत कर रहे है। तुम उनकी शिक्षा को ग्रहण कर जाग उठो ! देखो प्रात काल हो गया है अत अपने आत्मिक धन को सहेज कर इस ज्ञान रूपी प्रकाश मे सावधानी से कदम बढाओ।"

अपनी उसी कोमल भाषा मे सत शिक्षा देते हैं—

जन्माये उनी फुकाच जन हो काँहीं तरी साधना।
चुकावी चौरयाशी यातना ॥

"हे पथिक ! जबकि पूर्वोपार्जित पुण्यो के फल स्वरूप तुम्हे यह मनुष्य का चोला मिल गया है तो अब प्रमाद मत करो ! जप-तप, ज्ञान-ध्यान और भक्ति-भाव की ओर बढो। सासारिक कार्य तो पानी के मथने के समान हैं जिनसे लाभ कुछ भी हासिल न होगा। इन कार्यों के करने से तुम परलोक के लिये पूजी एकत्रित नही कर सकोगे। सब कुछ यही रह जायगा। धन-पैसा तुम्हारे साथ जाने वाला नही है।'

"अगर तुम अपनी आगामी यात्रा के लिये कुछ इकट्ठा करना चाहते हो तो उसे पुण्य के रूप मे सचित करो। पुण्य कर्मों का सचय केवल धर्माराधन से ही होगा, जड-द्रव्य इकट्ठा करने से नही।"

वास्तव मे धन-दौलत आदि से आत्मा का तनिक भी कल्याण होना संभव नही होता। फिर भी अज्ञानी प्राणी न जाने क्यो माया के पीछे मतवाला बना रहता है। कवि सुन्दरदास जी भी ऐसे अज्ञानी प्राणियो को बोध देते हैं—

माया जोरि जोरि नर राखत जतन करि,
कहत है एक दिन मेरे काम आये हैं।
तोहे तो मरत कछु बार नाहीं लागे शठ,
देखत ही देखत बबूला सो बिलाए है।
धन तो धर्यो ही रहे चलत न कौडी गहे,
रीते हाथ आयो जैसे तैसे रीतो जाए है।
करले सुकृत यह बिरिया न आवे फिर,
सुन्दर कहत फेर पाछे पछताए है।

कवि के कथन का साराश यही है कि जीवन पानी के बुलबुले के समान है, जो किसी भी क्षण नष्ट हो जाएगा। उस समय जोडी हुई माया मे से एक पाई भी साथ नही जाएगी। मनुष्य जिस प्रकार खाली हाथ पृथ्वी पर आया था, उसी प्रकार हाथ पसारे हुए जाना पडेगा। इसलिये अगर कुछ साथ मे ले जाने वाला धन कमाना है तो अविलम्ब उसे चेत जाना चाहिये और सुकृत के रूप मे परलोक के लिये पूजी एकत्रित करनी चाहिये। अन्यथा काल का आक्रमण हो जाने के वक्त पछताने के सिवाय कुछ भी हाथ नही आएगा।

सोना किस समय ?

ससार के सभी प्राणी परिश्रम करते हैं और उसके बाद विश्राम चाहते

हैं। दिन भर की कडी मेहनत के पश्चात् रात्रि को कुछ घंटे सोकर शरीर की थकावट मिटाते हैं।

बधुओ आप भी सत-महापुरुषो के जागो, उठो, और सोओ मत ! शब्दो को बार बार सुनकर कही घबरा न गए हो कि अगर हम प्रति-क्षण आत्म-साधनो मे लगे रहेंगे तो फिर विश्राम कब करेंगे ? बिना सोए हमारी थकावट दूर कैसे होगी ? क्यो है न यही बात आपके मन मे ? आप पक्के व्यापारी हैं। हिसाब-किताब मे तनिक भी गडबड नही होने देते। अगर हम कहदें कि एक क्षण भी व्यर्थ मत खोओ, तो फौरन अपनी शिकायत पेश कर देंगे।

पर हम भी आप ही के गुरु हैं। समाधान करने मे हमे भी देर नही लगती और कोई दिक्कत नही होती। अगर आपको सोने का समय चाहिये ही, तो यह भी मैं एक कवि के शब्दो मे बता देता हू। कवि ने कहा है—

तू नेकी मे जाग बुराई में सोजा !

कहिये हो गई न आपके मन की बात ? अब तो ठीक है ? कवि ने आपको सोने का समय भी बता दिया है। कहा है—"तुम नेकी मे तो जागते रहो और बुराई मे सो जाओ।" यानी जब तुम्हारे हृदय मे शुभ-भावनाओ का उदय हो और तुम दया, दान तथा सेवा आदि के नेक कार्य कर सको, उस समय अवश्य जागते रहो। किन्तु मन की गति विचित्र है उसमे विचारो को बदलते देर नही लगती। अत जब हृदय मे राग,द्वेष, निंदा, विकथा और दूसरो को कष्ट या हानि पहुचाने के भाव आएँ तथा तुम कुकार्यों को करने लिये उद्यत हो जाओ, उस समय तुम्हारा सोना बेहतर है। बुरा कार्य करने की अपेक्षा तो कुछ न करना ही उचित है, और वही समय तुम्हारे सोने के लिये उत्तम है।

तो अब आपके सोने के समय की तो शिकायत रही नही, अत कवि ने आगे क्या कहा है यह कह दूँ ? आगे कहा गया है —

निराली जमाने से हर बात हो
जो दुनिया का दिन हो तेरी रात हो।
तू जीवन की चादर के सब दाग धोजा
तू नेकी में जाग बुराई में सोजा।

तेरी हर बात जमाने से निराली होनी चाहिये। दुनिया भले ही गलत कार्यों को सही माने तथा एक दूसरे की देखा-देखी अपने आचार-विचार और व्यवहार को दूषित करले। पर तुझे तो अपनी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर कसकर ही प्रत्येक काम करना है।

ऐसा करने पर ही तू अपनी जीवन रूपी चादर को स्वच्छ बना सकेगा तथा उसमे लगे हुए अपयश के धब्बो को मिटा सकेगा।

गुमराह करने वाली इन्द्रियां

इन्द्रियो के विषय मनुष्य को गुमराह बनाकर कर्म-बन्धनो का कारण तो बनते ही हैं, साथ ही उसके ललाट पर अपयश का टीका भी लगा देते हैं। इन्द्रियाँ पाच हैं और पाँचो ही अपनी अपनी तृप्ति की माँग करने मे लगी रहती हैं। परिणाम क्या होता है —

इन्द्रियों के वश में होकर, मन का गुलाम बनकर,
विषयों में फंस के पापी, तन-मन व धन है दीना।
भाइयो ! जगत में आकर, यो ही हुआ है जीना।

कवि का कहना यथार्थ है हम प्राय देखते भी है। एक व्यक्ति अपनी नौकरी के लिये बाहर जा रहा है, पर उस समय मे भी उसने कंधे पर ट्राजिस्टर लटका रखा है। देखिये, कान कितने शौकीन हैं फिल्मी गीत सुनने के ? सतो का उपदेश भले ही उन्हे कभी सुनने को न मिले, लेकिन गीत एक भी बिना सुना नही रहना चाहिये।

इसी प्रकार की करामात चक्षु-इन्द्रिय की है। घर से दस कदम पर मदिर या धर्मस्थानक है पर देव-दर्शन या सतदर्शन की इच्छा आँखो को नही होती। हाँ सिनेमा देखने के लिये रात को भी तीन-तीन कोस जाना कोई बडी बात नही है। जब हम विहार मे होते हैं तब छोटे-छोटे गावो मे ऐसे उदाहरण प्राय मिलते है। वहा सिनेमा घर होता नही अत शहर मे जाना पडता है। भले ही घर मे स्त्री बच्चे भूखो मर रहे हो, पर सिनेमा देखना जरूरी हो जाता है। ऐसा क्यो ? क्योकि इन्द्रियो के काबू मे मनुष्य है। वह अपनी इन्द्रियो पर शासन नही कर सकता। इन्द्रियो का शासन उस पर चलता है।

अनेक व्यक्ति खाने-पीने के भी अत्यन्त लोलुपी होते हैं। न उन्हें खाद्य का विचार रहता है और न अखाद्य का। कौनसी वस्तु खानी चाहिये और कोनसी नही, इसकी परवाह किये बिना ही वे चीजो को उदरस्थ करते रहते हैं। मांस, अडे या मदिरा किसी से भी उन्हें परहेज नही होता। चाहे सिर से पैर तक कर्ज से लद जायँ और घर के बर्तन-भांडे भी बाजार मे पहुच जायें पर जिह्वा की तृप्ति होनी चाहिये। और घर मे सभव न हो तो होटलो मे जाकर आमलेट और कबाब खाएँगे पर खाएँगे जरूर।

वे यह भूल जाते है कि आज तो रसना-इन्द्रिय की लोलुपता के कारण हम निर्दोप प्राणियो के गलो पर छुरिया चलवाते हैं पर कल हमारा क्या होगा ? किसी ने कहा भी है —

हसदे ने खिल खिल जेड़े रोवनगे यार कल नूं ।
जमां ने लेखा लेना फड़के तलवार नूं ॥
छुरियां चलाई जादे, जीवां नूं सताई जादे :
लेखा ओ पाइ जादे, देना उधार कल नूं ॥
पींदे शराब वैठे खांदे कवाव वैठे ।
वनके नवाव वैठे डूवन मझधार कल नूं ।

अर्थात्—मेरे दोस्त, आज तो खिलखिलाकर हँस रहे है पर कल इन्हे रोना पडेगा । निरीह प्राणियो को सताकर तथा उन पर छुरियाँ चलवाकर आज तो ये नवाव वने शराव पी रहे है, तथा कवाव खा रहे है पर कल इन्हे मझधार मे डूवना पडेगा । परलोक मे कोई इनका राज्य नही है । वहा इनकी एक-एक करतूत लिखी जा चुकी है और वहां पहुचते ही यम के दूत नगी तलवार के वल पर आज का उधार किया हुआ कल वसूल कर लेंगे ।

इसीलिये कवि ने कहा है कि इद्रियो के वश मे होकर तथा मन का गुलाम वनकर जिसने अपना तन, मन और धन सभी कुछ लुटा दिया है उसका इस मानव-जीवन को प्राप्त करना व्यर्थ सावित हुआ है ।

पूरा राज्य ले लो !

कुण्डरिक और पुण्डरिक दोनो भाई थे । एक ने साधुत्व ग्रहण किया और दूसरे ने राज्य पाया । जो भाई साधु वन गए थे, उन्होंने अपने जीवन का वडा भारी हिस्सा सयम पालन मे विता दिया । किन्तु अन्त मे जाकर उनका मन डोल गया और वे अपने भाई के पास आकर वोले—"मुझे मेरे हिस्से का आधा राज्य दे दो !"

राजा ने अत्यत चकित और दुखी होकर कहा—

"भगवन् ! यह कैसी वातें करते है आप ? राज्य वडा नहीं है, उसकी अपेक्षा आप अनेक गुना वडे हैं । आप पच-महाव्रत धारी साधु हैं । आपके चरणो मे तो मेरे जैसे अनेक राजा अपना मस्तक झुकाते हैं । आप ज्ञान, दर्शन और चारित्र के धनी हैं । राजाओ से भी महान् हैं ।"

किन्तु **विनाशकाले विपरीत बुद्धिः** यह कहावत चरितार्थ हुई । साधु भाई ने कडवाहट पूर्वक अपना आग्रह दोहराया—"मुझे वडप्पन और महानता नही चाहिये । अपना आधा राज्य चाहिये ।"

"अगर ऐसा ही है तो आधा क्या ? आप पूरा ही राज्य ले लीजिये तथा अपना पवित्र वाना मुझे प्रदान कीजिये !" कहते हुए राजा ने अपने मस्तक से मुकुट उतारकर भाई के मस्तक पर रख दिया तथा स्वय साधु वेश धारण करके वन की ओर चल दिये ।"

—उसके बाद क्या हुआ ? राज्य लेने वाले भाई का शरीर जो कि लवे काल तक तपस्या करने से निर्बल हो चुका था, प्रथम तो पौष्टिक खाद्य पदार्थों को नही पचा सका दूसरे विषय-वासना की अधिकता से उत्पन्न हुई आसक्ति के कारण बीमार पड गया और केवल तीन दिन के अल्पकाल मे ही सातवी नरक का अधिकारी वना ।

उधर साधु का वाना ग्रहण करने वाले भाई ने विचारा—'मैंने साधु वेश तो धारण कर लिया पर जव तक गुरु की प्राप्ति नही होती, आहार-पानी कैसे ग्रहण करू ?' इस उत्तम भावना के साथ परीषिह सहन करके उसने भी तीन दिन मे ही शरीर त्याग दिया । और सर्वार्थसिद्ध की प्राप्ति कर ली ।

मन की गति कैसी विचित्र होती है । विकृत होने के पश्चात् न वह वाने की कद्र करती है और न ही लोक-लज्जा की । क्षण मात्र मे ही जीवन भर की साधना को भी धूल मे मिलाने की शक्ति रखती है । इसीलिये महोपनिषद् मे कहा है —

हस्त हस्तेन सम्पीड्य, दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य, जयेदादौ स्वक मन ॥

अर्थात् हाथ से हाथ भीचकर, दातो को दांतो से पीसकर और शरीर के अगो पर अगो से आक्रमण करके भी सर्वप्रथम अपने मन को जीतना चाहिये ।

आशय इसका यही है कि जिस किसी भी उपाय से सभव हो अपने मन को जीतो तथा इन्द्रियो को अपने वश मे करो ।

अगर इन पर से कन्ट्रोल हट गया तो चाहे साधु हो या श्रावक, वह अपने नियमो और व्रतो पर स्थिर नही रह सकता । भोग-लिप्सा उसे कही का भी नही रखती ।

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्याय मे स्पष्ट किया है —

समरेसु आगारेसु सधिसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धि,नेव चिट्ठे न सलवे ॥

—लोहार की शाला, शून्य घर, दो घरो के वीच की गली मे तथा राजमार्ग मे अकेला साधु, अकेली स्त्री के साथ न तो खडा रहे न वातचीत ही करे ।

यह नियम क्यो ? इसीलिये कि मन के दूपित होने का मौका न आ पाए । पहले से ही सावधानी रखना उचित है । अन्यथा महाव्रतधारी साधु या अणुव्रत धारी श्रावक, दोनो के ही ज्ञानादिक गुणो की चोरी हो जाएगी । सत रूपी चौकीदार इसीलिये वार वार सावधान करते हैं । कहते हैं —

ऊँघे तो ले जाय लूट मिथ्यातम घोर है ।

'अरे वटाऊ ! तू असावधान मत हो, मोह-निद्रा मे गाफिल होकर मत पडा रह । अन्यथा इस मिथ्यात्व और अज्ञान के घोर अधकार मे भोगेच्छाए तुझे लूट लेंगी । तेरे अमूल्य ज्ञानादिक आत्मिक गुणो को कपाय रूपी ठग और वासना रूपी ठगिनी तेरे पास सुरक्षित नही रहने देंगे । वडे-वडे साधु और वडे-वडे सम्राटो को भी ये नही छोडते फिर तू तो इनके सामने विसात ही क्या रखता है ?'

वस्तुत विपयेच्छाओ की लीला वडी अद्भुत और शक्ति अपरम्पार होती है । जैसा कि मैंने अभी वताया था, इनके आकर्पण मे फसा हुआ साधु अपने महाव्रतो को तिलाजलि दे देता है तथा सम्राट अपने सम्पूर्ण राज्य का त्याग कर देता है ।

इगलैंड के राजा अप्टम एडवर्ड का किसी महिला से प्रेम था और वह उससे विवाह करना चाहता था । किन्तु उसकी पार्लियामेण्ट के सदस्यो ने विभिन्न कारणो से इसका घोर विरोध करते हुए कहा—"आप राज्य और उस महिला दोनो मे से केवल एक ही रख सकते हैं,किसको चाहते हैं आप ?" एडवर्ड ने राज्य को ठुकरा दिया ।

इसी प्रकार हमारे यहाँ इन्दौर महाराजा का हाल हुआ । उन्हे भी अपनी प्रेमिका के कारण स्वय को राज्य छोडकर अपने पुत्र को देना पडा ।

किन्तु इन उदाहरणो से यह आशय नही समझ लेना चाहिये कि वासनाओ पर विजय प्राप्त करना तथा मन का निग्रह करना सभव ही नही है । अगर ऐसा होता तो ससार मे अनेको महापुरुप तथा तीर्थंकर-केवली ससार-मुक्त होकर किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करते ? ऐवताकुमार और गजसुकुमाल जैसे वाल मुनि भी अपने समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष के अधिकारी वन गए । क्या यह मनोनिग्रह के अभाव मे सभव था ? नही, मन को वश मे किये विना तो वे आत्म-कल्याण के पथ पर एक कदम भी नही वढ पाते ।

किन्तु ससार के सभी प्राणी एक सरीखे नही होते । सभी अपने मन को इतनी दृढ़ता से वश मे नही रख पाते तथा विपय-वासनाओ के प्रवाह मे वह

जाते हैं। अत सतो को उन्हें सावधान करना पडता है, तथा जागरूक रखना होता है। वे प्राणी को सचेत करते हुए इन्द्रियाँ और मन को बहकने न देने का उपाय भी बताते हैं। यथा —

स्वाध्याययोगैश्चरण क्रियासु—
व्यापारणैर्द्वादश – भावनाभि ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति —
फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात् ॥

अर्थात्—स्वाध्याय योग मे मन लगाकर,क्रियाओ मे सलग्न करके,अनित्यता अशरणता आदि बारह भावनाओ मे जोडकर और शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल के चिन्तन में लगाकर बुद्धिमान पुरुष मन का निरोध करने का प्रयत्न करे।

क्योकि मन का स्वभाव प्रतिपल किसी न किसी प्रकार का चिन्तन करना है। मुहूर्त मात्र के लिये भी वह खाली नही रह सकता। ऐसी स्थिति मे उसे रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ होता है अत उसे स्वाध्याय आदि प्रशस्त क्रियाओ मे उलझाए रखना चाहिये। इन शुभ-क्रियाओ मे अगर वह लगा रहेगा तो उसे विषय-वासनाओ की ओर जाने का अवकाश ही नही मिल पाएगा। और इसी उपाय से वह धीरे-धीरे सध जाएगा तो विषयो की ओर से विरक्त होकर आत्मा मे स्थिर रहेगा। इस प्रकार मन को काबू मे करने के लिये स्वाध्याय, भावना तथा शुभचिंतन आदि का प्रयोग करना चाहिये।

कबीर मन मरकट भया, नेक न कहुँ ठहराय।
सत्त नाम बांधे विना जित भावे तित जाय ॥

—यह मन बन्दर के समान चपल है। एक स्थान पर तनिक भी नही ठहरता। इसलिये इसे ईश्वर के नाम से बाधना पडेगा, अर्थात् भक्ति मे लगाना होगा। अन्यथा तो जहाँ चाहेगा उधर ही चल देगा।

तो बधुओ, आप जीव की स्थिति समझ गए होंगे कि यह किस प्रकार अनन्त काल से विभिन्न योनियो मे जन्म लेता हुआ चला आ रहा है। तथा इस महायात्रा मे इसे बडी कठिनाइयो से मनुष्य जन्म रूपी अत्यन्त सुन्दर और सुविधाजनक पडाव मिला है।

लम्बी यात्रा से क्लात हुआ जीव यहाँ आकर इसके आकर्षण और मोह मे फसकर प्रमादमयी निद्रा मे सो रहा है। वह भूल गया है कि अभी मेरी

यात्रा का अन्त नही हुआ है और मेरा लक्ष्य स्थान बहुत दूर है। वह यह भी भूल गया है कि गुलाब के पेड मे जिस प्रकार के काँटे रहते हैं, उसी प्रकार इस काया-रूपी सुन्दर नगरी मे इन्द्रिय-विषय रूपी अनेको चोर और ठग हैं तथा ये मेरा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूप आत्म-धन चुराने की ताक मे लगे हुए हैं। भोले मुसाफिर को यह भी भान नही है कि अगर मेरी निद्रा का लाभ उठाकर ठगो ने यह धन चुरा लिया तो मैं किस प्रकार अपनी यात्रा सम्पन्न करूँगा ? तथा किस पूँजी के बल पर आगे बढूँगा ?

जीव की यह दयनीय स्थिति देखकर सत पुरुष दुखी होते है। वे बार-बार उसे सजग करते हुए कहते है —

उठ जाग मुसाफिर भोर भई,
अब रैन कहा जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है
जो जागत है सो पावत है।

"भोले, मुसाफिर, प्रभात काल होने आया है, अब उठो ! क्या तुम जानते नही हो कि सोने वाला व्यक्ति केवल अपना दुर्लभ समय ही नही खोता, वरन धनमाल भी खो सकता है। और सतत जागरूक रहने वाला प्राणी इन सब हानियो से बचता हुआ ईश्वर प्राप्ति मे कई कदम आगे बढ जाता है। देखो, ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश तुम्हारे चारो ओर फैला हुआ है। इसके उजेले मे अपना मार्ग खोजो और आगे बढो !"

आगे कहा है —

टुक नींद से अँखियाँ खोल जरा,
ऐ गाफिल रब से ध्यान लगा।
यह प्रीत करन की रीत नहीं,
रब जागत है तू सोवत है। उठ जाग.

कहते हैं—"अरे नादान ! अपनी इस मोह-निद्रा को त्याग कर तनिक ज्ञान-नेत्र खोल और इस ब्रह्म-मुहूर्त मे ब्रह्म का चिन्तन कर। तू यह भी तो नही जानता कि प्रेम किस प्रकार किया जाता है। जिस परब्रह्म परमेश्वर को तू पाना चाहता है वह तो सतत जागकर तेरा आह्वान कर रहा है और तू सोया पडा है। क्या प्रीति की रीति यही है ? नही, उठ ! और तू भी उससे लौ लगा।"

कितनी वात्सल्य पूर्ण और कल्याण कर चेतावनी है ? सत इसी प्रकार

स्वय भी जागरूक रहते हैं और दूसरो को भी जगाते हैं। एक छोटा सा उदाहरण है। जिसे शायद मैंने कभी कहा होगा पर प्रसगवश कह देता हू।

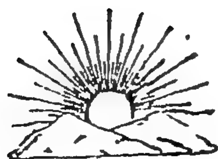
एक तपस्वी सारी रात भगवान का भजन करते रहते थे। यह देखकर एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—

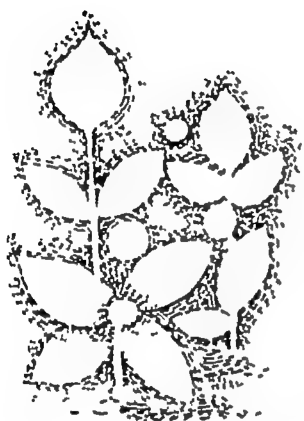
"महात्मन्! आप रात्रि को कुछ समय के लिये सो क्यो नही लेते हैं?"

महात्मा बोले—"भाई! जिसके नीचे नरक की ज्वाला सुलग रही हो और ऊपर जिसे परम ब्रह्म बुला रहा हो, उसे नीद कैसे आ सकती है?

तो बधुओ! सतो का जीवन ऐसा ही होता है। उन्हे जिस प्रकार आत्म-कल्याण की चिन्ता रहती है, उसी प्रकार पर-कल्याण के लिये भी वे चिन्तित रहते हैं। उनकी आत्मा ससार के समस्त प्राणियो को आत्म-वत् समझती है। प्रत्येक के कष्ट को अपना कष्ट मानती है।

इसलिये जो प्राणी उनके जगाने से जाग जाएँगे, और उनकी चेतावनी से सावधान हो जाएँगे। वे निश्चय ही अपने धर्म-रत्न को सुरक्षित रखते हुए उसके बल पर अपनी यात्रा के अतिम लक्ष्य मोक्ष-धाम को प्राप्त कर सकेंगे।





२

राज्य की अमिट बुभुक्षा

धर्म प्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

अत्यत हर्ष की वात है कि हमारे पर्वाधिराज पर्व पर्यु पण के पुनीत दिवसो का प्रारम्भ हो रहा है ।

हमारे भारतवर्ष मे असख्य पर्व समय-समय पर मनाए जाते हैं। यह कहने मे भी अतिशयोक्ति नही है कि भारत मे जितने पर्व या त्योहार वर्ष भर मे मनाए जाते हैं, उतने अन्य किसी भी देश मे नही मनाए जाते ।

इन पर्वों के विपय मे अगर सावधानीपूर्वक विचार किया जाय तो हमे मालूम हो जाएगा कि समय-समय पर मनाए जाने वाले ये पर्व दो प्रकार के हैं— लौकिक और लोकोत्तर ।

लौकिक पर्वों के मूल मे

लौकिक पर्वों को मनाने मे कई मूल कारण होते हैं। यथा—होली और दशहरा आदि पर्व मनुष्य मनोरजन के लिये मनाते हैं। दिवाली तथा रक्षा-वधन पैसे के लालच की दृष्टि मे माने जाते हैं, और शीतला व नाग-पंचमी जैसे पर्व कभी बच्चो को चेचक न निकल जाय या नाग न डसले, उस जय से

मनाए जाते हैं। इन सभी लौकिक पर्वों के मनाए जाने का तरीका लगभग एक सरीखा है जैसे—नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ बनाना और खाना, भाति भाति के उत्तमोत्तम वस्त्र एव अलकार बनवाकर पहनना तथा भिन्न भिन्न प्रकार के मनोरजक कार्यक्रमो का आयोजन करके उनसे मन को प्रसन्न करना। इन पर्वों के मनाने मे मनुष्य का मूल उद्देश्य यही होता है। किन्तु, लोकोत्तर पर्व इनसे कुछ भिन्न होते हैं।

लोकोत्तर पर्वों का महत्त्व

ये पर्व लौकिक पर्वों की तरह केवल सासारिक सुख का अनुभव करने के लिये नही होते, वरन आत्म-शुद्धि और आत्मोत्थान को लक्ष्य मे रखकर मनाए जाते हैं। इनकी सार्थकता अच्छा खाने, अच्छा पहनने और केवल मनोरजन करने मे नही है, वरन आत्म-साधना करने मे है। इसीलिये इनके मनाने का तरीका भी अलग है। इन पर्वों मे मनोरजन का सर्वथा त्याग करके अपने आपको सेवा-कार्य मे, ईश-भक्ति मे, दान देने मे, शील का पालन करने मे, तथा विशेष करके आतरिक और बाह्य तप का आराधन करने मे लगाता है। और इससे आत्म-सतुष्टि तथा आत्मानन्द का अनुभव करता है। ये सब शुभ-क्रियाएँ तथा शुभभावनाएँ आत्मोद्धार के लिये आवश्यक हैं। इनके अभाव मे सासारिक सुख कितना भी क्यो न प्राप्त कर लिया जाय, उससे आत्मा का तनिक भी भला नही होता।

निन्यानवे का चक्कर

मनुष्य जब इस चक्कर मे पड जाता है तो उसे ज्यो-ज्यो उसके अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, त्यो-त्यो वह उनसे भी अधिकाधिक प्राप्त करने की इच्छा करता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि उसका मन सदैव अतृप्त रहता है और तृष्णा की आग मे जलता रहता है। सतोष के अभाव मे उसकी अधिकाधिक भौतिक समृद्धियाँ पाने की भूख कभी शात नही होती। ऐसे प्राणियो को कवि सुन्दरदास जी कहते हैं —

जो दस बीस पचास भये,
शत होये हजारन लाख मगेगी,
कोटि अरब्ब खरब्ब असख्य,
पृथ्वी पति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज्य करो,
तृष्णा अधिकी अति आग लगेगी,
सुन्दर एक सतोष बिना,
शठ! तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

तृष्णा की आग इसी प्रकार भडकती जाती है। वह कभी भी शांत होने का नाम नही लेती। कहा जाता है कि ससार मे कुछ खड्डे ऐसे होते है, जो कभी भी भर नही पाते। हम देखते भी हैं कि विवाह-मडप मे या अन्य किसी भी समारोह पर मजदूर एक छोटा सा गढा खोदकर उसमे लकडी का स्तंभ डालता है और निकाली हुई मिट्टी को उसमे पुन भर देता है। किन्तु वह गड्डा तव भी भर नही पाता। तो यह साधारण सा गड्ढ भी जव नही भरता तो ससार के महान खड्डे जिनके विपय मे आपको वताने जा रहा हू, कैसे भर सकते हैं ? आपको जानने की उत्सुकता होगी कि वे खड्डे कौन कौन से हैं ? एक कवि के शब्दो मे इन्हे सुनिये —

आठ ये खाड बनी जग मे,
न भरी न भराय अनादि की जानो,
राज की, पेट की, मौत की खाड ज्यो,
तृष्णा की खाड अनन्त पिछानो।
अग्नि, समुद्र अने घर की,
वलि मुक्ति का मारग नाहि पुरानो।
आठ खाड़ भरिये निशि वासर,
न भरे न भरी कहे कवि उलहानो।

कवि का कथन है—राज्य, पेट, मौत तृष्णा, अग्नि, समुद्र घर और मुक्ति, ये आठ ऐसे महान खड्डे हैं जो कभी भी भर नही सकते। अनादि काल से प्राणी इन्हे भरते चले आ रहे हैं किन्तु आज भी ये खाली हैं और भविष्य मे भी खाली रहेगे। इनके भरने की कदापि सभावना नही है।

राज्य का खड्डा

आठ खड्डो मे से पहला खड्डा वताया गया है राज्य का। राज्य के इस खड्डे मे भी चाहे जितना राज्य धन भरो यह कभी नही भरता। राज्य मे करोडो रुपयो की आमदनी प्रतिवर्ष होती है, इतना ही रुपया लोग करो और टेक्सो के रूप मे इसे देते हैं। किन्तु क्या कभी इसकी आवश्यकता समाप्त होती है ? नही, अनन्त धन-राशि भी इसके कोप को पूर्ण नही कर सकती। इसकी सीमा का भी कभी अन्त नही आता। एक-एक इच और एक-एक गज जमीन के लिये भी राजा लोग आपस मे कट मरे हैं, हमे इतिहास वताता है। महाभारत का महा-भयानक युद्ध राज्य की इसी तृष्णा को लेकर हुआ। पाडवो ने केवल पाँच गाँव अपने निर्वाह के लिये कौरवो

से माँगे थे। किन्तु दुर्योधन का कथन था—"एक सुई की नोक के बराबर जमीन भी नही दूँगा।"

आज भी यही हालत है। भारत ने पाकिस्तान को पर्याप्त हिस्सा दे दिया, पर क्या उसे सतोष हुआ ? नही। वह सदा इसी फिराक मे रहता है कि कब मौका मिले और मैं भारत की कुछ न कुछ जमीन अपने कब्जे मे कर लूँ। रूस, अमरीका और चीन आदि सभी देश इसी रोग के रोगी हैं। किसी को भी अपने राज्य की समृद्धि और सीमा से सतोष नही है। सभी अपना खजाना अनन्त गुना बढाते जाना चाहते हैं।

ससार मे सभी बडे-बडे सग्राम और युद्ध राज्य की अभिवृद्धि और उसके कोप की बढती की लालसा से हुए हैं। हमारे शास्त्रो मे एक प्रासगिक कथानक है कि महाराजा श्रेणिक ने अपने दो पुत्रो के हिस्से कर दिये। कोणिक को सम्पूर्ण राज्य और बहल को एक अमूल्य हार और हाथी प्रदान किया। किन्तु समस्याओ का हल नही हो सका।

तृष्णा की करामात

राजा कोणिक की पत्नी पद्मावती ने अपने पति के कान भरने शुरू किये। कहा "राज्य तो हमारा था ही, उसको प्राप्त कर लेना कौनसी बडी बात हुई ? विशेषता तो तब है, जब कि इतने बडे राज्य की महारानी को पहनने के लिये हार भी अमूल्य हो तथा सवारी के लिये हाथी भी। इनके अभाव मे कोरा राज्य क्या शोभा देता है ?"

परिणाम वही हुआ जो सदा से होता आया है। कैकेयी ने जिस कौशल से महाराज दशरथ को अपनी इच्छा पूर्ति के लिये बाध्य किया था, उसी प्रकार पद्मावती ने राजा कोणिक को भी अपनी इच्छाओ के समक्ष झुका लिया, तथा यह भी साबित कर दिया कि नारी की शक्ति के सामने पुरुप पराजित होता आया है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है—

"All the reasonings of man are not worth one sentiment of woman'
—वालटेयर

पुरुष के सारे तर्क स्त्री के एक भाव के समक्ष अयोग्य साबित होते हैं।

महाकवि तुलसीदास जी ने भी नारी-चरित्र को सभी प्रकार से अगम और अगाध बताया है। रामचरित मानस मे कहा है—

> सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ।
> सब विधि अगम अगाध दुराऊ।

निज प्रतिबिम्ब मुकुर गहि जाई।
जानि न जाय नारि गति भाई॥

वस्तुत स्त्री में अद्भुत कौशल होता है। अगर वह उसका सदुपयोग करती है तो अपने घर को स्वर्ग बना लेती है और दुरुपयोग करने पर उतारू हो जाती है तो उसे नर्क मे बदल देती है। दूसरे शब्दो मे किसी विद्वान के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है—"अच्छी स्त्री पुरुष के लिये सागर मे एक बदरगाह के समान सुखकर साबित होती है और बुरी स्त्री उस बदरगाह मे तूफान आ जाने के सदृश कष्टकर।"

कहने का अभिप्राय यही है कि रानी पद्मावती ने अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया अर्थात् कोणिक के हृदय मे हार और हाथी की चाह को जागृत करते हुए उसे अपने भाई-वहल का दुश्मन बना दिया। कोणिक ने वहल को सदेश भेजा कि वह पिता के द्वारा पाये हुए अपने हाथी और हार को शीघ्र ही उसके पास पहुचा दे। वहल्ल

वहल ने प्रत्युत्तर भिजवाया—"ये दोनो चीजें पिताजी ने स्वय ही बँटवारा करके दी है, किन्तु फिर भी अगर आप इन्हें लेना चाहते हैं तो राज्य मुझे दे दीजिये। मैं सहर्ष ये आपको दे दूँगा। पर बँटवारे के दोनो हिस्से तो आप अकेले ही कैसे ले सकते हैं?"

कोणिक इस बात पर कैसे राजी होता? लालच का भूत तो उसके सिर पर सवार ही था। वह भाई से लडने के लिये तैयार हो गया।

इधर वहलकुमार के सामने वडी भारी समस्या आ खडी हुई। कोणिक के आक्रमण का मुकावला वह कैसे करे? न उसके पास राज्य था, न शस्त्र और न ही सेना। एक हाथी और दूसरे हार से तो युद्ध किया नही जा सकता।

आखिर वह अपने नाना महाराजा चेटक (चेडा) के पास गया और सारी हकीकत उनके सामने रखी। राजा चेडा भी विचार मे पड गए। क्योंकि उनके पास भी कोणिक की जबर्दस्त शक्ति का मुकावला करने लायक सैन्य-सामग्री नही थी। किन्तु वे बारह व्रतधारी श्रावक थे। विश्वास रखते थे कि न्याय का पलडा सदा भारी होता है तथा प्रत्येक समझदार व्यक्ति न्याय का ही पक्ष लेता है। अत उन्होने नौ मल्ली तथा नौ लच्छी, इस प्रकार अठारह देश के राजाओ के समक्ष वहलकुमार की स्थिति का विवरण रखा और उनसे मशविरा किया कि ऐसी हालत मे क्या करना चाहिये?

सभी राजाओं ने एक स्वर से यही कहा—'यद्यपि वहलकुमार युद्ध-

सामग्री की दृष्टि से कमजोर है, किन्तु वे कोणिक के समान अनीति के मार्ग पर नही हैं। अत इनकी सहायता करना हम क्षत्रियो का धर्म है। अगर कोणिक युद्ध करने पर उतारू हैं तो आप निश्चित रहिये हम वहलकुमार का और आपका साथ अवश्य देंगे।'

इस प्रकार महाराजा चेडा ने अठारह देशो के राजाओ के सहयोग और सगठन से कोणिक का मुकावला किया।

संघे शक्तिः कलौ युगे

सगठन की शक्ति अद्भुत होती है। बिखरी हुई शक्तियाँ अकेली रहकर एक छोटे से कार्य को भी सम्पन्न नही कर सकती किन्तु एकत्रित होकर वे ही उससे अनेक गुने महान् कार्य को वात की वात मे सफल वना लेती हैं। हितोपदेश मे कहा भी है—

> **अल्पानामपि वस्तूनां, सहतिः कार्यसाधिका।**
> **तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिन.॥**

छोटी छोटी वस्तुओ के सघटन से भी कार्य सिद्ध हो जाता है। जैसे तृणो को मिलाकर वटी हुई रस्सियो से मतवाले हाथी वांधे जाते हैं।

हिन्दी भापा के एक कवि ने भी सगठन का महत्व वडा जवर्दस्त और सर्वाङ्गीण वताया है। कहा है—

> **विश्व को प्यारा है वह- प्यारा है जिसको सगठन।**
> **कौम की किस्मत का है ऊँचा सितारा सगठन॥**
> **निर्धनो का धन, निर्बल का है बल, निर्गुण का गुण।**
> **बेकसों का बस है, बेचारो का चारा संगठन॥**
> **तीर्थ की पदवी से हो जाती है पदवी तीर्थराज,**
> **करती जब गगाजी, जमुना जी की धारा संगठन॥**

कवि ने कहा है—जिसको सगठन प्यारा है, वह विश्व का प्यारा वनने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दो मे, जो व्यक्ति सव से हिलमिल कर चलने की भावना रखता है उसका कोई दुश्मन नही होता, वह सभी का प्रिय-पात्र वन जाता है।

इस ससार मे वह कौम भी वडी इज्जत और महत्व प्राप्त करती है, जिसके सदस्यो मे सगठित रहने की भावना होती है। आप जानते ही होंगे हमारे हिन्दुस्तान मे पारसी कौम कितनी छोटी है ? जैन कौम की अपेक्षा वहुत ही कम, केवल एक लाख या सवा लाख व्यक्तियो की ही। लेकिन इस

कौम के सदस्यो मे सगठन की भावना कितनी जवर्दस्त है ? इस जाति के व्यक्ति एक दूसरे की सहायता के लिये जी जान से तत्पर रहते हैं। इसीलिये पारसी कौम का एक वच्चा भी कभी भीख मागता नजर नही आता। ऐसा क्यो है ? क्योकि वे लोग जानते हैं हमारी कौम की इज्जत सगठन के कारण है। अगर हममें सगठन नही रहेगा तो इसे तितर-वितर होते देर नही लगेगी। सगठन के कारण ही आज पारसी समाज वडी तरक्की कर गया है। शिक्षा के क्षेत्र मे, सम्पन्नता के क्षेत्र मे तथा राजनीतिक क्षेत्र मे भी यह आगे वढ रहा है।

कविता मे आगे वताया गया है—सगठन ही निर्धनो का धन, निर्वलो का वल और गणहीनो का गुण है। इन सवसे हीन व्यक्ति भी जव सगठित होकर रहते हैं तो पारस्परिक आत्मीयता, सद्भावना और स्नेहशीलता के कारण उनका आपसी वातावरण कलुप-रहित और सुन्दरतम वना रहता है। तथा उनका जीवन औरो के लिए आदर्श सावित होता है। ऐसी शिक्षा और सम्पत्ति किस काम की ? जिसके कारण आदमी, आदमी से द्वेप करने लग जाय और एक दूसरे की जान का ग्राहक वना रहे। इसकी अपेक्षा तो अशिक्षित और निर्धन प्राणी उच्च सावित होते हैं, जो सगठित होकर प्रेम से रहते हैं तथा वक्त पडने पर एक दूसरे की सहायता के लिये कटिवद्ध हो जाते हैं।

कवि ने गगा और यमुना का उदाहरण देते हुए भी सगठन का महत्व वताया है। कहा है—जहाँ इनमे से एक पवित्र नदी वहती है वह स्थान तीर्थ कहलाता है, किन्तु जिस स्थान पर ये दोनो अथवा और भी कोई नदी सगठित होकर वहती है, अर्थात् जिस स्थान पर इनका सगम होता है, वह तीर्थराज कहलाने लगता है। प्रयाग को लोग इसीलिये तीर्थराज के नाम से पुकारते हैं कि वहा तीन महान और पवित्र नदियो का सगम हुआ है।

मेरे कहने का आशय यही है कि आज के युग मे सगठन की वडी आवश्यकता है। सगठन का सदेश लेकर ही मैं राजस्थान मे आया हू। आप जानते ही हैं कि नागपुर, सुजालपुर आदि के श्री सघो का मुझे उन क्षेत्रो का स्पर्शने के लिये कितना आग्रह था ? किन्तु जव इधर कोटा, वूदी, चावडिया, खुशालपुरा, व्यावर, अजमेर, केकडी आदि के श्री सघो ने सगठित होकर कहा—'एक चातुर्मास राजस्थान में होना चाहिये इससे श्रमण-सगठन मे प्रगति होगी।' तो मुझे स्वीकार करना पडा तथा प्रवतक प० मुनि श्री मरुधर

केसरी जी आदि सतो के आग्रह को मान्यता देकर यहाँ खुशालपुरा में चातुर्मास करना पडा।

किन्तु आशा ही नही, मुझे विश्वास है कि मेरा इधर आना निरर्थक नही जायेगा तथा मेरी अपील जैन समाज के गौरव की अभिवृद्धि मे सहायक वनेगी।

कवि ने अपनी कविता मे आगे और भी वडी मनोरजक वात कही है—

संगठन के सग-ठन जाती है जिस इन्सान की,
उसका कर देता है दुनिया से किनारा संगठन ॥
इन्द्रियो का संगठन रखता है जैसे जिस्म को,
त्यो ही रक्खेगा हमें प्यारा हमारा संगठन ॥

अर्थात्—जिस व्यक्ति की सगठन से ठन जाती है, यानी जो सगठन का विरोधी हो जाता है, वह अपनी जाति, समाज और देश मे रहता हुआ भी उनसे तिरस्कृत और उपेक्षित वना रहता है। उसका कोई सहायक, स्नेही और हितचिंतक नही होता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अर्थात् सगठित व्यक्तियो के समूह का एक सदस्य है। किन्तु अगर वह इसके विपरीत स्वार्थी, अहकारी और अन्य प्राणियो का द्वेषी वनकर अपना स्वतन्त्र और अलग अस्तित्व कायम करना चाहता है, तो उसमे सफल नही हो सकता। दुनिया उससे किनारा कर लेती है, और उसका जीवन, जीवन नही रह जाता। वह केवल जिन्दगी का भार ढोने वाला प्राणी मात्र ही वनकर रह जाता है। इसलिये आज प्रत्येक व्यक्ति को समाज मे संगठित होकर रहने की आवश्यकता है।

मानव अपने शरीर की व्यवस्था से भी सगठन का महत्व समझ सकता है। शरीर मे पाच इन्द्रियाँ हैं। सभी के कार्य अलग अलग हैं। कान सुनने का काम करते हैं, आँखें देखने का, नाक सूघने का, जिह्वा बोलने और खाने का तथा स्पर्श इद्रिय वस्तु के हल्के, भारी, ठण्डे, गर्म और कोमल या कठोर होने का पता लगाती है। संगठित रूप से किये हुए इनके कार्यों से ही शरीर स्वस्थ, पुष्ट और कर्मरत रहता है। अगर इन पाँचो मे से एक भी इन्द्रिय अहकार वश अपने कार्य से मुँह मोड ले तो न तो वह स्वय ही स्वस्थ रह सकती है और न शरीर ही स्वस्थ रह सकता है।

इसी प्रकार अगर एक भी व्यक्ति समाज-द्रोही वन जाय और सगठन के महत्व को न मानते हुए अपना स्वतत्र व्यक्तित्व कायम करने की कोशिश

करे तो वह न तो स्वय ही सुखी हो सकता है और न समाज ही स्वस्थ रह सकता है। व्यक्ति और समाज दोनो को ही इससे हानि पहुचती है। लाभ किसी को नही होता।

मेरे कहने का अर्थ यही है कि सगठन की आवश्यकता प्रत्येक स्थान पर है। समाज शरीर और आत्मा, सभी को सगठन की अपेक्षा रहती है। यद्यपि आत्मा ससार के समस्त पदार्थों से भिन्न है, किन्तु उसके अपने निजी गुण तो उसमे सगठित रूप से रहने आवश्यक हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र उसके निजी गुण हैं। इनके विखर जाने से अथवा विमुख हो जाते ही वह ससार मे भटकती रहती है। पुन पुन जन्म और मरण के कष्टो को भोगती हैं। अगर हम इसका भटकना वन्द करना चाहते हैं तो हमे इसे इसके निजी गुणो के साथ जोडना पडेगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जव सगठित रूप से हमारी आत्मा के साथ होगे तभी हमारा उद्धार और कल्याण सभव होगा।

इसलिये बधुओ! यह कभी मत भूलो कि हमारी दुर्लभ मानव देह, उच्चकुल और उच्चजाति की शोभा सगठित होकर रहने मे ही है। हमारी सगठित शक्ति ही ससार के सामने आदर्श वन सकती है तथा जैन-समाज को गौरवान्वित कर सकती है। विखरी हुई शक्तियाँ कभी भी अपने गौरव की अभिवृद्धि नही कर सकती, उसे अक्षुण्ण नही रख सकती।

उदाहरण स्वरूप, एक करोडपति व्यक्ति है और वीस व्यक्तियो का उसका सयुक्त परिवार है। परिवार का एक लडका भी अगर कही वाहर जाता है तो लोग उसे करोडपति कहकर सम्मान से पुकारते है। यद्यपि उस घर के एक करोड के धन मे उसका वास्तविक भाग केवल पाँच लाख रुपया ही है, किन्तु सगठित परिवार का सदस्य होने के कारण वह करोडपति होने का गौरव प्राप्त करता है।

पर जव उसी परिवार के सदस्य आपसी मन मुटाव के कारण अपना-अपना हिस्सा पाँच-पाँच लाख रुपये का लेकर अलग हो जाते हैं, तो क्या उनमे से एक भी व्यक्ति करोडपति होने का गौरव प्राप्त करता है? कोई भी करोडपति कहलाता है? कभी नही! सभी केवल लखपति कहलाते हैं। अब बँटवारा करने से क्या लाभ हुआ? किसी को भी नही, सभी करोडपति से लखपति रह गये। कितने आश्चर्य की वात है कि सगठित परिवार मे उतने ही पैसे के अधिकारी होने से करोडपति कहलाते थे और उतना ही पैसा लेकर अलग हो जाने से लखपति रह गए। यह करिश्मा है केवल सगठन और विघटन का। जो कि एक भावना मात्र है। सगठन की भावना

रखने के लिये किसी को एक पैसा भी खर्च नही करना पडता और विघटन हो जाने पर किसी प्रकार की वचत नही होती।

तो मैं वता यह रहा था कि महाराजा चेडा ने अपने दौहित्र वहलकुमार को राजा कोणिक के अन्याय का शिकार न वनने देने के लिये अठारह देशो के राजाओ को सगठित कर सग्राम की तैयारी की।

आपके हृदय मे यहाँ शका उठेगी कि चेडा महाराजा जव वारह व्रतधारी श्रावक थे तो उन्होने सग्राम करने का निश्चय क्यो किया ? इसका उत्तर यही है—श्रावक का एक नियम होता है कि 'मैं जानवूझ कर किसी को नही मारूँगा, निरपराधी को नही सताऊँगा।'

इससे स्पष्ट है कि अन्याय का प्रतिकार श्रावक कर सकता है तथा अत्याचार के शिकार प्राणी की सहायता भी कर सकता है। कोणिक ने वहलकुमार के हिस्से मे आई हुई केवल दो वस्तुओ को भी उसके पास नही रहने देना चाहा और उन्हे छीनने का प्रयास किया। अत वह अन्यायी और गुनहगार सावित हुआ। अन्यायी का मुकावला करना प्रत्येक प्राणी का फर्ज होता है। चेडा महाराज का भी था। और इसीलिये वह युद्ध के लिये तैयार हुआ। किन्तु रणक्षेत्र मे भी उसने घोपणा कर दी—"मैं अपनी ओर से वाण अथवा अन्य हथियार नही चलाऊँगा। पर अगर विरोधी दल की ओर से आक्रमण हुआ तो उसका प्रतिकार अवश्य करूँगा।"

आखिर कोणिक और चेडा मे घोर सग्राम हुआ। दोनो पक्षो की कितनी क्षति हुई यह एक पद्य मे वताया गया है—

हार हाथी था वहल कने सरे, कुणिक करी अभिलाख।
दोय दिवस में नर मुआ सरे, एक क्रोड़ असो लाख॥
महाभारत आगे हुआ सरे, छे सुत्तर नी साख रे,
मूरख लख जारे कनक ने कामण, जग में मोटी फासरे॥

—शास्त्र मे वर्णित है कि वहल के पास जो हार और हाथी था, कोणिक ने उन्हें प्राप्त करने की इच्छा की। परिणाम स्वरूप घोर सग्राम हुआ और केवल दो दिन के अन्दर ही एक करोड तथा अस्सी लाख मनुष्यो का प्राण-नाश हुआ। इसलिये हे भोले प्राणी! तू भली भाति समझ ले कि इस जगत मे कनक और कामिनी, दोनो ही कलह के मूल कारण हैं।

हमारा इतिहास वताता है कि जव-जव भी महायुद्ध हुए है, दोनो विरोधी पक्षो के लाखो और करोडो व्यक्तियो का वलिदान हुआ है। पराजित

होने वाले पक्ष का सर्वनाश तो उन युद्धो मे होता ही है, किन्तु जीतने वाले पक्ष की विजय भी असख्य प्राणियो की लाशो पर खडी होती है। सम्पूर्ण प्रसन्नता तो केवल महाकाल या मृत्यु को ही प्राप्त होती है। एक कहावत भी है—

'War is death is feast'

—सग्राम मौत के लिये दिये गए भोज के समान है।

(वस्तुत सग्राम समाज, देश और जाति के लिये घातक है। इससे प्राप्त हुई जय भी असख्य नर-वलि चढ जाने के कारण दूषित और अपवित्र मानी है।) सक्षेप मे इससे हासिल कुछ नही होता केवल हानि ही प्राप्त होती है।

कोणिक ने महा-सग्राम का कारण वन कर पापो का असह्य भार तो अपनी आत्मा पर लादा ही, साथ ही हार और हाथी भी प्राप्त नही कर सका जिसके लिये उसने घोर विनाश किया। हार देव-प्रदत्त, दूसरे शब्दो मे देवनामी था अत उसे देवता ले गये और हाथी के लिए षड्यन्त्र करके ऐसा रास्ता वनाया जिसके नीचे भयकर अग्नि प्रज्ज्वलित थी। ज्यो ही हाथी उस पर से गुजरा उसे वस्तुस्थिति मालूम हो गई। यद्यपि वह अपने आपको उस भयानक आग मे गिरने से नही वचा सका पर अपने स्वामी को दूर फेंक कर स्वामी-भक्ति का अनुपम उदाहरण उपस्थित करने मे समर्थ हो गया।

हार गया और हाथी भी। इस राज्य के खड्डे को भरने का प्रयत्न करने मे कोणिक के पल्ले क्या पडा? कुछ भी नही। इसीलिये कहा जाता है कि राज्य का खड्डा भरने मे वडे-वडे राजा, महाराजा और चक्रवर्ती असफल हो गए, पर यह कभी भर नही सका और न ही आज भी इसके भरे जाने की सभावना है। फिर इसके कारण नाना प्रकार के पापो का उपार्जन करके अपनी आत्मा को वोझिल वनाने से क्या लाभ?

महापुरुष वही है जो सत्ता और अधिकार पाकर भी अपने आपको केवल एक कर्तव्य-परायण मानव समझे। सच्चा सम्राट वही है, जो स्वय को प्रजा का स्वामी नही वरन सेवक माने तथा राज्य-कोप को अपना कोष न समझकर राज्य के अभावग्रस्त, गरीव और दुखी व्यक्तियो का समझे।

निजी कार्य मे सरकारी तेल कैसे जलाया जाय?

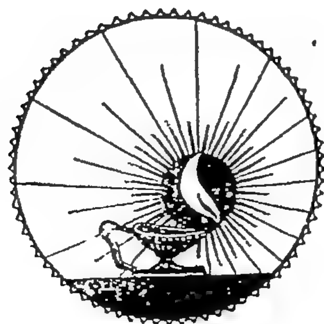
कहते हैं कि एक वार खलीफा हजरत अली राजकीय कागजात देख रहे थे, उसी समय राज्य के कुछ प्रमुख सरदार उनके किसी निजी कार्य के लिये परामर्श करने आए।

सरदारो को आया हुआ देखकर हजरत अली ने उस चिराग को बुझा दिया जिसकी रोशनी मे वे काम कर रहे थे,और दूसरा चिराग जला लिया। पर जब सरदारो से उनकी बातचीत समाप्त हो गई तो उन्होने बाद मे जलाये हुए चिराग को बुझा दिया और पहले वाले दीपक को जलाकर अपने कार्य मे लग गए।

सरदारो ने खलीफा का यह कार्य देखा तो चकित हो गए तथा अपना कुतूहल न दवा सकने के कारण हजरत से इसका कारण पूछ बैठे। खलीफा मुस्कराते हुए बोले—"जब आप लोग आए थे, मैं राज्य का कार्य कर रहा था। पर अपनी निजी बातो मे राजकीय तेल कैसे जलाया जा सकता है ? इसीलिये मैंने सरकारी दीपक बुझाकर अपना दीपक जला लिया था।"

हजरत अली की बात सुनकर सरदार अपनी कारगुजारियो का स्मरण कर अत्यत शर्मिन्दा हुए और वहाँ से चले गए।

खलीफा हजरत अली जैसे व्यक्ति ही सच्चे राजा और सच्चे सत्ताधिकारी वन सकते हैं तथा लोभ, लालच और तृष्णा से परे रहकर अपनी आत्मा का कल्याण करने मे समर्थ हो सकते हैं। राज्य के खड्डे को अथाह समुद्र समझकर दृढव्रती भीष्म जैसे नरपुगव ही उसे क्षण मात्र मे त्यागकर अपनी निस्पृहता का अनुपम उदाहरण ससार के समक्ष रख सकते हैं तथा कर्तव्य-रत रहकर आत्मोन्नति के मार्ग पर अपने सशक्त कदम वढा सकते हैं।





३

पेट के लिए कितने पाप ?

धर्म प्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

कल मैंने एक प्रकार के पद्य मे आठ प्रकार के खड्डे बताए थे, जिनमे से पहला था राज्य का खड्डा। उस पर कल कुछ विवेचन भी कर दिया था। आज हम दूसरा खड्डा जो कि पेट का कहा गया है, उस पर विचार करेंगे।

पेट का खड्डा भी राज्य के समान ही सदा अपूर्ण रहने वाला अर्थात् कभी भी न भरने वाला होता है। सभी जानते हैं, इसे सुवह खुराक दो पर शाम को खाली और शाम को खुराक दो तो भी सुवह खाली मिलता है। पेट की आग मे कितने भी उत्तमोत्तम और गरिष्ठ पदार्थ क्यो न डाले जाय, सब भस्म होते चले जाते हैं। इसीलिये कहा जाता है—

आगि बढवागि ते बड़ी है आग पेट की

—पेट की आग वडवाग्नि से भी तीव्र होती है।

पेट की आग बुझाने के लिये····

इस पेट की अग्नि को शात करने के लिये मनुष्य न जाने कितने पापड़ बेलता है। रात-दिन श्रम करता है, पुण्य-पाप का खयाल किये विना अनेका-

नेक अनैतिक कार्य करने पर उतारू हो जाता है और अपना देश छोडकर परदेश मे मारा-मारा फिरता है। यह सब किसलिये ? केवल पेट के इस गढे को भरने के लिये। पेट भरने के लिये ही वह पैसा कमाना चाहता है, अर्थात् लक्ष्मी का आह्वान करता है। किन्तु नाना प्रकार के प्रयत्न करने पर भी उस पर लक्ष्मी की कृपा नही होती और क्वचित् हो जाती है तो वह स्थिर नही रहती। यह सब देखकर शतावधानी श्री रतनचन्द्र जी म० अपने एक श्लोक मे लक्ष्मी की भर्त्सना करते हैं। कहते हैं—

हे मात कमले धनी तव सदा वृद्ध्यै करोति श्रम,
शीतादिव्यसनं प्रसह्य सततं त्वां पेटके न्यस्यति।
चोरेभ्य परिरक्षणाय लभते, निद्रासुखं नो क्वचित्,
ध्रौव्यं नो भजसे तथापि चपले त्वं निर्दया कीदृशी ?

इस श्लोक के रचयिता भारत-भूषण श्रीरतनचन्द्र जी म० हिन्दी, सस्कृत प्राकृत, गुजराती और अग्रेजी आदि सभी भाषाओ के महान् विद्वान थे। मेरा जो कुछ भी शिक्षण हुआ, उन्ही के मार्ग-दर्शन मे हुआ। उनका भव्य व्यक्तित्व, चेहरे का अनुपम तेज और नेत्रो की सौम्यता अनुपम और अवर्णनीय थी।

आपने 'भावना-शतक' नामक एक अमूल्य ग्रन्थ की रचना की। उसमे बारह भावनाओ मे से प्रत्येक पर आठ-आठ उत्तमोत्तम श्लोक रचे हैं। अभी मैंने जो श्लोक आपके समक्ष रखा है वह अनित्य भावना पर लिखा गया है और उसमे उन्होंने लक्ष्मी को मधुर उपालभ दिया है। कहा है—

हे माता कमले लक्ष्मी देवी ! तुम्हारे स्वामी धनाढ्य पुरुष तुम्हारी अभिवृद्धि के लिये रात-दिन परिश्रम करते हैं। केवल परिश्रम ही नही, असह्य शीत, ताप, भूख और प्यास तुम्हें प्राप्त करने के लिये सहते हैं।

चोरो के द्वारा तुम चुरा न ली जाओ इस भय से निद्रा के द्वारा प्राप्त होने वाले महान् सुख का भी त्याग कर देते हैं, अर्थात् जाग-जगाकर तुम्हारी पहरेदारी करते हैं। अधिक क्या कहे, तुम्हारे अलावा और किसी का भी स्मरण नहीं करते। तब भी हे चपले ! तुम कितनी हृदयहीन हो कि उनके पास स्थिर होकर नही रहती। आज यहा तो कल अन्यत्र दिखाई देती हो।

वस्तुत धन की प्राप्ति के लिये मनुष्य क्या नही करता ? मूढ के समान वह जीवन भर केवल उसे खाने के लिये प्रयत्न करता रहता है, यत्र-तत्र भटकता रहता है। धन के लोभ मे वह मानव जीवन के सही उद्देश्य को भी भूल जाता है कि इस अमूल्य पर्याय का लक्ष्य धन-प्राप्ति नही, आत्म-मुक्ति है। एक छोटी सी कथा से आप इस बात को समझ लेंगे।

घड़ियाल की अर्थपूर्ण मुस्कराहट

कहते हैं कि एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण किसी धनाढ्य सेठ के यहाँ भगवद्-गीता का पाठ करने के लिये जा रहा था। रास्ते मे उसे एक नदी मिली। वह कुछ विश्राम करने के लिये उसके किनारे पर बैठ गया। उसी समय एक घडियाल नदी से बाहर आया और उसने ब्राह्मण से उसकी यात्रा का उद्देश्य पूछा।

ब्राह्मण से यह जानकर कि वह गीता का पाठ करने जा रहा है, घडियाल ने कहा - 'महाराज ! आप पहले मुझे गीता सुनाया करिये, उसके बाद सेठ जी को।' यह कहते हुए घडियाल ने मोतियो का एक अनुपम हार ब्राह्मण देवता को भेंट किया।

हार देखकर ब्राह्मण की आखें फटी की फटी रह गईं। उसने उसी समय से घडियाल को गीता सुनाना प्रारम्भ कर दिया। यह क्रम कई दिन चला और फिर गीता का पाठ समाप्त हुआ। जिस दिन पाठ सम्पूर्ण हुआ, घडियाल ने मोतियो से आकठ भरा हुआ एक घडा ब्राह्मण को दक्षिणा मे दिया और कहा—

"पडित जी ! अगर आप मुझे ले चलकर त्रिवेणी मे छोड दें तो मैं ऐसे पाँच घडे आपको और दूँगा।"

ब्राह्मण ने घडियाल की बात सहर्ष स्वीकार कर ली और उसे ले जाकर त्रिवेणी मे छोड दिया। अपने वायदे के मुताबिक घडियाल ने मोतियो से भरे हुए पाँच घडे ब्राह्मण को दे दिये। किन्तु ब्राह्मण जब उन्हें लेकर खुश होता हुआ वापिस लौटने लगा तो उसे लगा कि घडियाल उसे देखकर व्यग से मुसकरा रहा है। कारण पूछने पर घडियाल ने कहा—

"आप अवन्तिका नगरी मे जाकर मनोहर धोबी के गधे से मिलिये। वह आपको मेरी मुस्कराहट का अर्थ बताएगा।"

ब्राह्मण अवन्तिका पहुचा और उस गधे से मिला। गधे ने कहा—"मैं पूर्व जन्म मे एक राजा का सेवक था। एक बार राजा त्रिवेणी स्नान के लिये गए, मैं भी साथ था। राजा त्रिवेणी के पवित्र दर्शन से इतने आनन्दित हुए कि उन्होंने अपना समस्त राज-पाट छोडकर अपनी बाकी जिन्दगी वही रहकर ईश्वर-भजन मे बिताने का निश्चय कर लिया।"

"सेवक होने पर भी महाराज का मुझपर बहुत स्नेह था अत वे अनुग्रह के साथ मुझसे बोले —'तुम भी वृद्ध हो रहे हो, अगर इच्छा हो तो यहीं मेरे

साथ रहकर आत्म-कल्याण करो। अन्यथा ये हजार स्वर्ण मुद्राएँ लेकर घर लौट जाओ।"

"मैं मूढ था, धन के लोभ मे आकर लौट आया। आज तुमने भी त्रिवेणी के किनारे से लौटकर यही गलती की है। वृद्धावस्था मे उस घडियाल जैसे क्षुद्र प्राणी ने तो आत्म-कल्याण का इतजाम कर लिया, लेकिन तुम मनुष्य और मनुष्यो मे श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर भी धन की तृष्णा मे अभी तक दर-दर भटक रहे हो! तुम्हारी यही मूर्खता देखकर घडियाल व्यग पूर्ण हँसी हँसा था।"

कितना सुन्दर और अर्थपूर्ण कथानक है! वास्तव मे ही मनुष्य इस कभी न भरने वाले पेट के गढे के वहाने अपनी धन की लालसा को कितना वढा लेता है? पेट की भूख मिटाने के लिये तो वह जितना भी धन प्राप्त करता है कम समझता है, किन्तु आत्मा की भूख का उसे खयाल ही नही आता। न ही उस भूख को मिटाने का कभी प्रयत्न ही करता है। लक्ष्मी का स्मरण उसे सदा रहता है, ईश्वर की याद नही आती। यही वात सत तुकाराम जी अपनी मराठी भाषा मे कहते हैं—

पोटा साठी खटपट करिशी अवघा बोल।
राम नाम घेता तुझी बसली दातखील॥

वडे-कडे शब्दो मे कहा है—'पोटा साठी, अर्थात् पेट के लिये तो तुम हरवक्त खटपट करते रहते हो। कभी लेक्चरवाजी, कभी लोगो को भुलावा देने वाली चटपटी वातें और कभी धनाढ्यो की अथवा अफसरो की खुशामदे करने मे भी नही चूकते। किन्तु जव ईश्वर-भजन करने का अथवा राम-नाम लेने का वक्त आता है तो मानो तुम्हारी जवान गूगी हो जाती है। अथवा दाँत एक दूसरे से चिपक जाते हैं।

कितने आश्चर्य की वात है? पैसा कमाने का प्रयत्न तो मनुष्य जीवन भर करता ही है। एक कहावत के अनुसार—'दर्जी का वेटा जव तक जियेगा तव तक सियेगा।'

इसमे वडी वात क्या है? व्यापारी का वेटा जीवन पर्यन्त व्यापार करेगा। किन्तु तमाम वक्त व्यापार मे न लगाकर थोडा सा समय धर्म-कार्य मे भी लगाए तो उसके व्यापार मे क्या घाटा आ जाएगा? पुण्योपार्जन करना क्या कमाई नही है? असली कमाई तो वही है। जड-द्रव्य कमाया हुआ तो यही पडा रह जाएगा किन्तु पुण्य-कर्म कमा लिये जाएँगे तो वे अगले

जन्मो मे भी साथ रहेगे। पर ऐसा हो सके तभी न ! तुकाराम जी ने आगे कहा है –

द्रव्या चिया आशा तुजला दाही दिशा न पुरती।
कीर्तनाशीं जाता तुझी जड झाली माती ॥

इस धन की अभिलापा लिये हुए तो तुम दसो दिशाओ मे जाने के लिये बावले रहते हो, यहाँ तक कि दस दिशाए भी तुम्हारे लिये पूरी नही पडती किन्तु धर्माराघन रूपी एक दिशा मे जाना तुम्हारे लिये कठिन हो जाता है।

कवि ने कितनी स्पष्ट बात कही है ? यथार्थ मे ही आज हम देखते हैं, मानव अर्थ-प्राप्ति के लिये बिना किसी हिचकिचाहट के इधर से उधर किसी भी दशा मे चल देता है। विमान से उडकर ऊपर जाने मे नही चूकता और जैसी कि कोलार मे सोने की खान नीचे जमीन मे है, उसमे उतरने मे भी नही डरता। सारा डर, और हिचकिचाहट तो उसे धर्म की दिशा मे जाने से होती है। कीर्तन, प्रवचन, धर्म-श्रवण और सत-समागम की दिशा मे उससे नही जाया जाता।

उसे भय लगता है कि इन बातो मे अगर वक्त बर्बाद कर दिया तो व्यापार मे घाटा आ जाएगा। भोला प्राणी यह नही सोचता कि दूसरी ओर का उसे कितना नफा होगा जो उसके आगे भी काम आयेगा।

सत समागम दुर्लभ भाई !

मनुष्य भूल जाता है कि सत-समागम कितना महत्वपूर्ण है ? सन्मार्ग दिखाने वाले सत ससार मे विरले ही होते है। मनुष्य अगर उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर चले तो निश्चय ही अपने आत्म-स्वरूप का एक दिन साक्षात्कार कर सकता है। सतो की सगति से ही मूढ मानव का बौद्धिक विकास हो सकता है तथा उसके हृदय मे छाया हुआ अज्ञानान्धकार नष्ट होकर ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश फैल सकता है। सत्सगति से ही मनुष्य के हृदय की दुर्वृत्तिया लुप्त हो सकती हैं और सद्वृत्तिया जागृत होकर अपना शुभ प्रभाव दिखा सकती हैं। इसीलिये आज ससार को सर्वथा निर्लोभी, निर्मोही, निस्वार्थी और मार्गदर्शक सतो की आवश्यकता है। वे ही पथ-भ्रष्ट प्राणी को उद्बोधन दे सकते है। जैसा कि शेखसादी ने दिया है—

हमा बाहवाओ हवस साख़्ती।
दमी बाम सालेह न परवाख़्ती।

फारसी भाषा मे कहा गया है – हमा, अर्थात् तमाम। तमाम वक्त तो तुमने अपनी हवस पूरी करने मे बिताया, पर ईश-बदगी और उसके स्मरण मे एक श्वास भी बिताने को तैयार नही।

इस विषय मे पूछने पर लोग कहते है—'महाराज ! क्या करे ? हमारे पीछे दस जीव हैं। कमाने वाला अन्य कोई नही। हमे ही सब करना पडता है अत फुरसत नही मिलती। इस पापी पेट को तो भरना ही पडता है।"

पर बधुओ, ऐसा मत समझना कि सत आपकी ऐसी बातो से भुलावे मे आ जाएंगे। पापी पेट या पेट के खड्डे का आप कितनी भी तरह से हवाला क्यो न दे, वे आपकी तृष्णा की नस को पकडे विना नही रहेगे। वे जानते हैं कि पेट भरने के बहाने आप पेटिया भी भरना चाहते हैं। इसीलिये गुजराती कवि स्पष्ट कहते है—

वधारे तेमां शूं तारूं ?
धान तणा कोठार भरिया, सुख साधवा शारूं।
शेर एक नो तू अधिकारी, बाकी परमायुं॥
वधारे तेमा शू तारूं ?

कहा है—लोभ और लालच के वश मे होकर तू धन कितना भी क्यो न बढा ले, पर उसमे तेरा भाग कितना ? तू कहता है—पेट का यह गढा कभी नही भरता' पर उसे भरते जाने के पश्चात् भी तेरे यहाँ धान्य के अबार लगे हैं, कोठार भरे हैं ये किसके लिये ? तेरे पेट के लिए प्रतिदिन कितने अनाज की आवश्यकता है ? केवल आधा सेर या एक सेर ही तो। तेरे काम इतना ही आता है। बाकी तो सब औरो के लिये हैं। तो औरो के लिये इकट्ठा करने मे तेरा क्या लाभ है ? तू यह मत भूल कि कितने भी अन्न-भडार तू क्यो न भर ले और उन्हे अपना क्यो न समझे, पर तेरा उतना ही है जो तेरे काम मे आता है। बाकी सब दूसरो का है।

आगे कवि ने क्या कहा है –

सात मालना भुवन सधाता फरनीचर छे न्यारू।
सात वेंत मां साथरो तारो, बाकी परमायुं॥
वधारे तेमा शू तारूं ?

रहने के लिये सतखडा अर्थात् सात मजिला मकान बनवा लिया और नया-नया फरनीचर मगवाकर उसमे सजा दिया। तत्पश्चात् गर्वपूर्वक कहना प्रारम्भ किया—यह शानदार मकान मेरा है। पर मैं पूछता हू कि उस मकान मे तुम्हारी जगह कितनी है ? केवल सात वेंत ही तो ! उतनी ही तुम्हारे उपयोग मे आती है अत तुम्हारी कहला सकती है। मेरे कहने का मतलब यह नही है कि तुम मकान मत बनवाओ, पर उसे बनवाकर फूलो मत ! मेरा-मेरा कहकर अपनी तृष्णा को प्रोत्साहन मत दो। तृष्णा का कही अन्त नही है। कितना भी धन, जमीन और जायदाद तुम क्यो न इकट्ठी कर लो

अन्त मे सब यही रह जाने वाली है। सारी तृष्णा और समस्त आकाक्षाएं मनुष्य के अन्तिम काल मे तिरोहित हो जाती हैं। भारतवर्ष का अतिम सम्राट बहादुरशाह जफर अपने अन्तिम समय मे केवल यही सोचता है—

कितना है बदनसीब जफ़र दफ़न के लिये,
दो गज जमीन भी न मिली कू ए-यार मे .।

सासारिक सम्पदा का यही हाल है। भारत का शाहशाह, उसके पास क्या नही था ? पर वह उसका नही था इसलिये सब कुछ उससे छिन गया और अत मे तो उसकी एक छोटी सी तमन्ना भी पूरी नही हुई कि उसे केवल दो गज जमीन अपनी जन्म-भूमि मे दफन होने के लिये मिल जाय। उसे दो गज जमीन के लिये भी अन्तिम समय मे तरसना पडा।

इसीलिये कवि कहता है—सुन्दर फरनीचर से युक्त सात मजिला मकान तू बनवाता है, पर उसमे तेरा स्थान कितना है ? केवल सात वेंत ! उससे अधिक तू कितना भी क्यो न बढा ले तेरा नही है। आगे कहा है—

माता पिता सुत भगिनी सघला, कोई नहीं तारूं।
दयाधर्म सो साथे आवे, बाकी परमायुं ॥
वधारे तेमा शूं तारूं ?

मानव अपने माता, पिता,भाई, बहन और पत्नी आदि के मोह मे ग्रस्त होकर उन्हे सुख पहुचाने के उद्देश्य से नाना प्रकार के पाप-कर्म करता है, अर्थात् उनकी सुख-सुविधा के लिये अनीतिपूर्वक पैसा कमाता है। किन्तु उससे क्या उसकी आत्मा को कुछ लाभ होता है ? नही, उलटे वह पापो का असह्य बोझ लादे हुए अनन्तकाल तक ससार मे भटकती रहती है। उस समय कोई भी सम्बन्धी उसका साथ नही देता क्योकि—

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन, यह सभी जीते जी के साथी हैं। मरने पर इनमे से कोई भी साथ नही चलता।

ऐसा क्यो होता है ? क्योकि आत्मा की इन सबसे एकरूपता नही है। और तो और, जिस शरीर मे वह निवास करती है वह भी उससे भिन्न है तथा आत्मा के प्रयाण करते ही अलग हो जाता है, यही रह जाता है।

एक सुन्दर श्लोक मे यही बात और भी स्पष्ट रूप से समझाई गई है। बताया है—

> यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धम्,
> तस्यास्ति किं पुत्र - कलत्र - मित्रै ।
> पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपा,
> कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

जिसकी अपने शरीर के साथ भी एकरूपता नही है, उसकी पुत्र, पत्नी, मित्र तथा अन्य सम्बन्धियो के साथ एकरूपता कैसे हो सकती है ? शरीर ही जब आत्मा से पृथक् है तो उसके सम्बन्धी या परिवार तो पृथक होगें ही।

इस देह पर आच्छादित चर्म को अगर अलग कर दिया जाय तो फिर इसमे रहने वाले रोम कूप क्या शरीर मे रह सकेंगे ? नही, चमडी के हट जाने पर जिस प्रकार रोम शरीर पर नही रह सकते, इसी प्रकार जब शरीर ही आत्मा के साथ नही रहता तो इससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थ कैसे इसके साथ रह सकते हैं।

कवि के कथन का आशय यही है कि भले ही परिवार मे सौ व्यक्ति हो, और मनुष्य जीवन भर उनके लिए खटता रहे। अपने समस्त सुखो का त्याग करके उनकी उदर पूर्ति और सुख-सुविधा के साधन जुटाता रहे। पर जिस दिन वह रुग्ण होकर खाट पर पडेगा, कोई उसके कष्ट का बँटवारा नही करेगा और इस लोक से कूच करते वक्त साथ मे नही चलेगा। उलटे श्वास रुकते ही सगे सम्बन्धी घर से बाहर ले जाकर फूँक देने का प्रयत्न करेंगे और कही भूत न बन जाय इस डर से नाना प्रकार के अनुष्ठान करवा लेंगे। ससार के नाते रिश्ते कैसे हैं ? इस विषय मे कवि श्री अमीऋषि जी म० ने भी कहा है—

> मात तात त्रिया सुत, भ्रात मित्र न्याती सबे,
> देखत ही जात पे न, होत को सहाई हैं।
> सदा ही कमायो ताको, खायो से भुलायो देखो,
> छति ही लगाते नेक लाज हू न आई है।
> एक छिन जाके बिन नेक, ना सुहातो ताको,
> हाथ सों जराय छार वार मे बहाई है।
> कहे अमीरिख सुविचार के निहार जग,
> देह की सगाई नहीं श्वास की सगाई है।

कवि का कथन यथार्थ है। सभी सम्बन्धी स्वार्थ के सगे होते हैं। दूसरे शब्दो मे सब सुख के साथी है, दुख के कोई नही।

आप ही पी लीजिये !

एक युवक नित्य प्रति किसी सत के पास आया करता था तथा उनका उपदेश सुनता था। एक दिन महात्मा ने उसे समझाया – "ससार मे परमात्मा के अलावा और कोई भी किसी का नही है अत अपने परिवार का पालन-पोषण कर्तव्य समझकर करो, उसमे मोह और आसक्ति मत रखो।"

युवक बहुत ही सरल था, उसने सत से कहा—

"गुरुदेव ! मेरे माता-पिता का तो मुझ से असीम अनुराग है। अगर वे मुझे एक दिन भी न देख पाए तो खाना-पीना सब छोड देते हैं। और मेरी पत्नी तो मेरे बिना जीवित ही नही रह सकती।"

महात्माजी युवक की बात सुनकर मुस्काये और उन्होने युवक को एक ऐसी तरकीब बताई जिससे वह स्वय ही अपने कुटुम्बियो की परीक्षा कर सके। युवक ने उसी दिन वह युक्ति आजमाने का विचार किया और घर जाकर प्राणवायु मस्तक मे चढाकर निश्चेष्ट होकर पड गया।

घर वालो ने जब उसे चेतना रहित पाया तो मृतक समझकर रोने-पीटने लगे। पास-पडौस के अनेक व्यक्ति भी वहा इकट्ठे हो गये।

ठीक इसी समय महात्माजी वहाँ आये और बोले—"एक प्याला गगाजल लाओ ! मैं इसे जीवित कर देता हू।"

घर के लोग मारे खुशी के पागल हो गये और दौडकर गगाजल ले आये। जल का प्याला महात्माजी ने हाथ मे लिया, कुछ मन्त्र पढकर उसमे फूक लगाई और उसके बाद उसे युवक के ऊपर घुमाकर बोले—

"अब इस प्याले का जल तुममे से कोई भी पीलो ! पीने वाला मर जायगा किन्तु युवक जीवित हो जायेगा।"

आँखो के सामने ही जैसे भूत दिखाई दे गया हो समस्त पडौसी और युवक के मित्र-दोस्त धीरे-धीरे वहा से खिसक गये। केवल परिवार के व्यक्ति वहा बचे। पर उनमे से भी कोई जल पीने को तैयार नही हुआ। मरे कौन ? सब की आँखो के आगे अधेरा आने लगा और सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। धीरे-धीरे माता-पिता और युवक की स्त्री जो पति के बिना मर जाने का दम भरती थी, एक-एक करके नाना प्रकार के बहाने बनाने लगे। कोई भी मरने को तैयार नही हुआ युवक सब समझ रहा था।

आखिर महात्माजी बोले—"आप लोगो मे से कोई भी मरने को तैयार नही है तो यह जल पीकर मैं ही अपना प्राणान्त करू, और इस युवक को जीवित कर दूँ ?"

सुनते ही माता-पिता सभी को राहत की सास आई और उनकी आँखे चमकने लगी। गद्गद् होकर सब एक स्वर से बोल उठे—"आप धन्य हैं महात्माजी ! परोपकारी जो ठहरे। आप ही यह कृपा करें। महापुरुषो के लिये तो जीवन-मरण समान है। हम आपकी इस दया को जीवन पर्यंत नही भूलेंगे।"

निश्चेष्ट पडा हुआ युवक सबकी परीक्षा ले चुका था। उसने प्राणायाम समाप्त कर दिया और उठकर बोला—

"रहने दीजिये भगवन् ! यह जल आपको पीने की कोई आवश्यकता नही है, आपने मुझे आज सचमुच ही प्रवुद्ध जीवन दिया है।"

मेरे बधुओ ! यथार्थ मे ही ससार के नाते इसी प्रकार के होते हैं। कोई किसी का नही होता, किसी के साथ नही जाता। साथ चलता है केवल अपना पाप और पुण्य। इसलिये दान, शील और तप का आराधन करना चाहिए। धर्ममय जीवन को केवल अपने और अपने सगे कहलाने वाले व्यक्तियो की उदर-पूर्ति के साधन जुटाने मे ही समाप्त नही कर देना चाहिये। पेट के खड्डे का हवाला दे-देकर इसके बहाने, आवश्यकता से भी अनेक गुना धन और सम्पदा इकट्ठी करने मे ही यह अमूल्य अवसर खो नही देना चाहिये।

साथ ही यह भी नही सोचना चाहिये कि जब तक हाथ-पैरो मे शक्ति है, दिमाग सब काम करता है तब तक धन कमाकर रखलूँ उसके पश्चात वृद्धावस्था मे आराम से बैठा-बैठा धर्म-ध्यान करूँगा क्योकि वृद्धवस्था आयेगी ही, यही क्या निश्चित है ? मौत तो बाल, वृद्ध और युवा, किसी मे भी फर्क नही देखती, किसी भी क्षण आकर दबोच सकती है। एक फारसी कवि ने कहा है—

> ऊमरे दुन्या चन्द रोजा बेशनेस्त।
> गाफल आंकस कि पेश अन्देश नेस्त ॥

इस ससार मे मनुष्य की आयु अल्पकाल की है। वह प्राणी अत्यन्त गाफिल है जो अपने शेष जीवन को सुधारने की चिन्ता नही करता।

भविष्य को देखो

भूतकाल मे निरर्थक गया हुआ समय तो लौटता नही है किन्तु भविष्य

को बनाना प्रत्येक व्यक्ति के हाथ की बात है। अगर वह मनुष्य-भव के महत्व को और जीवन की अस्थिरता को समझ ले तो अपने एक-एक क्षण का सदुपयोग कर सकता है। धर्म-ध्यान करने के लिये वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करना तो मानव की मूढता है। इसीलिये सन्त पुरुष बार-बार कहते हैं—

जो लौं यह देह तेरी वृद्ध नाहीं होय तो लौं,
तप जप उद्यम सुक्रिया उर धरि ले।
जो लौं नाना भाति रोग ग्रसे ना शरीर तेरो,
तो लौं जिनराज यश भाव से उच्चरि ले।
जो लौं पंच इन्द्रिय सुबल नहीं क्षीण होय,
तो लो नर सुकृत-रतन खेप भरि ले।
कहे अमीरिख जो लौं काल रिपु घेरे नाहीं,
तो लौं तूं धरम की कमाई खूब करि ले॥

कितनी सुन्दर और आत्मोपयोगी शिक्षा है ? इसमे यह नही कहा गया है जब तक तेरी युवावस्था है, तू खूब धन कमा और ससार के सुखो को भोग ले !' उलटे यह सीख दी है कि 'जब तक तेरे शरीर मे शक्ति है, नाना भाति के रोगो ने देह को नही ग्रसा है, पाचो इन्द्रिया क्षीण नही हुई हैं और काल ने नही घेरा है, तब तक तू भगवान का स्मरण और जप तपादि शुभ क्रियाए कर ले तथा धर्माराधन के द्वारा पुण्य-कर्म रूपी रत्नो की खेप भर ले।

जो व्यक्ति ऐसी कल्याणकारी शिक्षा को हृदय मे धारण कर लेता है, वह कभी भी मरण को विस्मृत नही करता और जीवन के एक-एक पल का समुचित लाभ उठाता है।

शाति का रहस्य

एक बार सत एकनाथ के पास एक व्यक्ति आया और बोला—"भगवन् ! आपका जीवन कितना शात और चिन्ता रहित है। हम तो सदा कषायो से ग्रस्त, अशात और चिंतित ही बने रहते हैं कृपया कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मैं भी आपके समान निश्चित और शात जीवन बिता सकू।"

एकनाथ ने कहा—"वह उपाय तो मैं फिर बताऊँगा। आज तो इतना बता देता हू कि आज से आठवें दिन तेरी मृत्यु हो जायेगी।"

यह सुनते ही व्यक्ति बहुत घबराया और महात्माजी को नमस्कार करके भागता हुआ अपने घर आ गया। घर पर कुछ देर तक तो वह विचार मग्न

वना रहा, फिर जल्दी से अपने पडौसियो के यहा गया। उनमे से जिसके साथ भी उसकी दुश्मनी या द्वेष भाव था क्षमा मागी तथा वैर भाव मिटाकर स्नेह-सवध कायम किया। ऐसा ही उसने गाँव के अन्य व्यक्तियो के साथ किया जिन-जिन से भी वह समय समय पर लड झगड चुका था।

घर पर आकर उसने अपनी पत्नी से भी कहा—"मैंने कई वार तुम्हें कडवे वचन कहे हैं, मारा-पीटा भी है और छल करने से भी नही चूका। पर आज तुमसे अपने समस्त अपराधो के लिए क्षमा-याचना करता हूं। मुझे माफ कर देना।"

इस प्रकार सव से क्षमा माग लेने के पश्चात् उसे लगा कि मेरे दिल का वडा भारी वोझ कम हो गया है। अव उसने वडी शाति से परमात्मा का स्मरण और जो कुछ भी शुभ क्रियाए कर सकता था, करना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार आठ दिन वीतने आये और उसे मृत्यु अपने सामने नाचती हुई दिखाई देने लगी।

ठीक आठवें दिन सन्त एकनाथजी उसे घर पर आते हुए दिखाई दिए। दौडकर वह उनके सामने पहुचा और पूछा—"क्या मेरा अतिम दिन आ गया ?"

सत ने कहा—पहले यह वता कि तेरे ये आठ दिन कैसे गुजरे ?

व्यक्ति ने उत्तर दिया—"क्या वताऊँ भगवन्! मुझे तो आँखो के सामने सदा मौत दिखाई देती थी अत मैंने पहले तो उन सारे व्यक्तियो से क्षमा माँगी, जिन-जिनसे भी मेरा लडाई-झगडा या वैर-भाव था। उससे मेरा हृदय वहुत हलका महसूस हुआ। उसके वाद मैंने ईश-चिंतन और जो कुछ भी उत्तम कार्य किया जा सकता था, करना शुरू किया। और अव ये आठ दिन समाप्त होने आ गए हैं अत मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हू।"

व्यक्ति की वातो को सुनकर सत मुस्कराये और वोले—"आज मैं तुझे अपने उस दिन के प्रश्न का उत्तर देता हू। देख! आठ दिन तक जिस मृत्यु का स्मरण करते हुये तूने अपने जीवन को उत्तम ढग से विताया अगर उसी मृत्यु का प्रतिदिन और प्रतिपल स्मरण करते हुये मनुष्य अपना जीवन अधिक से अधिक पवित्र और उन्नत वनाए तो उसके जीवन मे अशाति, चिंता और काम-क्रोधादि कषायो का प्रवेश नही हो सकता।"

"हमारे निश्चिन्त और शात जीवन का रहस्य केवल मरण के स्मरण मे ही छिपा हुआ है। मरण का स्मरण रखने वाला व्यक्ति प्रतिपल यही सोचता है कि जव एक दिन इस शरीर को नष्ट होना ही है तो क्यों हम

इसके पीछे नाना प्रकार के पापो का उपार्जन करें ? बल्कि जब तक जीना है, क्यो न सब की सेवा करें, सबसे स्नेह-भाव रखें तथा शान्ति से परमात्मा का स्मरण करते हुए यथा-शक्य धर्माराधन करें।"

सत एकनाथजी की वात सुनकर व्यक्ति हर्षित होता हुआ वोला—"मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया भगवन् ! आज मैं शान्ति और निश्चितता के रहस्य को भली-भाति समझ गया।"

वन्धुओ, आप लोग भी निश्चित जीवन के रहस्य को भली-भाति समझ गए होंगे। यह सही है कि आप गृहस्थ हैं, आपके लिये कर्तव्यो की शृ खला बनी हुई है किन्तु परिवार के पालन-पोषण और अपने सुखोपयोग के साधन जुटा लेने से ही आपके कर्तव्यो की इतिश्री नही हो जाती। आपने वडी कठिनाई से यह मानव-पर्याय प्राप्त की है तथा ससार के अन्य समस्त प्राणियो की अपेक्षा वहुत अधिक वौद्धिक-ज्ञान और विवेक पाया है। इससे लाभ उठाना भी आपका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

आप कहते हैं—"इस पेट के लिये हमे नाना-प्रकार के पापड वेलने पडते हैं, यह पापी पेट रूपी खड्डा कभी भी नही भरता।"

किन्तु पेट की यह समस्या इतनी भयावनी नही है, जितनी आप इसे वताते हैं। भयावनी है आपकी तृष्णा, जो पेट भरने के वहाने वढती ही जाती है। तथा आप कितनी भी धन-सपदा क्यो न इकट्ठी करलें यह शान्त नही होती।

पेट की भूख यद्यपि कभी मिटती नही है पर इसकी प्रतिदिन की खुराक जुटाकर भी आप इतना समय अवश्य वचा सकते हैं जिसमे आत्मा की भूख मिटाने के साधन भी जुटा लें। महात्मा कवीर ने वडे सरल शब्दो मे इसी वात को कहा—

कबिरा क्षुधा है कूकरी, करत भजन में भंग।
या को टुकडा डारिके, सुमिरन करो निसग॥

अर्थात्—पेट की भूख मात्र एक कुतिया के समान है, जिसे रोटी का एक टुकडा पाकर ही सतोष हो जाता है। अत इस क्षुधा-रूपी कूकरी को भी थोडा सा अन्न देकर सतुष्ट करदो और निश्शक होकर ईश-चिन्तन व धर्माधन करो।

अन्यथा तो पेट के इस खड्डे को भरने के वहाने नाना प्रकार के पापड वेलते-वेलते ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाएगा और अन्त समय मे घोर

पश्चात्ताप के अलावा कुछ भी हाथ नही आएगा । जो व्यक्ति अपने सुर-दुर्लभ जीवन को इस प्रकार व्यर्थ खो देता है उसकी अतिम समय मे क्या स्थिति होनी है यह एक पद्य में बताया है—

सो मरन्त दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताय ।
कालहि, करमहि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय ।।

अपनी लापरवाही से जीवन को व्यर्थ गँवा देने वाला व्यक्ति अंत मे सिर धुनता हुआ पाश्चात्ताप करता है, तथा कभी काल को, कभी अपने कर्मों को और कभी ईश्वर को मिथ्या दोप देता है ।

किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने विवेक को जागृत रखते हुए धर्म-मार्ग पर चलते हैं उन्हें पूर्ण विश्वास होता है—

सब सहल हो नजा की अजीयत ।
ईमान गर रहे मेरा सलामत ।।

—यदि मेरा धर्म बना रहे तो अन्तकाल मे मुझे कोई कष्ट न होगा, कष्ट से बचाने का सामर्थ्य केवल धर्म मे ही है क्योकि धर्म के अलावा अन्य कोई भी वस्तु आत्मा के साथ परलोक मे नही जाती ।

खेद की बात है कि आज मानव धर्म को ससार की सब वस्तुओ से गई बीती वस्तु समझता है । एक नई पाई भी उसकी गिर जाएगी तो उसे उठाने का प्रयत्न करेगा और व्यापार मे थोडा सा नुकसान हो जाने पर चिन्ता के सागर मे डूब जाएगा किन्तु जीवन मे से धर्म के लोप हो जाने की उसे परवाह नही रहती तथा उसे पुन धारण करने की इच्छा उसके हृदय मे नही जागती ।

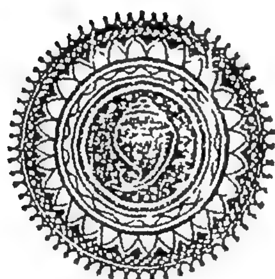
पर सभी व्यक्ति ऐसे नही होते । वे महा-मानव, जो धर्म के माहात्म्य को समझ लेते हैं, उसे अपने प्राणो से भी अधिक मूल्यवान समझते हैं तथा कहते हैं—

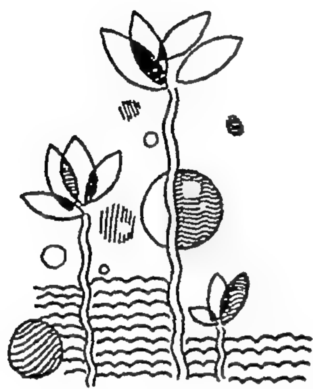
चारु धर्म को सदा प्राण सों अधिक विचारो,
प्राण तजन सों अधिक डरो जब धर्म न धारो ।
भारी विपदा परेहु भूलि मत घबराओ,
नहीं धर्म सों तबहुँ रंच विश्वास हटाओ ।

वास्तव मे ही, धर्म पर दृढ विश्वास रखने वाला व्यक्ति कभी सत्पथ से विचलित नही होता तथा मरणातक कष्ट आ पडने पर भी घबराता नही ।

पेट की भूख मिटाने की समस्या उसके लिये गौण होती है, वह अपना सम्पूर्ण प्रयत्न आत्मा की भूख मिटाने के लिये करता है। वह भली-भाति जानता है कि आत्मा की भूख अगर मिट जाएगी तो न पेट ही रहेगा और न पेट की भूख ही।

प्रत्येक मुमुक्षु को यही विचार कर आत्मा की भूख मिटाते हुए शाश्वत सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। तभी उसका मानव-जन्म पाना सार्थक कहला सकेगा।





४

मृत्यु को ध्यान में रखो !

धर्म प्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

पर्यु पण-पर्व के अन्दर 'श्री अन्तगड सूत्र' पढा जाता है और आप सब इसे श्रवण करते हैं। इसी तरह प्रासगिक 'कल्पसूत्र' भी आपको सुनने के लिये मिलता है।

शास्त्र श्रवण किसलिये ?

शास्त्र पढ कर और सुनकर ही मनुष्य धर्म को समझ सकता है, धर्म की महिमा को जान सकता है तथा उसमे वर्णित महापुरुपो की महानता का अनुभव कर सकता है। साधारण मानवो के समान ही शरीर और पांच इन्द्रिया होने पर भी वे महापुरुप क्यो कहलाए ? अन्य प्राणियो के समान ही इस ससार मे रहते हुए भी वे ससार-मुक्त कैसे हुए यह हमे शास्त्र-श्रवण से ही मालूम होता है। महापुरुपो के गुण, उनकी विशेपताएँ, उनके कर्तव्य-पालन की शक्ति और नाना-प्रकार के भयावह कष्टो को सहन करने की क्षमता की जानकारी हम उनकी जीवन-कथा पढकर ही जान सकते हैं।

महापुरुपो का त्याग और सयम हमारे लिये आदर्श का काम करता है।

राजा कर्ण की दानवीरता, हरिश्चन्द्र की सत्यता, रामचन्द्र की दृढता, राजा श्रेणिक की धर्म-प्रियता आदि महान् गुण हमे गुणवान बनने की प्रेरणा देते हैं। इसलिये हमे महापुरुषो के जीवन-चरित्र अवश्य ही पढना और सुनना चाहिये। महापुरुषों की जीवनियाँ ही मानव को महान् बना सकती हैं। एक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य कवि ने कहा भी है :—

Lines of great men all remindus.

We can make our lives sublime.

—लॉंगफेलो

—महापुरुषो की जीवनियाँ हमे याद दिलाती हैं कि हम भी अपना जीवन महान् बना सकते हैं।

वस्तुत मनुष्य को महान् बनाने वाली महापुरुषो की जीवनिया ही होती हैं। जो व्यक्ति उनको पढने और सुनने मे दिलचस्पी नही रखता, वह निश्चय ही अपने जीवन को अधकार मे रखता है। एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने सत्य कहा है —

"प्राचीन महापुरुषो के जीवन से अपरिचित रहना, जीवन भर निरतर बाल्यावस्था मे ही रहना है।"

—प्लूटार्क

शैशवावस्था मे बालक जैसा अज्ञानी और नासमझ होता है, वैसा ही अज्ञान मनुष्य के मन और मस्तिक मे जीवन भर छाया रहता है। अगर वह कभी भी महापुरुषों के जीवन-चरित्र को नही पढ़ता। महापुरुषो के गुणो का चिन्तन करना, उनसे प्रेरणा लेना तथा उनके त्याग और सयम को अपना आदर्श समझते हुए उनके बताए हुए मार्ग पर चलने के लिये कटिबद्ध होना ही ज्ञान की बाल्यावस्था को पार कर उसकी युवावस्था मे प्रवेश करना है।

आपने अभी 'अन्तगड सूत्र' मे महापुरुषो के विषय मे कुछ सुना। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, ये सभी जब आत्म-साधना को अपना लक्ष्य बनाते हैं, उसमे अपना वक्त बिताते हैं, वही वक्त वास्तव मे सार्थक कहलाता है। वह जिन्दगी ही जिन्दगी कहलाती है जो सेवा करते हुए, दान देते हुए, तथा तप करते हुए बीतती है, और जो त्याग, सयम और धर्ममय होती है।

तो 'अन्तगड सूत्र' मे हमे अपनी जिन्दगी को सार्थक बनाने के लिये

[illegible]

ही यह देखना है कि उन नर-पुगवो ने किस प्रकार अपने कर्मों का अन्त किया ? किस प्रकार सदा-सर्वदा के लिये मृत्यु पर विजय प्राप्त की ? जो मरण जीव को जन्म-जन्म मे कष्ट पहुचाता है,उस महान् मृत्यु रूप शक्ति का किस प्रकार मुकाबला किया ?

मौत का अथाह खड्डा

हमारे प्रतिदिन के विचार-विमर्प मे आठ खड्डो का वर्णन चल रहा है। इन आठ खड्डो मे से राज्य के तथा पेट के खड्डे के विषय मे सक्षिप्त रूप से बताया जा चुका है। आज तीसरा खड्डा जो कि मौत का खड्डा है, इसके विषय मे कुछ कहना है।

अभी आप महापुरुषो के विषय मे सुन रहे थे कि उन्होंने किस प्रकार मृत्यु को सदा के लिये जीत लिया। अर्थात् मौत के इस कभी न भरने वाले खड्डे की पुन पुन पूर्ति का साधन बनने से अपने आपको बचा लिया। वास्तव मे ही महा-मानवो की जीवनियाँ पढने का सार यही है कि मनुष्य स्वयं को मृत्यु की वडवाग्नि मे आहुति बनने से रोक सके। और यह तभी हो सकता है जबकि कर्मों का समस्त भार नष्ट कर हलका बने और आत्मा को मौत से अनेक गुनी ऊँची उठा सके।

अन्यथा तो ससार मे भटकने वाली आत्माएँ भले ही अनन्त काल तक भी जन्म ले लेकर मरती रहेंगी तब भी मृत्यु का यह गड्ढा कभी भरेगा नही। कभी भी यह अपनी पूर्ति का इजहार नही करेगा। हम जानते ही हैं कि भूतकाल मे कितने मनुष्य, कितने पशु, कितने पक्षी और कितने अन्य जीव मरे हैं, वर्तमान मे मरते जा रहे हैं तथा भविष्य मे भी यह क्रम चालू रहने वाला है। पर क्या मृत्यु के अथाह गढे मे स्थान की कमी हुई ? नही, यह तो वैसा का वैसा खाली है और भविष्य मे भी रहेगा।

मरणसमं नत्थि भयं

शास्त्र का कथन है—इस ससार मे मृत्यु के समान अन्य कोई भी दूसरा भय का कारण नही है। प्राणी कितना भी निर्धन, असाध्य रोगी और भयानक कष्ट मे क्यो न हो, वह मरना कबूल नही करता। नाली मे रहने वाला कीडा भी मरना नही चाहता, मृत्यु के भय से इधर-उधर छिपता रहता है। किन्तु फिर भी प्रत्येक प्राणी मरता अवश्य है। चाहे व्यक्ति स्वय डॉक्टर है, वैद्य है, हकीम है, राजा एव साधु या साध्वी है, उसे मरना जरूर है। मौत के आक्रमण से बच जाने की शक्ति किसी मे भी नही है। ससार मे

कोई ताकत ऐसी नही है जो काल का ग्रास होते हुए प्राणी को बचा ले। सस्कृत से एक श्लोक मे कहा गया है—

दुर्गेऽरण्ये हरिणशिशुषु क्रीडया बंभ्रमत्सु।
तत्रैकस्मिन् मृगपति मुखातिथ्यमासे प्रकामम्॥
धावंत्यन्ये दिशि विशि यथा स्वस्वरक्षा धुरीणाः।
कालेनैव नरिकवलिते कोऽप्यल रक्षितुं नो॥

एक भयानक अरण्य मे हरिण का छोटा सा बच्चा अपनी क्रीडा मे निमग्न इधर से उधर उछलता कूदता फिर रहा है। ठीक उसी समय एक सिंह उधर आ निकलता है। हरिण-शिशु को देखते ही मृगराज झपटकर उसे अपने मुँह मे दबोच लेता है। जिस वनराज की दहाड से ही पशु पक्षियो का तो क्या, अत्यत चतुर और शक्तिशाली मनुष्यो का कलेजा भी काप जाता है, उसके पजे से क्या उस हरिण-शिशु को कोई बचा सकता है? नही, टोली के अन्य हरिण तथा समस्त वन्य प्राणी अपनी अपनी रक्षा के लिये जिस-जिस दिशा मे भी भाग पाते हैं, भाग जाते हैं। इस भय से कि कहीं हम भी वनराज के आक्रमण का शिकार न बन जायें। उस समय कोई भी प्राणी हरिण को बचाने मे समर्थ नही होता।

इसी प्रकार जब काल झपटकर आता है और मनुष्य को अपने चगुल मे ले लेता है, तब कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा करने मे समर्थ नही होता। माता-पिता पत्नी पुत्र तथा अन्य सगे सम्बन्धी, सब देखते रह जाते है और यमराज उसे लेकर चल देते हैं। काल की क्रूर दृष्टि से कोई भी नही बच पाता। चाहे जीव कही भी जाकर क्यो न छिप जाय कहा भी है :—

अम्बर मे पाताल लोक में या समुद्र गहरे में,
इन्द्रभवन मे, शैल गुफा मे, सेना के पहरे मे।
वज्र विनिर्मित गढ मे या अन्यत्र कहीं छिप जाना,
पर भाई! यम के फन्दे मे अन्त पड़ेगा आना।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

कहा है—भाई! तू कही भी जाकर क्यो न छिप जाय, आखिर तो यमराज के फन्दे मे आना ही पडेगा।

इसीलिये ससार के सत-महापुरुष बार-बार कहते हैं मृत्यु को जीतो! ऐसी उत्कृष्ट करनी करो कि आत्मा जन्म लेने के लिये ही इस ससार मे न आये। मरता वही है जो जन्म लेता है। जन्म लेना ही समस्त दुखो का मूल कारण है। एक श्लोक मे कहा गया है—

जरा मरण दौर्गत्य व्याधयस्तावदासताम् ।
मन्ये जन्मैव धीरस्य भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥

इस ससार मे जरा, मरण, तथा नाना प्रकार की भयकर व्याधियाँ रूप दुर्गतियो का मूल कारण जन्म ही है। जन्म ही जीव को सव प्रकार के कष्टो मे डालने वाला है। जन्म लिया तो वृद्धावस्था आई, जन्म लिया तो रोगो ने घेरा डाला जन्म लिया तो निर्धनता का दुख भोगा और जन्म लिया तो मरण की समस्या सामने आई। सभी का मूल कारण जन्म लेना है। अगर जन्म न हो तो मरण भी न हो जो जन्मेगा ही नही तो मरेगा कैसे ? मरण तो जन्म लेने के वाद की वात है।

इसलिये वधुओ, हमे यह प्रयत्न करना है कि इग ससार मे पुन जन्म न लेना पडे। पर यह केवल चाहने मात्र से तो होगा नही। इसके लिये अथक प्रयत्न भी करना पडेगा। जीवन के इस अल्प-काल मे मन पर पूर्ण सयम रखते हुए आत्म-साधना करनी होगी।

मराठी भापा मे मन को उद्‌वोधन देते हुए कहा गया है—

न को न को मना गुंतु मायाजालीं।
काल आला जवली ग्रासावया ॥१॥

अर्थात्—"हे मन ! तू मोहमाया मे लिप्त मत हो, इसमे फसा रह कर समय व्यर्थ मत गँवा। देख ! एक एक घडी और एक-एक मिनिट करते हुए काल तुझे ग्रसने के लिये नजदीक आता जा रहा है। अत सावधान होकर आत्म-साधना की ओर वढ।"

पूर्णतया प्रस्तुत हूं

जो विवेकी और ज्ञानी पुरुप अपने जीवन को सयम और तपस्या से उज्ज्वल वनाए रखते हैं, कभी पापाचरण मे लिप्त नही होते तथा एक-एक क्षण का सदुपयोग करते हैं, वे मृत्यु का स्वागत उसी प्रकार करते हैं जैसे एक शूरवीर राजा अपने दुश्मन के आक्रमण का समाचार सुनकर तत्काल अपनी सेना सहित मुकावला करने के लिये तैयार हो जाता है। वीर रस उसके हृदय मे हिलोरें लेने लगता है, उत्साह और उमग से वांहे फडकने लगती हैं और वक्ष-फूल जाता है।

इसी प्रकार सयमी सावक काल रूप शत्रु के आगमन का अनुभव करते ही अपने ज्ञान, दर्शन,चारित्र और तप रूप योद्धाओ को तैयार कर लेता है तथा अपनी सेना सहित हँसता हुआ कहता है—"कालराज ! आगे वढो, तुमसे मुकावला करने के लिये मैं पूर्णतया प्रस्तुत हू।"

निर्भयता शूरवीरो का प्रथम गुण है। निष्पाप जीवन व्यतीत करने वाले धीर व्यक्ति निर्भय होकर कहते हैं—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
मरने ही ते पाइये, पूरण परमानन्द॥

ऐसे महापुरुष मृत्यु की भयकरता को जीत लेते हैं। उनके लिये जीवन और मरण समान होता है। न उन्हे जीवित रहने की आकाक्षा रहती है, न मरने की चिन्ता। अत्यन्त सयत और शात भाव से वह मौत का आलिंगन करने के लिये तैयार हो जाता है। मृत्यु की सन्निकटता जानकर वह अविलम्ब अपने समस्त आतरिक और वाह्य परिग्रह से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है, यहा तक कि अपनी देह के ममत्व का भी पूर्णतया परित्याग कर देता है। पूर्णतया हलका होकर वह आत्मा के अजर, अमर और अविनाशी स्वरूप का चिन्तन करता है। तथा काल का एक मित्र के समान उत्साह और स्नेह से स्वागत करता है। सम्भवत मैंने आपको एक दिन वताया था—

दोस्त ! तुझे पहचानता हूँ

मुहम्मद सैयद एक महान सत थे। उनके हृदय मे सभी जातियो और सभी धर्मों के प्रति समान भाव था। प्राणी मात्र को वे आत्मवत् मानते थे।

उनके इन विचारो के कारण सम्राट औरगजेव उनसे वहुत नाराज़ रहता था। एक वार मौका पाकर उसने सैयद साहव को पकडवा लिया। औरगजेव के रग मे रगे हुए धर्मांध मुल्लाओ ने भी उन्हे धर्म-द्रोही घोषित कर दिया और सूली की सजा सुना दी।

सैयद साहव यह सुनकर हर्ष-विभोर हो गए और खुशी के मारे उछल पडे। सूली पर चढते हुए वे वोले—"अहा, आज का दिन मेरे लिये वडी खुशी का है। मैं वडा सौभाग्यशाली हू। जो शरीर मुझे अपने आराध्य से मिलने मे वाधक था, आज इस सूली की वदौलत छूट जायगा। मेरे दोस्त ! आज तू सूली के रूप मे आया है। पर तू किसी भी रूप मे क्यो न आए मैं तुझे वखूवी जानता हू।"

काल को दोस्त मानने वाले भव्य-पुरुष ही मृत्यु को मगलमय और अपने अन्तिम समय को एक महोत्सव के रूप मे परिणत कर सकते हैं। वे अपने आप को उद्वोधन देते हुए कहते हैं—

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भज्यमाने त भेतव्य, यतस्त्वं ज्ञानविग्रह॥

हे आत्मन ! तू तो ज्ञान रूपी दिव्य देह का स्वामी है, फिर इन सैंकडो कीटाणुओ से भरे हुए, जर्जर शरीर रूपी पिंजरे के नष्ट होने पर किस बात का भय करता है ? इसके नष्ट हो जाने पर भी तेरा ज्ञान-रूपी शरीर तो अक्षय रहने वाला है। एक क्या अनेक काल भी उसका कुछ नही बिगाड सकते।'

जीवन की महान भूल

बधुओ, काल की दृष्टि इस शरीर पर सदा जमी रहती है। सरल शब्दो मे कहा जाय तो समय के बहाने यह प्राणी को धीरे-धीरे अपनी ओर खीचता रहता है। शायद इसीलिये कहा जाता है—प्रात काल आया, मध्याह्न काल और सायकाल आने वाले हैं। समय के साथ काल का जोडना ही उसकी निगरानी या झपट्टे लगाने का सूचक है। सक्षेप मे काल ही समय के बहाने चक्कर लगाता रहता है। तथा प्राणी की देह को अशक्त और जर्जर बनाता हुआ अपनी ओर अग्रसर करता है।

ऐसी स्थिति मे कहा नही जा सकता कि कौन सी बारी मे वह आक्रमण कर देगा और किस क्षण इस जीवन का नामो निशान मिटाकर चल देगा। इसीलिये महापुरुष कहते हैं—'मृत्यु का वरण करने के लिए प्रतिपल तैयार रहो, अपने अमूल्य जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो तथा सासारिक कार्यों के समाप्त होने की, अथवा वृद्धावस्था की राह मत देखो। वृद्धावस्था आने पर सुकृत कर लेंगे तथा अन्य कार्यों को करने मे अशक्त हो जाने पर परिश्रम के बिना किया जा सकने वाला धर्म-ध्यान करेंगे, ऐसा सोचना जीवन की सबसे महान् भूल है। अगर ऐसा हो सकता होता तो भगवान महावीर अपने शिष्य गौतम को क्यो कहते ?—

'समयं गोयम मा पमायए।'

—गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भगवान का यह उद्बोधन हमारे लिये भी वही महत्व रखता है और हमें भी यही चेतावनी देता है कि क्षण मात्र के लिये भी प्रमाद में मत पडो और अपने समय का सदुपयोग करो। जल्दी या देर से, आगे या पीछे सभी को इस लोक से प्रयाण करना है अत उसकी तैयारी वक्त रहते कर लो।

एक कवि ने यही बात अपने एक भजन मे बडे मनोरंजक तरीके से बताई। कहा है—

उठो, उठो ! टुक अंखियां खोलो, नए शहर को जाना होगा । टेर।।
तन की गाड़ी बल का इंजिन, सासा घड़ी लगाना होगा,
पानी रुधिर आयु का कोयला, मन ड्राइवर बैठाना होगा ।
उठो-उठो ..!

कवि मानव को सजग करता हुआ कहता है—उठो, अब जागृत हो जाओ तथा आंखें खोलकर देखो कि वक्त कितना बीत चुका है ? तुम्हे मानव शरीर रूपी यह शहर मिला है पर यह तुम्हारा गतव्य नही है । अपनी यात्रा के दौरान तुम्हे इसे भी छोडना होगा और नये शहर की ओर बढना पडेगा । इसलिये सावधान होकर आगे बढ़ने की तैयारी करो तथा राह के लिये आवश्यक साधन जुटाओ ।

कोई नासमझ अगर प्रश्न करे कि यह किस प्रकार सम्भव होगा ? किस प्रकार आगे बढा जा सकेगा ? तो कवि का कहता है—'कैसे क्या ? यह शरीर तो है तुम्हारे पास । इसी को रेलगाडी मानकर आगे बढो । पर याद रखो कि जमीन पर चलने वाली रेलगाडी जिस प्रकार सशक्त भाव के बिना नही चल सकती, इसी प्रकार यह शरीर रूपी रेलगाडी भी अगले स्टेशन तक शक्ति के बिना नही चलेगी । अत अपने तन, मन और मस्तिष्क की शक्ति को बढाओ । जब तुम्हारा यह बल रूपी इजिन शक्तिशाली बन जाएगा तो गाडी यथा-विधि चल पडेगी । जब तक शक्ति है यह चलती रहेगी और उसके क्षीण होते ही रुक जाएगी, अत शीघ्रता करो तथा ताकत के रहते ही जितना बढ सको बढ जाओ ।'

प्रश्न उठ सकता है कि रेलगाडी मे तो रफ्तार और मार्ग जानने के लिये मीटर लगा रहता है पर इस शरीर की रेल मे कैसे पता चलेगा कि कितने समय मे कितनी दूर आए हैं ? इसका भी समाधान है—'शरीर में भी तो श्वासोच्छ्वास की घडी या मीटर लगा हुआ है । यह हमे भली-भाति समझा देता है कि इतनी सासो का एक पल, इतने पलो का एक घटा और इतने घटों का एक प्रहर होता है । इससे पता चल जाता है कि जिन्दगी कितनी आगे बढ गई है ।'

आगे आप कहेगे—'इसमे पानी और कोयला कहाँ है ? क्या इनके बिना ही गाडी चलेगी ?' वाह ! ऐसा भी हो सकता है क्या ? शरीर मे रहने वाला रक्त ही तो इसके लिये पानी है । जब तक यह विद्यमान रहेगा गाडी रुकेगी नही—'Blood is life' खून जिन्दगी है । यह खून रूपी पानी ही

आयु के कोयलो की सहायता से जिन्दगी को आगे बढाता है । आयु कोयलो के समान ही क्षण-क्षण, पल-पल करके जलती है और जल-जल कर समाप्त होती है । आयुष्य रूपी कोयला न रहने पर शरीर निश्चेष्ट पडा रह जाता है, गाडी रुक जाती है ।

अब सब तैयारी और जानकारी हो जाने के पश्चात् चालक की समस्या आती है । क्योकि पानी, कोयला, शक्ति और घडी इन समस्त वस्तुओ से लैस हो जाने पर भी यह चलेगी तो तभी, जब कि कोई इसे चलाएगा । कवि ने यह समस्या भी हल कर दी है । कहा है—शरीररूपी इस गाडी को चलाने के लिये मन को ड्राइवर बनाओ । वही इसका सबसे बडा चालक है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो यह बात कितनी महत्वपूर्ण है ? बेचारा शरीर मन के द्वारा ही चलाया जाता है । वचन भी मन की प्रेरणा से कार्य करता है । सक्षेप मे दोनो ही मन के अनुगामी हैं । अत स्पष्ट है कि वचनयोग और काययोग का अपने आप मे कोई मूल्य नही है, मूल्य तो मनोयोग का है । अगर मन सध जाए तो वचन और तन भी सध गए समझो । भगवान का स्पष्ट कथन है—

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते ।
य सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ।।

मनोयोग इतना बलशाली है कि वह आधे क्षण मे सातवें नरक मे और आधे क्षण मे मोक्ष मे भी आत्मा को पहुचा देता है ।

इसलिये कहा जाता है कि मन को वश मे करो । यह सही है कि जीवन को उच्च, सात्विक और सयम मय बनाने के लिये इन्द्रियो को वश मे करना आवश्यक है, किन्तु इन्द्रियो का स्वामी मन ही है । जब तक इसे वश मे नही किया जाएगा, इन्द्रियो को वश मे करने का प्रयत्न व्यर्थ साबित होगा । हमारे शास्त्र कहते हैं—

एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताण सव्वसत्तू जिणामहं ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—एक मन को जीत लेने पर पाच इन्द्रियो को जीत लिया जाता है और पाँच जीत लेने पर दसो (एक मन, पाँच इन्द्रिया और चार कषाय) जीत लिये जाते हैं । तथा इन दस को जिसने जीत लिया हो, समझना चाहिये कि उसने समस्त आत्मिक शत्रुओ को जीत लिया है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि इस शरीर रूपी रेलगाडी का ड्राइवर मन है। यह चाहे तो इस गाडी को सुपथ पर ले जा सकता है और चाहे तो कुपथ गामी वना सकता है। फर्क यह है कि शरीर रूपी गाडी अगर सत्पथ पर चलती रही अर्थात् मानव अपना जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र मय बिताता रहा तथा दान, शील एव तपादि शुभ क्रियाओ के साथ गुजारता रहा तो उसे अपने अन्तिम समय में मृत्यु से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नही रहेगी। वह उसके लिये वैसी ही सावित होगी जैसे—

वासासि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।

—भगवद्गीता

जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्रो का त्याग कर दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने और जीर्ण शरीर का त्याग करके नवीन शरीर को प्राप्त करता है।

यह तो मव करामात मन की ही है। अगर मन कुशल ड्राइवर नहीं है तो वह जीव को अपने अन्तिम समय मे रोने-कलपने और हाय-हाय करने के लिये वाध्य कर देता है तथा कुशल चालक है तो प्राणी मृत्यु की भयकरता को जीतकर हसते हसते नवीन चोला वदलने चल देता है।

कवि ने आगे कहा है —

नाड़ी तार खबर देने को दसों द्वार फैलाना होगा।
उत्तम, मध्यम, अधम, फर्स्ट सेकेंड थर्ड सजाना होगा।
उठो-उठो. ।

कहते है—रेलगाडी जिन पटरियो पर से गुजरती है उसके साथ-साथ लोहे के वडे वडे खभो के सहारे से तार एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक ले जाए जाते हैं, जिनका कार्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर सदेश पहुचाना होता है। इसी प्रकार हमारे सम्पूर्ण शरीर मे जो नाडियो का जाल विछा हुआ है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वात को ग्रहण करता हुआ यथास्थान पहुचाता है।

अगली वात है श्रेणियो की। हम देखते हैं—रेलगाडियो के डिब्बो पर फर्स्ट, सैकिण्ड और थर्ड लिखा हुआ होता है। फर्स्ट क्लास के डिब्बो में उत्तम

वर्ग के व्यक्ति बैठते है, सैकिंड क्लास के डिब्बो मे उनसे कम दर्जे के और थर्डक्लास मे बाकी सभी बैठा करते हैं।

श्रेणियो मे अन्तर

हमारे शरीर की रेलगाडी भी तीन श्रेणियाँ रखती है। उत्तम, मध्यम और अधम। दर्जे वही है केवल नामो की भाषा मे फर्क है। फर्स्ट, सैकिंड और थर्ड अग्रेजी मे कहा जाता है तथा उत्तम, मध्यम, व निम्न, हिन्दी भाषा मे। किन्तु मुसाफिरो की स्थिति मे बडा अन्तर है। लोहे की पटरियो पर चलने वाली गाडी की प्रथम श्रेणी मे जहाँ जड द्रव्य अर्थात् रुपये-पैसे की अधिकता रखने वाले धनवान व्यक्ति बैठते हैं वहाँ इस शरीर-गाडी की प्रथम श्रेणी का मुसाफिर धन का त्याग करने वाला तथा रुपये-पैसे को मिट्टी के समान समझकर ठोकर मार देने वाला त्यागी, महात्मा और साधु-पुरुष होता है।

सोना धूल ही तो है!

भक्त राँका और बाँका की कथा आपने सुनी ही होगी। दोनो पति-पत्नी महान् त्यागी, सतोषी और ईश्वर के सच्चे भक्त थे। प्रतिदिन दोनो साथ-साथ जगल मे जाते और सूखी लकडियाँ लाकर बेच देते। उससे जो आमदनी होती उसी से अपनी गुजर करते थे।

कहा जाता है कि सिद्ध भक्त सत नामदेव जी को राँका की निर्धनता देखकर तथा वृद्धावस्था मे पति पत्नी को इतना कष्ट उठाते हुए देखकर बडा दुख हुआ। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि राँका को कुछ धन मिले। नामदेवजी को इसका उत्तर मिला—"राँका को धन की तनिक भी चाह नही है, अगर तुम्हे इसका प्रमाण देखना हैं तो कल प्रातःकाल जगल के रास्ते पर छिप कर देखना।"

अगले दिन जब दपति लकडी काटने के लिये जगल की ओर जा रहे थे, तो रास्ते मे राँका ने देखा कि एक मुहरो से भरी हुई थैली पडी है। पत्नी बाँका उनसे कुछ पीछे थी। उस ओर एक नजर डालकर राका जल्दी-जल्दी हाथो से रेत उठाकर उस थैली पर डालने लगे।

इतने मे ही बाँका वहाँ आ गई और पति को सड़क पर कुछ करते हुए देखकर पूछ बैठी—"यहाँ क्या कर रहे हैं आप ?

राँका ने पहले तो बताने से इन्कार किया, पर पत्नी का आग्रह देखकर

वोले—"स्वर्ण मुद्राओ से भरी हुई एक थैली यहाँ पर पडी थी, उसी पर धूल डाल रहा था कि उसे देखकर कही तुम्हारा मन लालच मे न पड जाय।"

वाँका खिल खिलाकर हँस पडी और वोली—"सोने मे और धूल मे अन्तर ही क्या है ? जो आप उस थैली को ढक रहे हैं। धूल पर धूल डाली तो क्या और न डाली तो क्या ?

भक्त राँका पत्नी को स्वय से भी एक कदम आगे पाकर अत्यन्त हर्षित हुए और हाथ की धूल फेंककर आगे वढ गए। सत नामदेव छिपे हुए यह सव देख रहे थे। वे राँका और वाँका की त्यागवृत्ति तथा वैराग्य भावना देखकर अपने आपको वहुत तुच्छ मानने लगे।

आप समझ गए होंगे बधुओ ! कि राँका और वाँका जैसे निर्लोभी और सासारिक भोग-विलासो को ठोकर मारकर सयम ग्रहण करने वाले साधु-साध्वी ही शरीर-रूपी रेलगाडी के प्रथम दर्जे के मुसाफिर माने जाते हैं। और ऐसे मुसाफिर अपनी मजिल अवश्य प्राप्त करते हैं।

द्वितीय श्रेणी श्रावक धर्म के अन्तर्गत आती है। जीवन को सयमित और इच्छाओ को एक सीमा मे वाँधकर सासारिक और पारमार्थिक कर्तव्यो को पूरा करने वाले श्रावक-श्राविकाए इस दर्जे के यात्री कहलाते हैं। यह दर्जा अधम नही है, और सर्वोत्कृष्ट भी नही, मध्यम है।

अव वची तीसरी श्रेणी या निम्न दर्जा। इसमे तो वाकी सवका नवर है ही। वे भी अपनी रेल गाडी मे वैठकर आगे वढते अवश्य हैं, किन्तु उनका ड्राइवर 'मन' अपने गतव्य की सही जानकारी नही रखता, तथा गाडी चलाने मे अकुशल होने के कारण भटक जाता है। अत इस श्रेणी के व्यक्ति नही जान पाते कि वे किधर जा रहे हैं। इस हालत मे उनकी स्थिति वडी दयनीय और भविष्य अधकारमय होता है। सत-महात्माओ का वार-वार दिया गया उपदेश उनपर असर नही करता। यहा तक कि स्वय ईश्वर भी अगर उन्हें उद्‌वोधन देने आए, तो वे कन्नी काट जाने का प्रयत्न करते हैं।

> कहते हैं कि एक वार मजनू को किसी ने इत्तिला दी—
> अल्लाहमियाँ आपसे मिलने आये हैं।"
> जानते हैं कि मजनूँ ने क्या उत्तर दिया ? उसने कहा—
> "उनसे कह दो कि वे लैला वनकर आना चाहे तो मिल सकते हैं, अन्यथा मुझे वक्त नही है।"

यह हाल होता है निम्न श्रेणी के मुसाफिरो का। अल्पकाल में ही जिन पदार्थों और प्राणियो से निश्चय ही वियोग होने वाला है, उनके प्रति भी वे

मोह और ममता मे इतने ग्रस्त होते हैं कि परलोक और परमात्मा के विषय मे क्षण-मात्र के लिये भी विचार करने का समय नहीं निकालते।

भजन मे अगला पद्य है :—

योनि अनेक सोई स्टेशन हैं, वेटिंग रूम बनाना होगा।
पाप पुण्य का माल लदाकर, बिल्टी साथ कटाना होगा॥
उठो-उठो'…।

प्रश्नकर्ता कहते हैं—रेलगाडी मे यात्रा करने पर रास्ते मे स्टेशन होना भी तो जरूरी है। अन्यथा चढेंगे उतरेंगे कैसे ? उत्तर है—योनि अनेक सोई स्टेशन है। अर्थात् चौरासी लाख योनियाँ जो हैं, वे ही स्टेशन कहलाते हैं। एक योनि से निकल कर दूसरी मे और दूसरी से तीसरी मे जाना क्या स्टेशन नही हैं ? मनुष्य जिस प्रकार किसी स्टेशन पर एक गाडी मे से उतर कर दूसरी मे बैठता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक योनि को त्याग कर दूसरी योनि ग्रहण करती है। योनि का बदलना ही शरीर रूपी रेलगाडी का बदलना है।

कवि ने अगली बात कही है —

"पाप पुण्य का माल लादकर
बिल्टी साथ कटाना होगा।"

यह भी नितान्त आवश्यक और यथार्थ बात है। हम देखते ही हैं कि मुसाफिर यात्रा करते समय सोने के लिए विस्तर, पहनने के लिए वस्त्र, खाने के लिये भोजन-पदार्थ और टिकिट बनवाने के लिए जेब मे पैसा लेकर चलते हैं। यह सब वे, एक घंटे दो घन्टे या दो दिन और चार दिन की यात्रा मे भी साथ रखते हैं, फिर जीवात्मा को तो एक दो जन्मो की ही, अपितु अनेक जन्मो की यात्रा करनी है। और इस महायात्रा मे अगर वह कुछ भी साथ न रखे तो कैसे काम चलेगा ?

अब समस्या यह है कि जन्म-जन्मान्तरो की इस सुदीर्घ यात्रा मे सामान किस प्रकार का साथ रखा जाना चाहिए ? पेटी, विस्तर, धन, पैसा आदि जड पदार्थ तो इस यात्रा मे साथ रह नही सकते, साथ रह सकता है तो केवल पाप और पुण्य। इन दोनो का ही हृदय से सबध है, किन्तु दोनो मे जमीन आसमान का अन्तर है।

अनिष्टकारी पाप

जीवन मे पापो का जन्म होते देर नही लगती। पाप करने का यह अर्थ

नही है कि जब वह आचरण मे आ जाय तभी उसकी गिनती पाप मे हो। पाप तो जब हमारी दृष्टि मे या हमारे विचारो मे आ जाय तभी समझ लेना चाहिये कि वह हो गया। इसकी कल्पना प्रारम्भ मे तो मनोहारी पुष्पो के समान सुन्दर होती है, किन्तु अन्त मे नागपाश के समान दुःखदायी और अनिष्टकारी साबित होती है। जो मनुष्य एक बार इस पाप-रूपी नागपाश मे फस जाता है, उसमे लिपटता ही चला जाता है और उसी मे सुख का अनुभव करता है। अर्थात् एक पाप दूसरे पाप को जन्म देता है और पापो की शृ खला लम्बी होती जाती है। कहा भी है—

"खडीकृतोऽपि पापात्मा पापानैव निवर्तते।"

—सुक्ति-रत्नावली

—नाना प्रकार से फटकारने पर भी पापी पाप से विरक्त नही होता, उलटे ढीठ और लज्जाहीन हो जाता है।

किन्तु अपनी पाप-प्रवृत्ति के परिणामो से वह कब तक बच सकता है ? एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है—

"Our actions must follow us beyond the grave"

—कोल्टन्

—हमारे कर्म मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करेंगे।

वस्तुत पाप-कर्म कितने भी छिपकर किये जायें, वे अपने जन्म-दाता को पहचानते हुये उसके साथ अवश्य रहेंगे।

उदाहरण स्वरूप —

यथा धेनु सहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृत कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥

—वेदव्यास

—जैसे बछडा हजार गायो के बीच मे भी अपनी माता को ढूँढ लेता है, उसी प्रकार पूर्व मे किया हुआ कर्म भी कर्ता को पहचानकर उसका अनुसरण करता है।

कथन से स्पष्ट है कि अगर मनुष्य ने अपने जीवन मे पाप-कर्म किए तो वे उसका पीछा नही छोडेंगे और उसकी यात्रा मे साथ रहते हुए समय-समय पर अनिष्ट का कारण बनेंगे। मुसाफिरी मे साथ रहकर भी वे जीवात्मा को शुभ-गति की ओर नही जाने देंगे, कुगति की ओर अग्रसर करेंगे। जैसा कि कहा गया है —

"सावद्यतो नरकमेव भविष्यति ते।"

—अध्यात्म कल्पद्रुम

—हे आत्मा ! तेरी पाप-प्रवृत्ति से तो तुझे नरक की ही प्राप्ति होगी।

इसलिये बधुओ, हमे अपनी यात्रा मे पाप-रूपी धन साथ मे नही रखना है। यह धन हमारी आत्मा के लिये बोझ साबित होगा जो अपने असत्य भार के कारण आत्मा को ऊचाई की ओर ले जाने के बजाय निचाई अर्थात् दुर्गतियो की ओर ले जायगा। और इसके विपरीत अगर हम पुण्य-सचय करेंगे तो निश्चय ही हमारी यात्रा सफल हो सकेगी।

पुण्यप्रभावात् सुरलोकवासी

गरुडपुराण का यह कथन है कि पुण्य के प्रभाव से देव-लोक की, स्वर्ग की प्राप्ति होती है। हमारे शास्त्रो मे पुण्य के नौ भेद बताए गये हैं। अगर मानव अपने विवेक और ज्ञान के द्वारा अपना जीवन यापन करे तो महान् पुण्यो का सचय कर सकता है। जिस व्यक्ति का जीवन पवित्रता-पूर्ण,शातिमय स्नेह सिक्त और विचारो की उच्चता से भरा हुआ होगा वही अपनी जीवन यात्रा को सुनिश्चित गतव्य की ओर बढा सकेगा। मनुष्य-जन्म की सफलता उसके उन्नत विचारो पर ही निर्भर होती है। एक उर्दू-कवि ने कहा है—

गिरते हैं जब खयाल तो गिरता है आदमी।
जिसने इन्हें सभाललिया वो सभल गया।

कथन से स्पष्ट है कि विचारो का जीवन से बडा घनिष्ट सबध है। मनुष्य की प्रसन्नता और अप्रसन्नता का आधार भी उसके विचार ही हैं। दो व्यक्ति एक सी दरिद्र स्थिति मे होते हैं। किन्तु एक तो धन के अभाव मे अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करता हुआ बेईमानी, चोरी, डाके आदि अनैतिक कार्य और कभी-कभी तो हत्याएँ भी कर डालता है तथा अनन्त पाप-कर्मो का उपार्जन कर लेता है।

किन्तु दूसरा व्यक्ति वैसी ही दरिद्रता मे रहता हुआ भी अत्यन्त सुख शाति का अनुभव करता है। अभी मैंने भक्त राँका का उदाहरण आपको दिया था। उसके जैसे निर्लोभी प्राणी धनाभाव को दैवी वरदान मानते हैं। वे यह विचार करते हैं—अगर हमारे पास धन होता तो उसकी सुरक्षा और वृद्धि मे ही हमारी आत्म-साधना का वक्त बर्बाद हो जाता तथा चित्त मे आकुलता-व्याकुलता बनी रहती वह अलग। इस प्रकार वे दरिद्रता को आत्म-साधना का सहायक मानकर आनन्दित रहते हैं तथा त्याग-मय जीवन

विताकर महान पुण्यो का सचय कर लेते है। उनकी भावना तो यह रहती है—

कब दु ख दाता यह आरत तजू गो दूर,
　　कब धन धामते ही ममत मिटाऊ गो।
कब विष तुल्य जानी, त्यागू गो विषय राग,
　　कब मै कषाय जीती ज्ञान उर लाऊ गो ॥
कब हो प्रमाद मद छोरिके करू गो धर्म,
　　स्थिर परिणाम करी, भावना सो भाऊ गो।
कहे अमीरिख मनोरथ यो चितारे भवि,
　　धन्य वह दिन घड़ी सफल कहाऊ गो ॥

कितनी सुन्दर भावना है ? पुण्यशाली पुरुष सोचता है—'वह दिन और वह घडी धन्य होगी, जबकि मैं दु खदायी आर्त-ध्यान का त्याग कर दू गा तथा महल और मकानादि समस्त वैभव के ममत्व को हृदय से हटा दू गा। वह दिन अत्यन्त शुभ होगा जब मैं विषय भोगों को विष-तुल्य मानकर छोड दू गा और कषाय को जीत कर हृदय मे ज्ञान की पवित्र ज्योति जलाऊ गा।" इतना ही नही, वह स्पष्ट कहता है—"मेरा जीवन तभी सफल होगा, जब मैं प्रमाद का सर्वथा त्याग करके धर्म-क्रियाए करू गा तथा दान, शील और तप का आराधन करता हुआ उत्तम भावनाओ का अधिकारी बनू गा।

विचार करने की बात है कि ऐसी उत्तम भावनाए रखने वाला साधक क्या नही प्राप्त कर सकता ? वैदिक शास्त्र मे कथन है—

यं य लोकः मनसा सविभाति विशुद्धसत्व ।
कामयते यांश्च कामान् त त लोक जयते ॥
—मुण्डकोपनिषद्

—यह जीवात्मा शुद्ध भावना से जिस-जिस लोक की कामना करेगा, या जो भी उसकी इच्छा होगी, उसे वह अवश्य प्राप्त होगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपने आचरण के द्वारा पुण्यो का उपार्जन करेगा तथा उन्हें अपने साथ लेकर चलेगा, वह अपनी मुसाफिरी में कहीं भी कष्ट नही पायेगा और बिना किसी बाधा के अपनी मजिल प्राप्त कर लेगा।

धर्म टिकिट बिन यहां भ्रातृगण, गिरफ्तार हो जाना होगा।
चले वहा पर नहीं सिफारिश, रिश्वत का न बहाना होगा ॥
उठो उठो'' ।

टिकिट के अभाव मे

हम देखते हैं कि रेलगाडियो मे अनेक धूर्त बिना टिकिट लिए ही सवार हो जाते हैं। पर उसका परिणाम क्या होता है? टिकिट चैकर आते ही उनसे टिकिट मागता है और उसके न होने पर अगले स्टेशन पर ही नीचे उतार देता है। कोई भी बहाना उसका नही चलता।

यही व्यवस्था हमारी जीवन रूपी रेलगाडी की भी है। इस गाडी मे भी टिकिट लेना पडता है। पर कौनसा? रुपये और पैसे देकर प्राप्त होने वाला नही, वरन धर्माराधन के द्वारा पाया जाने वाला। जो व्यक्ति धर्म-रूपी टिकिट नही लेता, उसे कर्म-रूपी टिकिट-चैकर तुरन्त पकड लेता है और नरक, तिर्यंच तथा निगोदादि किसी भी योनि रूप स्टेशन पर उतार देता है।

एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि यहाँ पर तो टिकिट न लेने वाले व्यक्ति पर दया करके उसके साथ डिब्बे मे बैठे हुए व्यक्ति भी टिकिट-चैकर से उसके लिये कुछ सिफारिश कर देते हैं, तथा उसे छोड देने की प्रार्थना करते हैं। और कभी-कभी धूर्त व्यक्ति चैकर को कुछ रिश्वत देकर भी अपने आपको बचा लेते हैं। किन्तु हमारी गाडी मे ऐसा नही हो सकता। उसमे न रिश्वत चल सकती है और न ही सिफारिश करने वाला कोई साथी ही होता है। छिपने के लिये भी कोई जगह नही होती कि वहाँ जाकर जीव अपनी जान बचा सके। इसीलिये कवि कहता है कि सफर प्रारम्भ करने से पहले धर्म-टिकिट अवश्य ले लो।

अब भजन का अतिम पद्य है —

काल देव घटी देते ही, गाड़ी तुरत रवाना होगी।
उठो मुसाफिर टिकिट खरीदो, छूट गए पछताना होगा ॥
उठो-उठो'' ।

कहा है - काल की घटी बजते ही गाडी रवाना हो जाएगी, अत झट-पट अपनी तैयारी करलो। उस समय अगर कोई कहेगा कि मुझे अमुक कार्य करना है या अमुक व्यक्ति से मिलना है, तो निरर्थक होगा। मृत्यु क्षण भर की भी मुहलत नही देगी। जिस समय यम का दूत आ खडा होगा, भले ही हाथ का ग्रास हाथ मे, और मुँह का निवाला मुँह मे रह जाय, जीव

को रवाना हो जाना होगा। मौत पर किसी का वश नही चलेगा। कहा भी है—

आगाह अपनी मौत से, कोई वशर नहीं।
सामान सौ वरस के, पल की खवर नहीं॥

(मनुष्य अपने हृदय से नाना-प्रकार के मनोरथ रखता है। सोचता है आज यह, कल वह, एक वर्ष बाद अमुक कार्य और दस वर्ष बाद अमुक। पर क्या उसे पता है कि मृत्यु किस पल मे आजाने वाली है ? नही, भले ही वह सौ वरस की स्कीमे वनाले पर एक पल के लिये भी मृत्यु के भय से छूट नही सकता। सौ वरस तो क्या, एक पल का भी ठिकाना नही है।)

अभी आये और अभी चले ?

वन्धुओ, एक वक्त ऐसा भी मैंने देखा है—मैं अपने गुरु महाराज श्री रतनऋषि जी महाराज एव लघु गुरु वधु उत्तम ऋषि जी के साथ विहार मे था। हम तीनो कानगाँव से चलकर हिंगणघाट के समीप अलीपुर पहुचे। प्रातःकाल रवाना हुए तथा छ माइल चलकर सौढे नौ वजे अलीपुर आए और कितने आश्चर्य की वात है कि वारह वजे गुरु-महाराज स्वर्गस्थ हो गए। छ माइल चलकर आने वाले के लिये क्या ऐसा कोई सोच सकता है कि वह दो घटे वाद ही इस लोक से प्रयाण कर देगा ? पर हुआ ऐसा ही।

अलीपुर मे हम विट्ठल-मदिर मे ठहरे थे। सयोगवश उसी समय वहा का मालगुजार भी उस स्थान पर आ गया और गुरु महाराज के स्वर्गवास के विपय मे मालूम होते ही लोगो से वोला—"अभी तो आये और अभी कैसे गुजर गए ? वात क्या है ? क्या शिष्यो ने कुछ कर दिया ?"

मालगुजार हमारे पास भी आया। पूछने लगा—"क्या हुआ ? कैसे हुआ ?" मैंने कहा—"हमारे लिये तो गुरु देवता-तुल्य होते हैं। और हम क्या कहे ?"

वह वोला—'फिर कैसे गुजर गए ?

मैंने कहा—'मौत आ गई थी इसलिये ! काल का क्या भरोसा ? चाहे जव आ जाय।

गुरु महाराज के पुण्य-सचित थे, अन्यथा कुछ गडवड भी हो सकती थी। मालगुजार कह सकता था—"हमे सदेह है, चीर फाड करवाकर पता लगाएँगे।" पर ऐसा कुछ भी नही हुआ, वह वोला—"इनके शरीर का दाहसस्कार करना है तो मन्दिर के सामने जगह है, यहाँ समाधि करा दो।"

"हमारे यहाँ समाधि नही मानते।" मैंने उसे समझाया। वह मान गया और लोगो से बोला—"देखो। बडी श्रद्धा और अच्छे तरीके से महाराज का सस्कार करो।"

कहने का अभिप्राय यही है कि काल का करिश्मा ऐसा ही होता है। जिसमे एक पल का भी भरोसा नही होता। इसीलिये कवि कहता है—"मुसाफिर उठो, और तैयार हो जाओ! साथ मे जप-तप, दान-शील, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी जो माल साथ मे बाधना है, बाध चलो! अन्यथा यमराज का बुलावा आ गया तो फिर पश्चात्ताप ही हाथ आएगा कि मैं यह नही कर पाया, वह नही कर पाया।"

एक पजाबी कवि का भी कहना है :—

काल दा नगारा तेरे सिर उते बजना।
जग वाला मेला तवाँ, पेणा तेनूं छडणा।
ओत्थे नहीं लिहाज होणां, किसे बादशाही दा।
बन्दया ओइ कम्म करलय भलाई दा॥

अर्थात्—"काल का नगारा ज्योही तेरे सिर पर बजेगा तुझे इस जग का मेला छोडकर तुरन्त रवाना होना पडेगा। काल तो किसी बादशाह की बादशाहत का भी लिहाज नही करता तो फिर तू किस खेत की मूली है? अत समय रहते ही बदे! तू भलाई के काम कर ले।

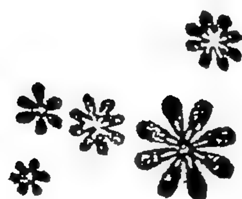
जो पुण्यशील पुरुष काल की अनिश्चितता को समझ कर अपने भविष्य को कल्याणमय बनाने का प्रयत्न समय रहते ही कर लेते हैं, उन्हें मृत्यु-काल का भय नही रहता। किसी भी प्रकार का शोक और सताप उनके हृदय मे जन्म नही लेता। अपितु स्वभाव के शात सरोवर मे अवगाहन करते हुए वे मृत्यु का स्वागत एक मित्र की भाति करते हैं। जिस प्रकार एक किसान फसल के पकने पर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार पुण्यवान व्यक्ति भी अपना जीवन-रूपी खेत पक जाने पर अनिवर्चनीय उल्लास का अनुभव करता है। ऐसा इसी कारण होता है कि उसने अपना समस्त जीवन पापो से दूर रहकर व्यतीत किया है।

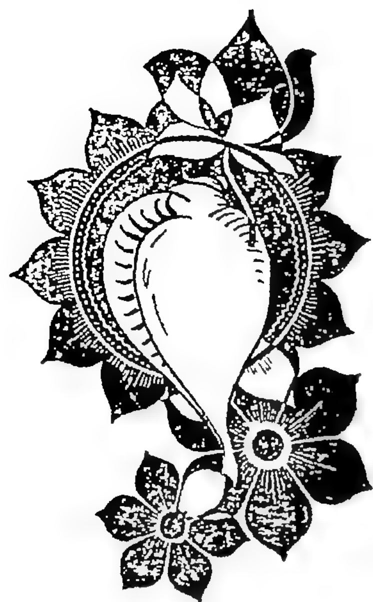
तो हमारा विषय चल रहा था मौत के खड्डे को लेकर। आप और हम सभी जनाते हैं कि यह खड्डा एक अथाह सागर के समान है, जिसमे अनन्त काल से जीव मर-मरकर समा रहे हैं पर यह अब तक भी ज्यो का त्यो खाली है। और भविष्य मे भी खाली रहेगा। ससार का प्रत्येक जीव

न जाने कितनी-कितनी वार जन्मा होगा और मर-मरकर इस खड्डे मे पहुचा होगा।

मौत से छुटकारा कैसे हो ?

यद्यपि प्रत्येक प्राणी मौत से डरता है और उससे छुटकारा पाने की निष्फल कोशिश करता है। पर केवल डरने से या जडी-बूटियाँ खाने से तो मृत्यु लौट कर जा नही सकती। उससे छुटकारा तो तभी मिल सकता है जबकि मनुष्य इसे जीत ले। मौत को किस प्रकार जीता जाय ? यह अभी मैंने विस्तार-पूर्वक बताया है कि जो व्यक्ति अपने जीवन मे क्षण-मात्र का भी प्रमाद किये विना आत्म-साधना मे लीन रहता है। अर्थात् अहिसा, सयम और तप रूप धर्म की आराधना करता है। वह अपने समस्त कर्मों का क्षय कर लेने के कारण पुन इस ससार मे जन्म नही लेता, और जन्म लेने के कारण मरण के भय से भी छुटकारा पा जाता है।





५

तृष्णा न जीर्णा वयमेवजीर्णा :

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो ।

अभी अभी आपने अन्तगड सूत्र मे सुना कि प्राचीन काल के श्रावक-श्राविकाए कितने गभीर, मर्यादा-पालक और श्रद्धाशील होते थे ।

शंका-समाधान

महारानी देवकी के महल मे दो-दो सतो का सघाडा तीन बार आहारार्थ आया । देवकी ने प्रथम बार जिस प्रगाढ भक्ति से सतो को आहार-दान दिया, उसी प्रकार दूसरी बार और तीसरी बार भी बहराया ।

किन्तु सतो की शरीराकृति मे पूर्ण एकरूपता देखकर उसे तनिक आश्चर्य हुआ कि आज वही सत तीन बार किस प्रकार पधारे ? उसकी इच्छा हुई कि मैं इसका कारण सतो से पूछू और अपने सदेह का निवारण करू ।

ध्यान रखने की बात है कि वर्तमान काल मे अगर ऐसा होता तो लोग गभीरता पूर्वक विचार किये विना, और उत्तम ढंग से अपनी शका का निवारण किये विना ही सतों के पीठ फेरते ही अन्य व्यक्तियो के समक्ष उनकी निंदा करना प्रारम्भ कर देते, और इसे महान् आलोचना का विषय बना

देते। पर जैसा कि मैं अभी कह चुका हू देवकी प्राचीन काल की सच्ची श्राविका थी, अत उसने अत्यन्त नम्रता और विनयपूर्वक सतो से ही इसका समाधान करने का विचार किया। या इसके लिये भी उसने सोचा—"अगर मैं इस तीसरे सघाडे के सतो को आहार देने से पहले ही यह बात पूछ लेती हू तो सत कही मेरे द्वार से खाली हाथ न लौट जाय।"

यह विचार कर उसने पूर्ववत् हर्ष और उत्तम भावना सहित सतो को आहार वहराया। तत्पश्चात् अत्यत नम्रता और शातिपूर्वक पूछा—'भगवन्! क्या हमारी द्वारिका नगरी की पुण्यवानी इतनी क्षीण हो गई है कि यहा अब कोई पुण्यवान गृहस्थ नही रहे और आपको आहार के लिये आज तीसरी बार पधारना पडा? क्या इतनी बडी द्वारिका मे मुनिराजो को आहार पानी का पूरा भोग नही मिलता?

प्रश्न सुनते ही सत समझ गए कि महारानी देवकी हमारी मुखाकृतियो का साम्य देखकर भ्रम मे पड गई हैं। उन्हे देवकी के प्रश्न पर तनिक भी रोप नही आया और न ही हमारा अपमान हुआ यह भावना हृदय मे आई।

आज आप जैसे सेठिया अगर किसी के घर अतिथि बनते और आपके समक्ष ऐसी परिस्थिति आ जाती तो आप तो थाली को ठोकर मार देते और उससे भी जी नही भरता तो अनेकों गर्व-पूर्ण उक्तियो और कटु-वचन कहकर बिना एक पल भी वहा ठहरे लौट आते। क्यो साहब! सत्य है न?

किन्तु सत जीवन तो आपके जीवन से भिन्न होता है। मान और अपमान उनके लिये समान महत्त्व रखते हैं। न वे सम्मान पाकर फूल उठते हैं और न ही अपमान होने पर रोष करते हैं। उनका हृदय समभाव से परिपूर्ण रहता है। इसीलिये देवकी के प्रश्न पर सत मुस्कराये और केवल यही बताया—

"हम छ भाई एक साथ ही दीक्षित हुए हैं। एक ही माता के उदर से जन्म लेने के कारण हममे पूर्ण शारीरिक समानता है। इसीलिये भद्रे! तुम्हे भ्रम हुआ है कि हम दोनो तीन बार यहा आए है। किन्तु वास्तविकता यह है कि हम लोग बेले-बेले की तपस्या कर रहे हैं। आज पारणे का दिन था, अत सोचा कि एक साथ जाने पर विलम्ब हो जायगा और दो-दो साधु शीघ्रतापूर्वक लौट आए गे, तो अपने ज्ञान-ध्यान मे जल्दी लग सकेंगे। यही कारण है कि हम अलग-अलग निकले और बिना यह जाने कि हमसे पहले कोई यहां आया है हम तुम्हारे यहा आ गए। हम तीनो ही सिघाडे एक-दूसरे का यहा पर आगमन पाये बिना अनजान मे आए हैं।"

बघुओ इस उदाहरण से आपको दो शिक्षाए लेनी चाहिये। प्रथम तो यह कि साधु-सतो के लिये हृदय मे उठने वाली शका का समाधान कितने विचारपूर्वक और कैसे उत्तम ढग से किया जाय, तथा दूसरी यह कि दान किस प्रकार दिया जाय ?

शका-समाधान के विषय मे रानी देवकी के उदाहरण से आप समझ ही गए होगे कि जिसके विषय मे शका या किसी प्रकार का सन्देह हो तो जहा तक हो सके स्वय उससे ही किसी प्रकार भी तीसरे की अनुपस्थिति मे हृदय धीरज और वचन मे सयम रखते हुए उसका निवारण करना चाहिये। क्योकि दूसरे मनुष्य के विषय मे जैसा सोच लेता है वह सदा सत्य ही हो यह कदापि सभव नही है। अनेक बार वह असत्य और भ्रमपूर्ण साबित होता है।

नेवले को मार डाला

मैंने बचपन मे एक कहानी पढी थी, आप लोगो ने भी अपनी पाठ्य पुस्तको मे अवश्य पढी होगी कि एक स्त्री ने नेवला पाला था। उसे वह अपने बच्चे के समान ही बडे प्यार से रखती थी।

एक बार वह पानी भरने गई। घर पर उसका छोटा सा शिशु सो रहा था, नेवला भी वही था। इसी बीच एक सर्प घर मे आ गया। वह रेंगता हुआ बालक की ओर जा रहा था कि नेवले की उस पर दृष्टि पड गई। सर्प को देखते ही नेवला उस पर झपटा और उसके टुकडे-टुकडे कर दिये। शिशु को सर्प-डश से बचा लेने की खुशी लिए हुए नेवला घर के बाहर आकर दरवाजे के पास बैठ गया और अपनी पालक माता की प्रतीक्षा करने लगा।

स्त्री पानी भरकर लौटी। किन्तु ज्यों ही उसे नेवले का मुँह खून से भरा हुआ देखा, सोचा कि नेवले ने शिशु को मार डाला है। यह विचार आते ही उसने क्रोध के आवेश मे भरा हुआ घडा नेवले पर ही पटक दिया और अदर की ओर भागी।

किन्तु अन्दर जाकर क्या देखती है – 'शिशु आराम से बिस्तर पर सो रहा है और समीप ही एक विशाल काय सर्प अनेक टुकडो मे बटा हुआ पडा है। पलक झपकते ही उसे सारी बात समझ मे आ गई और उसका हृदय वफादार नेवले की हत्या कर देने के कारण दु ख और पश्चात्ताप से विदीर्ण हो गया। पर उससे फिर क्या होता ? नेवला मर चुका था।

ऐसा होता है अधैर्य और भ्रम का परिणाम। कुछ क्षणो का धीरज रख कर अगर स्त्री घर मे जाकर अपने सदेह का निवारण करती तो उसे ऐसा कुकृत्य न करना पड़ता।

इसी प्रकार अगर मनुष्य शाति-पूर्वक अपनी शकाओ का समाधान करे तो वह निंदा और आलोचना आदि से लगने वाले अनेक पापो से बच सकता है।

दूसरी बात मैंने दान देने के विषय मे कही थी। हम प्राय देखते और सुनते भी हैं कि हमारे अनेक भाई साधु-साध्वियो को अन्न, वस्त्र या और कोई भी उनके उपयोग मे आने वाली अन्य वस्तुओ का दान देकर तुरन्त ही उनकी आलोचना करना प्रारम्भ कर देते हैं। जैसे—हमारे घर से इतना कपडा ले गए, इतना आहार या कि अमुक वस्तु ले गये।

अरे भाई, ले गए कब? जबकि तुमने दिया। चोरी करके या तुमसे छीनकर तो नही ले गये? साधु की आवश्यकताए समाज के द्वारा पूरी होती हैं। वह आपसे कपडा लेते हैं, आहार लेते हैं तथा अन्य आवश्यक वस्तुए भी लेते हैं। पर तभी लेते हैं, जब आप भावना से देते हैं, जबर्दस्ती नही।

किन्तु देने के पश्चात् अगर आप इस प्रकार निंदा या आलोचना करते हैं तो निश्चय समझिये कि आप अपने दान का फल गँवा चुके हैं। देने के बाद उसके लिये किसी प्रकार का पश्चाताप करना या अहकार व्यक्त करना भी वही अर्थ रखता है। ईसाइयो के धर्मग्रन्थ बाइबिल मे लिखा है —

"तुम्हारा दाया हाथ जो देता है उसे बाया हाथ न जानने पाये।"

इस एक वाक्य मे ही कितना बडा रहस्य है? आज तो व्यक्ति जो कुछ भी दूसरे को देता है, उसे अगर दूसरे न जान पाए तो समझता है कि देना ही व्यर्थ हो गया। ऐसे दान से क्या लाभ होना है? कुछ भी नही। दान को किसी पर किया हुआ ऐहसान मानना या उसके प्रदान से अपने आप को महा-दानी मानकर गर्व करना दान नही है, वह केवल आत्म-सतोष के लिए किया जाना चाहिये। एक दार्शनिक ने सत्य कहा है —

"As the purse is emptied the heart is filled"

—विक्टरह्यूगो

ज्यो-ज्यो पर्स (बटुआ) खाली होता जाता है, हृदय भरता जाता है।

वस्तुत केवल आत्म-सतुष्टि के लिये दिया जाने वाला दान ही सच्चा दान कहलाता है। दिये जाने वाले दान के पीछे अगर दानी कहलवाने की भूख और यश-प्राप्ति की तृष्णा रही तो देने की अपेक्षा न देना ज्यादा अच्छा है। तृष्णा के विषय मे मनीषियो ने कहा भी है —

"तृष्णार्तो दु.खमाप्नोति, परत्रेह च मानव ।"

—तृष्णा से पीडित पुरुष इसलोक मे भी और परलोक मे भी सर्वत्र दु.ख ही दु ख पाता है ।

बधुओ ! कई दिनो से हमारा प्रासगिक विषय आठ खड्डो को लेकर चल रहा है । जो कि कभी भरते नही हैं । आज हमे चौथे खड्डे का विवेचन करना है । चौथा खड्डा तृष्णा का ही है, जिसकी पूर्ति कभी नही होती । महर्षि वेदव्यास के शब्दो मे —

अनन्तपारा दुष्पूरा, तृष्णा दोष-शतावहा ।
अधर्म बहुला चैव, तस्मात्ता परिवर्जयेत् ॥

—पद्म पुराण

—तृष्णा का कही ओर-छोर नही है, उसकी उदरपूर्ति करना अत्यन्त कठिन है । वह सैकडो दोषो को ढोये फिरती है, उसके द्वारा बहुत से अधर्म होते हैं । अत तृष्णा का परित्याग करना चाहिये ।

तृष्णा का उद्भव

मोक्षमार्ग की साधना करने वाले, आत्म मुक्ति की अभिलाषा रखने वाले साधक के लिए पाँच अणुव्रत और पाच महाव्रतो का विधान किया गया है । उनमे से एक है अपरिग्रह । धन, धान्य, वस्त्र या मकान आदि समस्त सासारिक पदार्थ कम से कम रखना परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत है । सयम के निर्वाह के लिए अमूर्च्छित भाव से आवश्यक उपकरण रखना पांचवा महाव्रत है । सग्रहवृत्ति की भावना ने ही मानव के मन मे अनेकानेक दुर्भावनाए जगाई है । और तृष्णा को जन्म दिया है । इस तृष्णा के फल स्वरूप आज तो मनुष्य का यह हाल है कि —

सुवण्ण-रूपस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणतिया ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

—केलाश पर्वत के समान विशाल काय सोने और चाँदी के असख्यात पर्वत भी क्यो न हो, लालची मनुष्य का उनसे मन नही भरता । इतना पाकर भी वह सतुष्ट नही होता क्योकि इच्छा तथा दूसरे शब्दो मे तृष्णा आकाश के समान अनन्त है । उसका कभी भी अन्त नही है ।

लकड़ी बेचकर बैल बनाता हूँ

राजगृही नगरी मे मम्मण सेठ रहते थे। वे प्रतिदिन लकडी का भारा लेकर आते थे। एक बार राजा श्रेणिक ने उन्हें बुलवाया और पूछा—

"सेठ जी तुम करोडपतियो के बाजार मे रहते हो फिर ईंधन का भारा ढोकर क्यो लाते हो?"

मम्मण सेठ ने उत्तर दिया—"महाराज! एक बैल तो घर मे है। दूसरा बनाना है, इसलिए यह बोझ लेकर आता हू। मैं दूसरा बैल तैयार कर रहा हूँ।"

राजा आश्चर्य से बोले—"कैसे बात कर रहे हो? जाओ! मेरे यहा अनेको बैल हैं। जो तुम्हे पसद आए खोल कर ले जाओ।"

"महाराज! आप के यहाँ मेरे सरीखा बैल नही है।" मम्मण ने सहज भाव से कह दिया।

सेठ की बात सुनकर श्रेणिक राजा हैरान रह गए। उन्हे बडा आश्चर्य हुआ कि राजा-दरबार मे ममण सेठ के बैल जैसा बैल नही है। उन्होने कहा—"अच्छा सेठ! तुम्हारा बैल कैसा है? जरा मैं भी तो देखू।"

"पधारिये महाराज!" ममण सेठ राजा को आदर-पूर्वक अपनी हवेली मे लिवा गए। पहुचते ही राजा उत्सुकतापूर्वक बोले—"बताओ भाई! तुम्हारा बैल कैसा है?"

ममण सेठ बोला—"मेरा बैल बाहर नही रहता राजन! अन्दर है।" कहते हुए वह ज्योही हवेली के अन्दर रहे हुए तलघर का दरवाजा खोलता है, श्रेणिक राजा दाँतो तले अगुली दबा लेते हैं। कहते हैं—

"वास्तव मे ही तुम्हारे बैल जैसा बैल तो मेरे यहा नही है। पर यह तुम्हारे क्या काम आएगा?"

सेठ ने उत्तर दिया—"चाहिये महाराज! नाम और कीर्ति के लिए आवश्यक है।"

इसीलिए एक उर्दू कवि ने लालच और तृष्णा रखने वाले व्यक्ति की मनोवृत्ति का चित्रण किया है। कहा है :—

इस कदर अहले जहाँ को, है मुहब्बर जर से।
पेट मे मारते जो सोने का खंजर होता॥

वास्तव मे ही जिस मनुष्य के हृदय पर तृष्णा का अधिकार होता है,

उसकी विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है। तृष्णा के वशीभूत होकर वह कर्तव्य के अन्तर को भूल ही जाता है, उसे लोक लज्जा की भी परवाह नही रहती। कभी-कभी तो उसकी तृष्णा ऐसा भयकर रूप धारण कर लेती है कि वह घृणित से घृणित और नीच से नीच कृत्य करने को भी तैयार हो जाता है। यहा तक कि अपने स्वजनो और सम्बन्धियो की हानि और उनकी हत्या तक कर डालता है। तभी कहा जाता हैं: —

मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातर वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हंति, स्वामिनं वा सहोदरम्॥

—तृष्णाग्रस्त लोभी मनुष्य माता-पिता, पुत्र, भाई, स्वामी और मित्र आदि किसी को भी धन के लालच मे आकर मार डालता है।

अगर हम इतिहास के पन्ने पलटें तो ऐसे सैंकडो उदाहरण पढने को मिलेंगे जिन मे बताया होगा कि इस धन के लिये भाई ने बहन को, बहन ने भाई को, पुत्र ने पिता को और भाई ने भाई को विष देकर या अन्य किसी भी उपाय से मार डाला।

दासता का परिणाम

तृष्णा की दासता स्वीकार करके मनुष्य ने अपना भारी अध पतन कर लिया है। उसमे स्वार्थपरता, हृदय हीनता और निष्ठुरता जैसी अनेकानेक दुर्वृत्तिया पनप गई हैं, तथा हृदय में असतोष की ऐसी आग भडक उठी है कि उसकी निराकुलता और शाति उसमे स्वाहा हो गई है। इस तृष्णा की भयकर आग मे मनुष्य के समस्त सद्गुण और सभी कोमल मानवोचित भावनाएँ दग्ध हो चुकी हैं।

मनुष्य भूल गया है कि मानव-जीवन सासारिक जीवन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। और इसे भी अगर तृष्णा के इस कभी न भरने वाले खड्डे पर न्यौछावर कर दिया तो फिर मुक्ति की अभिलापा अनन्तकाल के लिये भविष्य के गर्भ मे विलीन हो जाएगी।

किन्तु सभी प्राणी समान भी नहीं होते। ससार मे कुछ ऐसे भी महापुरुप जन्म लेते हैं जो तृष्णा की दासता स्वीकार न करके उसके स्वामी बन बैठते हैं। वे अपने दृढ मनोबल के कारण समस्त सासारिक प्रलोभनो से बचते हुए तथा अपने आपको तृष्णा के अथाह गर्त मे गिरने से बचाते हुए मुक्ति रूपी मजिल को पा ही लेते हैं। अपने मन रूपी अश्व के कभी भटक जाने पर भी वे उसे अविलम्ब काबू मे कर लेते है। हमारे उत्तराध्ययन सूत्र मे कपिल मुनि का उदाहरण यही बताता है।

प्रेरक

तृष्णा के चंगुल से बचाव और मुक्ति

श्रावस्ती नगरी मे कपिल नामक एक ब्राह्मण रहता था। अर्थाभाव के कारण उसे जीवन मे बडी कठिनाइयों का सामना करना पड रहा था। एक दिन उसने विचार किया—'यहा के राजा प्रतिदिन प्रात काल दो मासे स्वर्ण का दान करते हैं, क्यो न मैं ही जाकर दो मासा-स्वर्ण ले आऊँ ? सारी परेशानियाँ दूर हो जाएगी।

स्वर्ण लाने का निश्चय करके वह रात को अपनी शैय्या पर लेट गया। किन्तु नींद नही आई। उसे आशका थी कि कोई दूसरा ब्राह्मण मुझ से पहले जाकर राजा को आशीर्वाद दे देगा तो स्वर्ण उसे मिल जाएगा और मैं कोरा ही रह जाऊँगा। फल स्वरूप अर्ध-रात्रि को ही वह चतुर्थ प्रहर समझ कर विस्तर से उठा और भागता हुआ राजमहल की ओर जाने लगा। महल के पहरेदारो ने उसे आधी रात को भागते हुए देखकर चोर समझा और पकडकर कैद कर लिया।

अगले दिन दरबार मे उसे राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने उसकी आकृति तथा चेहरे पर सरलता के भाव देखकर विचार किया—"यह चोर जैसा दिखाई तो नही देता। इसके लक्षण चोरो के समान नही है।" किन्तु प्रत्यक्ष में पूछ लिया "तू राजमहल मे चोरी करने आया था ?"

"नही महाराज !"

"फिर आधी रात को भागते हुए राजमहल की ओर आने का क्या उद्देश्य था ?

"मैं ब्राह्मण हूँ महाराज ! धनाभाव से परेशान रहता हूँ अत सोचा कि आप प्रतिदिन दो मासा स्वर्ण दान करते हैं, उसे ही ले आऊँ। पर इस भय से कि मुझसे पहले कोई दूसरा न पहुच जाय, मैं विना समय का खयाल किये तेजी से चलता हुआ इधर आ रहा था।" कपिल ने सहज भाव से राजा के समक्ष सत्य प्रकट किया।"

राजा कपिल की स्पष्टवादिता और सरलता से बडे प्रभावित और प्रसन्न हुए। उन्होने कहा—

'ब्राह्मण ! तुम सत्यवादी और श्रेष्ठ व्यक्ति हो। मैं तुम्हे मुहमागा धन दूंगा। जाओ, खूब सोच-विचार कर अपनी माग पेश करो।"

यह सुनकर कपिल बगीचे मे आकर बैठ गया और विचार करने लगा—"दो मासे तो क्या, कम से कम दो सौ मासा स्वर्ण राजा से माग लू तो

आनन्द से रहूगा। एक सुन्दर मकान बनवा लू गा। पर अगर दो हजार मासे माग लू तो ? तो फिर अच्छे बडे पैमाने पर कोई व्यापार कर लू गा। लाखो की आमदनी हो जायगी। लेकिन उसमे भी परेशान तो होना ही पडेगा। वडा परिश्रम और दौडधूप करनी पडेगी। क्यो न एक जागीर ही माग लू ? आराम से बैठा बैठा खाऊ गा। पर एक डर उसमे भी रहेगा, अगर राजा कभी नाराज हो गए तो जागीर छीन लेंगे। तो ऐसा कुछ मांगू जो छिन न सके. । वह तो आधा राज्य मिलने पर हो सकता है, क्योकि तव मैं भी राजा बन जाऊँगा।

कपिल सोचता रहा . सोचता रहा . और तृष्णा का अथाह खड्डा धीरे-धीरे उसे लील जाने की तैयारी करने लगा। कबीर ने इसके विषय मे सत्य ही कहा है—

'की तृष्णा है डाकिनी, की जीवन का काल'

तो कपिल भी इस पिशाचिनी के फदे मे फँस गया। उसकी इच्छाए समुद्र की तरगो के समान वेग पकडने लगी। वह सोच रहा था "आधा राज्य मागकर राजा बन जाने से भी क्या होगा ? कभी अनबन हो गई तो महाराज मुझ पर आक्रमण कर देंगे। मैं ब्राह्मण ठहरा लडना क्या जानू, शीघ्र ही हार जाऊगा और सारी की हुई मेहनत धूल मे मिल जायगी। इसलिये सर्वोत्तम तो यही होगा कि मैं सम्पूर्ण राज्य ही ले लू और राजा को मेरे समान बनाकर छोड दू।"

ऐसा विचार कर कपिल उठा और राजा के पास आने के लिये तैयार हुआ।

किन्तु बधुओ ! मन की गति का पार पाना सहल नही है। बडे-बडे सयमी और महायोगी भी इसकी चचलता का शिकार बनते रहे हैं। राजर्पि प्रसन्नचन्द्र एक क्षण पहले जहा सातवें नरक मे जाने लायक सामग्री जुटा रहे थे, क्षण भर बाद ही सर्वार्थसिद्ध विमान और उसके पश्चात् ही केवलज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं। यह है मन की करामात। महर्पि विश्वामित्र घोर तपस्या मे लीन थे किन्तु अल्पकाल मे ही मेनका अप्सरा की ओर आकर्पित होकर अपने वर्पों के तप को खो देते हैं। तभी तो कहा है —

कबहूं मन गगना चढ़े, कबहूं गिरे पाताल।
कबहूं चुपके बैठता, कबहूं जावे चाल॥

कपिल ब्राह्मण के मन की भी ऐसी ही स्थिति हो रही थी। दो मासे

स्वर्ण से उसका मन सम्पूर्ण राज्य की कामना करने लगा पर उसी समय अपनी चचलता के कारण अन्य दिशा की ओर बढा। सोचने लगा —"धिक्कार है मुझे ! मैं कितना कृतघ्न हू ? उदार राजा मुझे मु ह मांगा धन देकर मेरी गरीबी मिटाना चाहता है, पर मैं उसी का राज्य लेकर उसे भिखारी बनाना चाहता ; । लानत है इस तृष्णा पिशाचिनी को, जिसने मेरे विवेक को नष्ट कर दिया। मु ह मागा सोना और राज्य पाकर भी मेरी आत्मा को क्या लाभ हो जाएगा ? दो मासे सोने के लिये तो मैं चोरों के समान पकडा गया, फिर सारा राज्य पा लने पर या तो न जाने भविष्य मे मेरी क्या दशा होगी। मैं मूर्ख हू, जो तृष्णा के खड्डे की ओर तेजी से बढता जा रहा था। अगर उसमे गिर जाता, फिर तो शायद अनन्तकाल तक भी मुझे होश नहीं आता। इसी क्षण मुझे तृष्णा का नाश करके केवल आत्म-मुक्ति का प्रयत्न करना है।"

ऐसा विचार करते-करते उसके मन की भावना क्रमश उच्च, उच्चतर भूमिका का स्पर्श करती हुई चरम सीमा पर जा पहुँची और उसी समय उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

कपिल ब्राह्मण, कपिल मुनि बनकर राज्य-सभा मे पहुंचे। राजा उन्हे देखकर चकित हो गए। बोले —"अरे,यह क्या वेश बना लिया ? तुम तो कुछ लेना चाहते थे न ? मागो तुम्हें क्या मागना है ?"

मुनि का उत्तर था—"मुझे कुछ नही चाहिये, जो चाहिये था मिल गया।"

राजा ने पुन उन्हें समझाने की। कोशिश को किन्तु कपिल मुनि ने उलटा उन्ही को उपदेश दिया —

अधुवे असासयम्मि, ससारम्मि दुक्खपउराए।
किन्नाम होज्ज त कम्मयं, जेणाह दुग्गइ न गच्छेज्जा ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

हे राजन् ! यह शरीर अध्रुव और अशाश्वत है तथा ससार दुखों से भरा हुआ है। ऐसे ससार मे, तुम्हें प्रतिदिन विचार करना चाहिए कि ऐसे कौन से कार्य हैं जिनके करने से मुझे दुर्गति नहीं मिले।

तो बधुओ ! कपिल ब्राह्मण जब तक तृष्णा की मृग-मरीचिका मे फमा रहा उसे सतुष्टि का मार्ग नही मिल सका। तृष्णा को जीत लेने पर अर्थात् उसका त्याग करने पर ही वह आत्मानद की दिशा मे अग्रसर हो सका। तृष्णा का कही ओर-छोर नही है। तभी सत कबीर ने कहा है -

मन मरा माया मरी, मर मर गया शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी, कह गए दास कबीर॥

मन मर जाता है, माया मर जाती है और शरीर का भी नाश हो जाता है और आशा और तृष्णा का अन्त नही होता। भर्तृहरि ने भी यथार्थ कहा है :—

'कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।'
—वैराग्यशतक

काल का खात्मा न हुआ, किन्तु हमारा ही खात्मा हो चला। तृष्णा का बुढ़ापा न आया, किन्तु हमारा बुढापा आ गया।

एक सत्य-कथा आपको कहता हू।

तीन लाख की कमी रह गई है

काठियावाड से एक भाई व्यापार करके धन कमाने के उद्देश्य से बम्बई गया। वह इतना गरीब था कि बम्बई जाने के लिये भी उसे दूसरो से पैसे उधार लेने पडे। उधार लिये हुए पैसे से बम्बई तक पहुँचा था अत. वहा जाकर भी व्यापार कैसे करता ? फलस्वरूप किसी के यहा नौकरी करने लगा।

कुछ समय पश्चात् पूर्वकृत शुभ कर्मों के उदय से,और लगनपूर्वक मालिक का काम करने से, उसके स्वामी ने अपने व्यापार मे कुछ हिस्सा उस भाई का भी रख लिया।

व्यापार मे भाग होने के कारण वह धीरे-धीरे लखपति बन गया और फिर अपना स्वतत्र व्यापार करने लगा। पुण्य साथ थे ही, व्यापार करते-करते वह एक लाख, दो लाख, दस लाख, और इसी प्रकार सत्तान्नवे लाख का स्वामी बन गया।

सयोगवश जिस गाव का वह भाई था, उस गाव का ठाकुर बम्बई आया। वहा पहुँचकर वह उस भाई से मिला। देखकर बडा प्रसन्न हुआ कि मेरे गाव का व्यक्ति आज करोडपति हो गया।

ठाकुर बोला—"सेठ! बहुत कमाई कर ली तुमने, अब अपने गाव चलो। जीवन का बाकी समय वही आनन्द से बिताना। मुझे बडी खुशी होगी, तुम्हारे वहा रहने से तथा गाववाले भी गर्व करेगे कि हमारे यहा करोड़पति व्यक्ति भी रहते हैं।"

पर सेठ ने क्या उत्तर दिया ? उसने कहा— "अभी तीन लाख की कमी है करोडपति होने मे।"

"अरे, यह कमी भी कोई कमी है क्या ? जैसे यहा तुम्हें सब करोडपति मानते हैं, उसी प्रकार गाव वाले भी करोडपति ही समझेंगे। तुम्हारा पैसा कोई गिनने थोडे ही बैठेगा। तीन लाख का लोभ छोडो, और गाव चले चलो।" ठाकुर ने आग्रह किया।

पर सेठ तो तृष्णा के गड्ढे मे गिर चुका था। बोला—"नहीं, तीन लाख तो अभी कमाने ही हैं। फिर गाव आने का विचार करूगा।"

कैसी विचित्र है ये तृष्णा ? जिसके फेर मे पडकर मानव भूल जाता है कि :—

> आशा के बन्दे दियां हुंदियां न पूरियां।
> कल्पदा बथेरा तां भी रहन्दिया अधूरियां॥
> आखदे स्याने माया-माया नूं है जोड़ दी।
> लखवालयां नू रहंदी लोड़ है करोड़ दी॥
> होवे जे करोड़ तां भी पें दियां न पूरियां
> आशा कदे बन्दे दिया हुंदियां न पूरिया॥

एक पजावी कवि का कथन है—लोभी मनुष्य की इच्छाए कभी भी पूरी नही होती। थोडा बहुत समय तो क्या सैकडो कल्प भी उसे मिल जाय, तब भी उसकी तृष्णापूर्ति नही हो सकती, कामनाए अधूरी ही रहती हैं।

हमारे अनुभवी पूर्वजो का कहना है—पैसा, पैसे को बढाता है। और उसके बढने के साथ-साथ तृष्णा भी बढती जाती है। मनुष्य लखपति बन जाता है तो उसकी इच्छा करोडपति बनने की हो जाती है। पर करोडपति बन जाने पर भी सतोष कहाँ होता है ?

> एहो चाह लगी रहन्दी हर आयो खास नूं।
> लग जान पर उड़ जांवां मैं आकाश नू॥
> लगे नहियों पर इयो हेन मजबूरिया
> आशा कदे बन्दे दियाँ हुंदिया न पूरियां।

व्यक्ति को करोडपति बनने के बाद भी चाह होती है कि अगर मेरे पर हो तो आकाश मे उड जाऊ। अर्थात् और अधिक साधन मिल जाय तो मैं असीम और अनन्त धन-राशि इकट्ठी कर लू। किन्तु दुख है कि ऐसा हो नही पा रहा है।

सत्तानवे लाख कमा लेने वाले भाई का भी यही हाल हुआ। उसकी तृष्णा मिटी नही और वह तीन लाख कमा लेने के प्रयत्न मे लगा।

कर्मों का खेल

किन्तु कर्म क्या मनुष्य को उसकी इच्छानुसार ही करने देते हैं? नही, वे तभी तक उसे छूट देते हैं, जब तक पल्ले मे पुण्यवानी हो। सेठ के पूर्वोपार्जित पुण्य समाप्त हुए और चक्र उलटा चलना प्रारम्भ हो गया। अर्थात् व्यापार मे घाटा आना शुरू हुआ। देखते-देखते पूजी घटती गई और सेठजी जिस स्थिति मे बम्बई आए थे पुन उसी स्थिति मे आ गए। बहुत पश्चात्ताप हुआ कि 'तीन लाख रुपया और कमाने का लोभ छोडकर गाव चला जाता तो आज यह नौबत नही आती। ठाकुर के आग्रह करने पर भी मैंने अपने धन से सतोप नही किया और उसका भयकर परिणाम अब भुगतना पड रहा है।"

पर फिर पश्चाताप करने से सेठ को क्या हासिल होता? कुछ भी नही। इसी प्रकार ससार मे अन्य लाखो प्राणी हैं, जो पूर्व मे तो धन, धान्य, परिवार आदि के मोह मे पडकर अपना भला-बुरा नही सोचते और अन्त-समय में जब ध्यान आता है कि यहा की कमाई तो यही रह गई और अब वहाँ जा रहा हूँ, वहा के लिये कुछ भी उपार्जन नही किया तो शोक और पश्चात्ताप के गर्त मे डूब जाते हैं, पर फिर उससे कुछ नही बनता। जीव हाय-हाय करते ही चल देता है।

इसीलिए महापुरुष तथा सत-जन आपको बार-बार शिक्षा देते हुए कहते है —

घूमत देश-विदेश वृथा धन काज अकाज करे विध नाना।
कष्ट सहे न लहे टुक चैन न खाय कमाय घटे लहि छाना॥
पुण्य लसे विलसे धन अन्य पै तो सग नाहीं चले एक दाना।
धार सतोष तजी तिसना हित सीख अमीरिख मान सयाना॥

प्रौढ कवि भी अमीऋषि जी महाराज कहते है हे प्राणी! तू इस अस्थिर और अनित्य-धन के लिए देश-विदेश मे मारा-मारा फिरता है। इस के लालच मे पडा हुआ भूख-प्यास आदि के महान् कष्टो को सहन करता है तथा नाना प्रकार के अनुचित कार्य करने से भी नही चूकता। किन्तु क्या इसमे से एक दाना भी तेरे साथ जा सकता है? क्या तू एक पैसा भी अपने साथ ले जा सकता है? नही, तब फिर अपनी तृष्णा को अधिकाधिक बढाते हुए इसकी पूर्ति की चाह मे ही यह अमूल्य जीवन क्यो बर्बाद करता है?

क्या तू नही जानता कि तृष्णा की आग कभी नही बुझती, इसमें चाहे जितना धन क्यो न झोक दो। यह महागर्त कभी नही भर सकता। चाहे अनन्त जन्म लेकर भी इसकी पूर्ति का प्रयत्न करते रहो।

इसलिए तुम मेरी सीख मानो और इस अनिष्टकारी तृष्णा का त्याग करके सतोष को अपनाओ !

इसका परिणाम यह होगा कि इस ससार मे तो तुम लोगो के विश्वसनीय, तथा स्नेह-पात्र बनोगे ही, इतरलोक मे भी उच्चगति और उच्चस्थान पाकर नाना प्रकार के कष्टो से मुक्त रह सकोगे। इसके साथ ही कभी भावनाओ की उत्कृष्टता हुई तो अपनी आत्मा को ससार-मुक्त कर सकोगे।

किन्तु इसके विपरीत अगर तुमने सासारिक, मोह-माया के बधनों को नही तोडा और तृष्णा तथा लालच का त्याग नही किया तो जगत मे निंदा और उपहास का पात्र बनते हुए अन्त मे दुर्गति की ओर जाओगे।

मराठी भाषा मे सत तुकाराम जी ने कहा है—

"आशा-तृष्णा माया अपमानाचे बीज,
नाशिलिया पूज्य होइजे ते।"

—आशा, तृष्णा और माया ये तीनो अपमान के बीज हैं। इनका नाश करने पर ही मानव वदनीय हो सकता है।

कितनी महत्त्वपूर्ण बात है ? अपमान मनुष्य के लिये ससार मे मिलने वाले समस्त कष्टो की अपेक्षा अधिक कष्टमय होता है। आचार्य चाणक्य ने कहा भी है —

वर प्राण परित्यागो, मानभङ्गेन जीवनात्।
प्राणत्यागे क्षण दु:ख, मानभङ्गे दिने दिने ।।

—अपमानित होकर जीने की अपेक्षा प्राण-त्याग करना श्रेष्ठ है। क्योकि प्राण-त्याग में-क्षण भर दु:ख होता है और मानभग मे प्रतिदिन।

एक पाश्चात्य विद्वान ने भी यही कहा है —

"It is better not is live at all than to live disgra ced'

—सोफोक्लीज

— अनादरपूर्वक जीने से बिलकुल न जीना ही अच्छा है।

तो वधुओ, ऐसे अपमान का कारण बनने वाली तृष्णा और लालच का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है। तृष्णा जीव को परपदार्थों से विलग नही होने देती और असन्तोष की ऐसी अग्नि प्रज्ज्वलित कर देती है कि मनुष्य की शाति और निराकुलता उसमे भस्म होती चली जाती है।

प्रश्न उठता है, कि जब इच्छा का कही अन्त नही आता तथा तृष्णा सदा बढती जाती है, तब क्या करना चाहिये ? इनसे छुटकारा पाने का क्या उपाय है ?

इसके लिये हमारे शास्त्र कहते हैं —

'इइ विज्जा तवं चरे।'

इच्छा की असीमता और अनन्तता जान करके तप करना चाहिये।

तप का स्वरूप आचार्यों ने बताया है—

"इच्छानिरोधस्तप ।"

इच्छाओ का दमन करना ही तप कहलाता है।

स्पष्ट है कि इच्छाओ को नष्ट करने का एकमात्र उपाय यही है कि अन्त करण मे उनका उद्भव ही न होने दिया जाय। उत्पन्न हो जाने पर तो उनकी पूर्तिरूप तृष्णा बढती ही है, अत. उत्पन्न ही न होने देना, और कदाचित् उत्पन्न हो जाय तो उसका उसी समय दमन करना साधक के लिये आवश्यक है।

जो विवेकशील पुरुष आशा और तृष्णा का अत करने के लिये तपाचरण करते हैं तथा अपने आपको तृष्णा के अथाह गर्त मे गिरने से बचा लेते हैं, वे भव्य प्राणी अपने मानव-जीवन को सार्थक बनाते हुए मुक्ति रूपी मजिल पर पहुँचने मे समर्थ बनते हैं तथा शाश्वत सुख के अधिकारी बन जाते हैं।



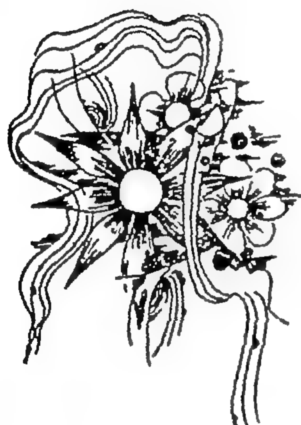
राम जी की शाट किया।

जय गुरु नाना।

जय गुरु नानेश

जय गुरु नाना

4208



६

बरसन लगे अंगार··!

घर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव वहनो !

श्री अन्तगढ सूत्र का वाचन चल रहा है। आज गजसुकुमाल मुनि के विपय मे आपने सुना। उन्होने जिस दृढता से सयम अगीकार किया था, उसी दृढता से अत तक उसे निभाया। यद्यपि उनका सयम-काल अत्यल्प रहा और वय भी अल्प थी किन्तु उस अल्पकाल-वय मे भी मरणातक उपसर्ग को उन्होने जिस दृढता से सहा, अविचलित भाव से उसका मुकावला किया, वह मानव मात्र के लिये चिर-वदनीय है।

माता की सीख

जिस समय गजसुकुमाल दीक्षा लेने के लिये तत्पर हुए, उनकी माता देवकी ने कहा—"वत्स ! जिस उत्कृष्ट भावना से तू आज दीक्षित हो रहा है, उसी भावना से सयम का पालन करना तथा यह प्रयत्न करना कि जिस प्रकार मैं तेरे वियोग के कारण दुखी हो रही हू, कोई माता तेरे लिये फिर कभी दुखी न हो।"

महारानी देवकी की शिक्षा मे कितना गम्भीर भाव और कितना वडा

रहस्य है ? सीधी और सरल भाषा मे उसने यह व्यक्त किया कि अब तू ऐसी उत्कृष्ट करनी करना जो पुन कभी किसी माता के उदर से जन्म न लेना पडे अर्थात् तू जन्म-मरण से मुक्त हो जाय। क्योकि जन्म लेने पर ही वियोग होता है। जन्म लेगा तभी दूसरी माता रोयेगी। जब जन्म ही नही लेगा तो रोयेगी क्यो ?

अक्षरशः पालन

माता की शिक्षा का गजसुकुमाल ने अक्षरश पालन किया। उन्होने जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन भगवान अरिष्टनेमि से यथाविधि वदना एव नमस्कार करते हुए कहा—"भगवन् ! मुझे मुक्ति का सीधा और सक्षिप्त मार्ग बताइये! इधर से उधर और उधर से इधर जाने वाला नही।"

भगवान ने गजसुकुमाल को वह सीधा रास्ता बताया, बारहवी प्रतिमा धारण करने का। साथ ही कहा—"तुम्हे श्मशान मे जाकर ध्यान करना पडेगा।"

"मैं यही करूँगा भगवन् !" बाल मुनि ने उत्तर दिया।

"पर क्या तुम्हारा अन्त करण इतना मजबूत है कि कैसा भी उपसर्ग क्यो न आए, सहन कर लोगे ?" भगवान ने अपने ज्ञान से होनी को अवश्य-भावी जानते हुए भी शिष्य को खराया। क्योकि बारहवी पडिमा ऐसी है, जो सफल हो जाय तो जन्म-सार्थक बने और अगर मन डावाडोल हो गया तो उतनी ही ऊँचाई से नीचे आना पड जाय। जैसा कि कहा गया है—

"चढ़े तो चाखे प्रेम रस, पडे तो चकनाचूर।"

पर गजसुकुमाल कच्चे घडे नही थे, उन्होने दृढतापूर्वक अपने विचारो को कार्य रूप मे परिणत किया। तथा सयम ग्रहण करने के दिन ही रात्रि को भगवान की आज्ञा लेकर श्मशान मे ध्यानस्थ हो गए। साथ ही,दूसरी ओर कर्मों का खेल प्रारम्भ हुआ। जो कि अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सत्य ही कहा है —

"अवश्यमेव भोक्तव्य, कृत कर्म शुभाशुभम्।"

— विक्रमचरित्र

इस आत्मा ने जैसे भी शुभ अथवा अशुभ कर्म किये हैं, उन्ही के अनुसार इसे शुभ अथवा अशुभ फल अवश्य ही भोगना पडेगा।

सोमिल ब्राह्मण ने जो कि गजसुकुमाल का होने वाला श्वसुर था,सयोग-

वश उधर आ निकला और गजसुकुमाल को साधु बन गया देखकर आगबबूला हो उठा।

आप जानते ही हैं कि क्रोध का हृदय मे आगमन होते ही समस्त सद्-गुणो का लोप हो जाता है तथा मनुष्य अधा बनकर हिताहित शून्य और नीच से नीच कृत्य करने पर उतारू हो जाता है। दूसरे शब्दो मे—

When anger is on the throne, wisdom is out of doors

—क्रोध के सिंहासनासीन होते ही बुद्धि वहा से खिसक जाती है।

सोमिल भी क्रोधावेश मे विवेक और बुद्धि से सर्वथा रहित होकर समीप जल रही किसी चिता से अगारे ले आया और गजसुकुमाल के सिर पर मिट्टी की पाल बनाकर उसमे भर दिये। इस प्रकार वह अपने वैर की वसूली कर चल दिया।

इन्सान किस प्रकार क्रूरता की भी सीमा लाघ जाता है, यह ऐसे उदाहरणो से ज्ञात होता है। दहकते अगारो का अचूक प्रभाव होना ही था। किन्तु धन्य है ऐसी महान आत्माओ को जो मरणातक कष्ट मे विचलित नही होती।

अत्यन्त सुकुमार और बाल-मुनि गज सुकुमाल ने भी तड-तड करके जलते हुए मस्तक के असल कष्ट को पूर्ण शाति और सम-भाव से सहन किया। यह विचार करते हुए—हे आत्मा! तू किसी से नही जलता। अगर जल रहा है तो केवल यह शरीर जल रहा है। इसे तो जलना ही है। आज नही तो कल, एक दो वर्ष, दस वर्ष या सौ बरस बाद भी यह तो जलेगा ही। इसके जलने का क्या दुःख? अब तक तूने अनन्त शरीर धारण किये, और वे सभी नष्ट हुए या जले हैं, फिर इस एक शरीर के जलने का क्या दुःख है।"

इस प्रकार समता के सागर मे अवगाहन करते हुए मुनि गजसुकुमाल की आत्मा शुक्ल-ध्यान ध्याते हुए अर्थात् ध्यान के परम प्रकर्ष को प्राप्त होते हुए अल्पकाल मे ही मुक्ति-धाम की ओर प्रयाण कर गई। केवल उनका शरीर अग्नि का भोग बना हुआ वहाँ रह गया।

बधुओ, हमारा चालू विषय भी जो कभी न भरने वाले आठ खड्डो को लेकर चल रहा है, उसमे भी आज अग्नि के खड्डे का नम्बर आया है। जैसा कि अभी-अभी आपने सुना—मुनि गजसुकुमाल का शरीर अग्नि की आहुति बन गया उसी प्रकार अनन्त शरीरो का भोग अग्नि का यह कभी न

भरने वाला गड्डा अब तक ले चुका है, ले रहा है और भविष्य मे भी लेता रहेगा। पर भरेगा कभी नही। इसमे चाहे जो वस्तु, चाहे जितनी मात्रा डालो, भस्म होती जाएगी। घास-फूस, लकडी, घी, तेल या शरीर कुछ इसमे हो-मा जाय, इसकी भूख नही मिटेगी। वरन् उत्तरोत्तर बढती जायेगी। दूसरे शब्दो मे, अग्नि का यह महान् हवन-कुड कितनी भी आहुति क्यो न पाले शात और तृप्त नही होगा। उलटे इसकी ज्वालाएँ अधिकाधिक पाने के लिये ऊँची उठेंगी, अधिकाधिक भडककर अपनी व्यग्रता प्रदर्शित करेंगी।

आध्यात्मिक क्षेत्र में..

लौकिक क्षेत्र मे जिस प्रकार द्रव्य अग्नि अधिकाधिक ईंधन डालने पर भी शात नहीं होती, उसी प्रकार हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र में भाव-अग्नि ज्यो-ज्यो ईंधन डालो, भडकती जाती है।

आपको जानने की उत्कठा होगी कि भाव-अग्नि कौन सी है, और किन चीजो की आहुति लेती है? अर्थात् उसकी खुराक क्या है?

क्रोध, मान, माया और लोभ में जो चारो कषाय हैं, इन्ही का नाम भाव-अग्नि है, जो अपनी ज्वालाओ मे स्नेह, प्रेम, करुणा, सहृदयता, सहिष्णुता, यहा तक कि दान, शील, तप और समस्त उत्तम भावनाओ को जलाकर भस्म कर देती है।

जिसके हृदय मे कषाय की आग प्रज्ज्वलित हो जाती है, उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र, कोई भी सलामत नहीं रहते। कषाय आत्मा के सबसे प्रबलतर शत्रु हैं तथा आत्मा के अध पतन का मूल कारण हैं। ज्यो-ज्यो कषाय-रूप अग्नि तीव्र होती है, आत्मा मलिन होती जाती हैं, और ज्यो-ज्यो वह शात होती है, आत्मा अपने शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त करती जाती है।

नाश हो इस क्रोध का....!

हरिकेशी मुनि एक चाण्डाल के पुत्र थे। बचपन में उनका स्वभाव महाक्रोधी था। एक तो शरीर की कुरूपता, उसकी बेडौलता, रग मे सावलापन और ऊपर से स्वभाव मे क्रोध और कटुता, इन सभी ने मिलकर हरिकेशी को अन्दर और बाहर से अत्यन्त असुन्दर बना दिया था। यहाँ तक कि वे अपने माता-पिता को भी अप्रिय लगते थे।

बात-बात पर क्रोध करने और नाना प्रकार के दुर्व्यवहार करने की

—'हे आत्मन् ! यह शरीर अपवित्र पदार्थों से परिपूर्ण है। तो भी तू इसका नाना तरह से शृगार और पालन-पोषण करता हुआ कषायो का सेवन कर रहा है, क्या यह तेरा विमोह नही है ?

आगे कहना है—

"प्रस्थाने तु पदान्तरेऽपि भवता सार्द्ध न तद्यास्यति ।"

—'जब तू पर लोक मे जायेगा, उस समय यह शरीर और अन्य भौतिक पदार्थ तेरे साथ नही आएँगे। अत इनके द्वारा जितनी भी पर-हित साधना कर सके, उतनी समय रहते कर ले अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ेगा।'

बधुओ, कषाय को हृदय मे प्रवेश न करने देने के लिये तथा इसके चुपचाप आ पहुचने पर, पुन निष्कासन के लिये बडा प्रयत्न और बडी सावधानी रखने की आवश्यकता है। अग्रेजी मे कहा गया है—

"First though than action and then habit,"

पहले शुभ विचार करो, उसके अनुसार कार्य और कार्य को बार-बार करके उसे अपनी आदत बनाओ।

आशा है आप समझ गए होंगे कि कषायो को जीतने का क्या उपाय है ? इन्हे जीतने के लिये पहले अपने विचारो को शुद्ध बनाना चाहिये और उसके बाद अपने विचारो को कायम रखते हुए उनके अनुसार आचरण मे प्रवृत्त होना चाहिये। जब तक इन कषायो का सम्पूर्ण-रूप से नाश नही हो जाएगा, तब तक हमारी मुक्ति-प्राप्ति की अभिलाषा अपूर्ण रहेगी। कषायो की वज्रमयी दीवार आत्मा को परमात्मा से मिलने मे बाधक है यानी कषाय मुक्ति आत्मा के परमात्म-पद प्राप्त करने मे कारणभूत है।

देखिये एक कुआ समुद्र से कहता है—

नदिया नाले मलिन सब, आन मिले हैं तोय।
मुझ मे ऐसी क्या कमी ? दूर किया जो मोय।

अर्थात्—'हे समुद्र ! तुममे हजारो नदियाँ और नाले आकर मिल गए हैं। न जाने कितना कूडा-कचरा बहाकर लाने वाले और अत्यन्त मलिन पानी रखने वाले उन प्रपातो को तो तुमने अपने आप मे सहर्ष स्थान दिया है किन्तु मैं, जो कि इतना साफ और स्वच्छ पानी रखता हू, तुमसे अभी तक दूर ही हू। मुझे क्यो नही अपने आप मे मिलाते हो ? क्यो इस प्रकार दूर-दूर ही रखते हो ?'

समुद्र कुए के अकेलेपन और उसके दु ख से द्रवित होकर उत्तर देता है—

मिलना चाहो आन के, रक्खो स्वच्छ विचार,
तू मुझसे कैसे मिले, बीच खड़ी दीवार।

समुद्र का कहना है—'बधु ! तू मुझसे मिलना चाहता है तो मेरा इन्कार कहाँ है ? देख मेरे द्वार भी बन्द नही हैं, चारो तरफ से मैं तो खुला हू। मेरी ओर से प्रत्येक आने वाले का स्वागत है। पर तूने स्वय ही अशुद्ध विचारो की मजबूत दीवार अपने चारो ओर खडी कर रखी है। इससे घिरा रहने पर तू मुझसे कैसे मिल सकता है ? अगर मिलना चाहता है तो इन्हे तोड और आकर मुझसे मिल। मैं उसी प्रसन्नता से तुझे भी स्थान दूँगा जिस प्रसन्नता से अन्य आने वाले को देता हू।

यह एक रूपक है, जो कुए और समुद्र के वहाने मानव पर घटित किया गया है। जिस प्रकार कुआ समुद्र से मिलने की अभिलाषा रखता है, किन्तु अपने चारो ओर खडी दीवारो को गिरा नही पाता। उसी प्रकार मानव की आत्मा अपने आपको परमात्मा मे मिलाना चाहती है पर कषायो के दृढ घेरे को तोड नही पाती, राग-द्वेष रूपी वाधाओ को हटा नही सकती अत. अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने मे असमर्थ रहती है।

एक साधक अपने गुरुजी के निर्देशानुसार साधना करता था। किन्तु कई वर्ष वीत जाने पर भी उसकी इच्छा पूर्ण नही हुई तो आकर गुरु से वोला—

'भगवन् ! ईश प्राप्ति का क्या उपाय है ? मुझे साधना करते-करते इतने वर्ष हो गए, पर अभी तक सफलता नही मिल पाई।'

शिष्य की वात सुनकर गुरुजी कुछ वक्त तो चुप रह गए पर एक दिन जव वे नदी मे स्नान कर रहे थे, उन्होंने शिष्य को पानी मे दवाया और जव वह खूव छटपटाने लगा तव छोडा।

पानी से वाहर आकर शिष्य तनिक कुंठित होता हुआ वोला—'आपने ऐसा क्यो किया ?

गुरु ने उत्तर दिया—'यह वताने के लिये कि पानी से निकलने की छटपटाहट तुम्हारे हृदय मे हुई, वैसी ही छटपटाहट और आतुरता जव तुम्हारी आत्मा मे भव जल से निकलकर प्रभु से मिलने के लिये होगी तव तुम्हें प्रभु-प्राप्ति हो जायगी।'

कहने का अभिप्राय यही है कि जव साधक के हृदय मे ससार-मुक्त होने

की अभिलाषा तीव्रतम हो जाएगी और वह ससार के दु खो से छटपटाकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति कषायो की आग को नष्ट करने मे लगा देगा तो उसे जन्म मरण से मुक्त होते देर नही लगेगी ।

मार्मिक प्रश्नोत्तर

हमारे उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्याय मे केशीस्वामी और गौतम स्वामी का सवाद किया गया है। दोनो मे अनेक प्रश्नोत्तर हुए हैं। पर मैं प्रसगवश उनका थोडा सा भाग बताता हू। केशीस्वामी गौतमस्वामी से पूछते हैं—

सपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा !
जे डहन्ति सरीरत्थे, कह विज्झाविया तुमे ।।

उत्तराध्ययन २३ गाथा ५०

— 'हे गौतम ! इस शरीर मे घोर अग्नि प्रज्ज्वलित है, जो कि सारी दुनिया को जला रही है। मैं देखता हू कि तुमने इसे कैसे शात किया ?

कितना मार्मिक प्रश्न है ? केशी स्वामी कहते हैं—'सारा ससार इस आग से जल रहा है, फिर तुम कैसे इससे बचे हुए हो ?

गौतम स्वामी उत्तर देते हैं—

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तम ।
सिचामि समय देह, सित्ता नो डहन्ति मे ।।

उत्तराध्ययन २३ गाथा ५१

"भते ! यह सत्य है कि प्रत्येक शरीर मे अग्नि जल रही है और यह एक दावानल के समान ससार के समस्त प्राणियो को भी जला रही है। पर मैंने इसे शात किया है। साधारण अग्नि जिस प्रकार जल का सिंचन करने पर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार महा-मेघ-प्रसूत जल से मैं हमेशा अपने शरीर को सिंचित करता हू और इस उत्कृष्ट जल-धारा से मेरे शरीर की अग्नि भी शात हो गई है।

वधुओ ! ध्यान मे रखने की वात है कि केशीस्वामी और गौतमस्वामी का वार्तालाप उन दोनो के पाच-पांचसौ शिष्यो की उपस्थिति मे और हजारो अन्य श्रोताओ की विद्यमानता मे हो रहा था। अत केशीस्वामी ने विचार किया कि गौतम ने उत्तर वरावर दिया है, और मैं समझ गया हू किन्तु सारी जनता जो कि यहाँ उपस्थित है वह नही समझ पाई होगी कि कौनसी जल-

धारा का उल्लेख हुआ है। अत सब को समझाने की दृष्टि से पुन इसका स्पष्टीकरण करना चाहिये। यह विचार आने पर वे पुन प्रश्न करते हैं :—

अग्गी य इह के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेव बुवंत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥

—उ० सू० २३-५२

—हे गौतम ! कहो कि वह अग्नि, जिससे सारा ससार जल रहा है, कौनसी है ? और उसे शमन करने वाली जल-धारा कौनसी है ?

गौतम स्वामी उत्तर देते हैं —

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसील तवो जल।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

—उ० सू२ २३-५३

अर्थात्—हे पूज्य ! यह कषाय-रूप अग्नि है तथा श्रुत-शील एव तप-रूप जल है। श्रुत-धारा से मैं सदा अपने शरीर का सिंचन करता हू अत जलता नही।

वस्तुत क्रोध, मान, माया, और लोभ ये सब कषाय आत्मा के समस्त गुणो को आग के समान धीरे-धीरे जलाकर खाक कर देते हैं। अगर मनुष्य को इस महा भयकर आग से अपने गुणो को बचाना है तो उसे श्रुत-धारा सिंचन से इस को बुझाना चाहिये।

तो कषाय रूपी अग्नि हुई। और पानी कौन सा ? महामेघ का। हमारे अवतारी पुरुष, तीर्थंकर आदि महामेघ हैं और उनका उपदेश रूपी जल, महामेघ-प्रसूत वारि कहलाया। यही जल कषायाग्नि को बुझा सकता है।

किसी ने ठीक कहा है—

काम क्रोध के बादल चढ़े, बरसन लगे अंगार।
इस जुग में साधु न होय तो, जल जाये ससार ॥

पद्य की सीधी-सादी सरल भाषा है। पर बात वही है कि काम क्रोध रूपी बादल जब चढते हैं, तो अगार बरसने लग जाते हैं। और वे तभी बुझते हैं जबकि साधु-सन्त वीतराग-प्ररूपित श्रुत-धारा अपने उपदेशो के रूप मे बरसाते है। अगर इस युग मे सन्त-महापुरुष न हो तो कषायो की आग समस्त जग मे फैल जाय और कोई भी प्राणी अपने आपको इस आग मे जलने से न बचा सके।

कहने का साराश यही है कि अगर मानव अपना कल्याण चाहता है तो

उसे राग-द्वेप से परे रहना चाहिये । 'ठाणाग सूत्र' मे बताया गया है—राग की दो सतान हैं और दो ही द्वेष की ।

आपको जिज्ञासा होगी कि यह कैसे ? इसका समाधान है—जहा द्वेष होगा, वहा क्रोध और मान अर्थात् अहकार अवश्य पैदा हो जायगा । और जहाँ राग होगा यानी पदार्थों के प्रति आसक्ति होगी, वहाँ माया अर्थात् कपट और साथ ही लोभ लालच का जन्म हो जायगा । इन्हे ही कषाय कहा जाता है । ये कषाय और विषय वासनाए ही आत्मा को मलिन करती हैं तथा उसके शुद्ध स्वरूप का भान नही होने देती । इसलिए आत्मशुद्धि के इच्छुक महापुरुप, इनसे बचने का प्रयत्न करते हैं ।

अभ्यास के अभाव में

एक राजा ने किन्ही सन्त से प्रार्थना की - "भगवन् ! एक दिन राज महल मे पधारने का अनुग्रह कीजिए ! आपके चरण वहाँ पडेंगे तो महल पवित्र हो जायगा ।"

"नही राजन् ! मुझे वहाँ बडी दुर्गन्ध आती है ।" सन्त ने उत्तर दिया ।

राजा चकित हो गया, बोला—"यह कैसी बात है महाराज ! राजमहल मे तो गुलाब केवडा आदि का इत्र जहाँ-तहा छिडका जाता है । वहा बदबू कहा से आएगी ?"

सन्त ने कहा—"मेरे साथ चलो ! मेरा चमारो की बस्ती मे कुछ बीमारो की देख-रेख के लिए जाने का वक्त हो गया है । वही तुम्हारी शका का समाधान भी हो जायेगा ।"

राजा सत के साथ चल दिया । दोनो कुछ ही देर मे चमारो की बस्ती मे जा पहुचे । वहा प्रत्येक घर से बडी दुर्गन्ध आ रही थी क्योकि कही चमडा तैयार किया जा रहा था, कही सुखाया जा रहा था और कही इसी प्रकार का अन्य कार्य हो रहा था । राजा ने परेशानी के मारे अपना रुमाल नाक पर रख लिया और सन्त से कहा—

"महात्मन् ! शीघ्र ही इस बस्ती से बाहर चलिये । मेरा तो दुर्गन्ध के मारे दम घुटा जा रहा है ।"

सन्त ने हसते हुए कहा—"राजन् ! देखो यहाँ कितने स्त्री पुरुप अपना काम कर रहे है, बालक अपनी क्रीडा मे निमग्न है, कोई भी दुर्गन्ध का अनुभव नही करता फिर तुम्हे ही यह क्यो परेशान कर रही है ?"

"महाराज ! चमड़ा कमाते-कमाते और दिन-रात चमडे के पास रहते-

रहते इनकी नाक ही ऐसी हो गई है कि इन्हें दुर्गन्ध का अनुभव नही होता। पर मेरी तो ऐसी आदत नही हैं।"

राजा की बात सुनकर महात्मा मुस्कराते हुये बोले—"बस यही बात तुम्हारे राजमहल की भी है। रात-दिन विषय-भोगो मे तल्लीन रहने के कारण तुम्हें उनमे रही हुई बदबू का अनुभव नही होता। क्योकि तुम्हारी वैसी आदत बन गई है। किन्तु मेरा तो वैसा अभ्यास नही है, अत जिस प्रकार तुम्हारा इन चमारो की बस्ती मे जी ऊब गया है, मेरा भी राज-महल मे विपय-भोगो की बदबू से जी घुटने लग जाता है यही कारण है कि अभी थोडी देर पहले मैंने राजमहल मे चलने के तुम्हारे प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था।"

सत की बात महाराज की समझ मे आ गई और वे चुपचाप उन्हें प्रणाम करके महल की ओर चल दिए।

तो बन्धुओ, हमे कपाय की आग से अपने आपको बचाना है। इसकी भयकर ज्वालाओ से अपने सद्‌गुणो को झुलसने नही देना है। हमारे शास्त्र कहते हैं —

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोभो सव्व-विणासणो॥

दशवैकालिक सूत्र अ ८

कोध प्रीति का नाश कर देता है, मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है, तथा लोभ अन्य समस्त सद्‌गुणो का नाश कर देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कपाय महा भयकर आग है, जो आत्मा के लिये सर्वनाश का कारण बनती है। द्रव्य-अग्नि तो वस्तु को एक बार मे ही जलाकर खाक कर देती है, किन्तु कपाय-रूपी भाव-अग्नि जीव को जन्म-जमान्तरो तक पीडा पहुचाती है, पुन-पुन उसके निज गुणो को राख बनाती है। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्म-साधना की कोशिश निरर्थक सावित हो जाती है।

तुलसीदासजी का कथन भी है :—

काम कोध मद लोभ की, जब लौं मन में खान।
तब लौं पडित मूरखा, तुलसी एक समान॥

अर्थ स्पष्ट है कि जब तक मन मे कपाय विद्यमान रहते हैं, पडित और मूर्ख मे कोई अन्तर नही जान पड़ता।

रावण महा-विद्वान, अनेक विद्याओ का स्वामी और सिद्धपुरुष था। किन्तु क्रोध, मानादि कषायो के तीव्र उद्रेक ने उसकी विद्वत्ता तथा सिद्धता पर पानी फेर दिया। और कवि कालिदास से जोकि अपने प्रारम्भिक जीवन मे महामूर्ख थे कषायो के पतलेपन और हृदय की सरलता के कारण एक दिन महापडित तथा ससार प्रसिद्ध पुरुप कहलाये। इन उदाहरणो से हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि —

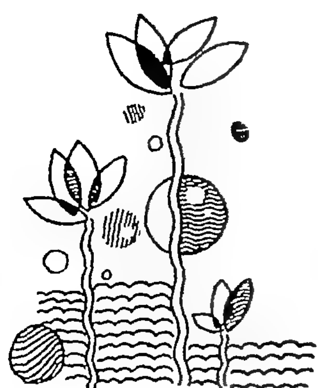
"कषायमुक्त परम स योगी।"

—अध्यात्म कल्पद्रुम

जो कषाय रहित है, वही सर्व श्रेष्ठ योगी है।

इसलिये हमें कपाय रूपी अग्नि से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये, तथा शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय तथा सन्त-महापुरुपो के सदुपदेश-रूपी जल से इसे वुझाने का प्रयत्न करना चाहिए। हमे भली-भाँति यह जान लेना चाहिये। द्रव्य-अग्नि के समान ही भाव-अग्नि भी कभी तृप्त न होने वाली नाशकारी आग है, जो कितनी भी आहुति पाकर सन्तुष्ट नही हो सकती। इसे नष्ट करने का एक मात्र तरीका यही है कि अपने चिन्तन-मनन, समता शाति और हृदय की शुद्धता के द्वारा इसे बुझादिया जाय। तभी हम आत्म-साधना की ओर वढ सकते हैं तथा अपने चरम-लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते है।





७

भव-सागर पार कैसे होगा ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

पर्युषण-पर्व के इन पावन दिनो मे आपको अन्तगढ सूत्र सुनाया जा रहा है। इस सूत्र मे ऐसे महापुरुषो का वर्णन है, जिन्होंने अपने समस्त कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया और अत मे मोक्ष पधारे।

वैराग्यमेवाभयम्

अभी अभी आपने सुना है—श्रीकृष्ण वासुदेव ने पद्मावती आदि अपनी समस्त रानियो मे से जिसे भी आत्म-साधना करनी हो, उसे करने की छूट दे दी। साथ ही नगर मे भी ढिढोरा पिटवा दिया कि—'जिस किसी को सयम ग्रहण करके आत्म-कल्याण करना हो, खुशी से कर सकता है। मेरी ओर से उसे सम्पूर्ण सहायता मिलेगी।'

महारानी पद्मावती के हृदय मे भगवान अरिष्टनेमि का उपदेश सुनकर तीव्र वैराग्य-भावना जागृत हुई। वह विचार करने लगी—मेरे जीवन का इतना दुर्लभ समय तो ऐश-आराम और सासारिक सुखो के भोग मे व्यतीत हो गया, कम से कम अब तो इस रही-सही जिन्दगी को आत्म-साधना मे लगाऊ।

भगवान अरिष्टनेमि के उपदेश से उसने भली-भाँति समझ लिया कि ससार के समस्त पदार्थों मे उनके वियोग और नाश का भय छिपा हुआ है। भयरहित है तो केवल वैराग्य।

एक सस्कृत के सुन्दर श्लोक मे भी यही बताया गया है :—

भोगे रोगभय, कुले च्युतिभय,
विते नृपालाद् भय।
माने दैन्यभय, बले रिपुभयं,
रूपे जराया भयं ॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं,
कामे कृतान्ताद् भयं।
सर्व वस्तु भयान्वित भुवि-नृणां,
वैराग्यमेवाभयम् ॥

—भर्तृहरि

अर्थात्—भोग मे रोग का भय है, कुल मे च्युत हो जाने का, धन मे राजा के द्वारा छिन जाने का, मान मे दीनता का, और बलवान को शत्रु का भय है। तथा रूप को वृद्धावस्था का, शास्त्रज्ञ को वाद-विवाद का, गुणवान को दुष्टो का और शरीर को यमराज का भय है। इस प्रकार ससार मे प्रत्येक वस्तु के साथ भय लगा हुआ है। किन्तु वैराग्य मे कोई भय छिपा हुआ नही है। यानी वैराग्य को किसी से भी भय नही है।

तो पद्मावती रानी ने भी सासारिक सुखो को अनेकानेक भयो का आश्रय-स्थल मानकर अपना शेष जीवन आत्म-साधना मे लगाने का निश्चय किया और अनेक अन्य रानियो के साथ सयम ग्रहण कर आत्म-कल्याण के पथ पर बढ गई।

वस्तुत इस भय-पूर्ण ससार मे वैराग्य के समान निर्भयता प्रदान करने वाला तथा सच्चे सुख और शाति की अनुभूति कराने वाला और कोई साधन नही है। वैराग्य से विभूषित प्राणी इस लोक मे सतोष-रूपी सुख का अनुभव करता है, तथा पाप-मार्ग का त्याग करके पुण्य-मार्ग पर चलने के कारण परलोक मे भी सुख का भाजन बनता है।

जब तक जीव सासारिक पदार्थों मे आसक्ति रखता है, तब तक वह नाना प्रकार के सकल्पो और विकल्पो मे फसा रहता है, अनेकानेक कष्टो और वेदनाओ का अनुभव करता है। किन्तु जब वह सासारिक सुखों की

अनित्यता को समझ लेता है, और उनकी ओर से निरासक्त होकर वैराग्य वृत्ति को अपना लेता है तो एक अनिर्वचनीय खुशी उसके हृदय में अपना स्थान वना लेती है। अतएव निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैराग्य ही सुख का साधन है, शान्ति का स्रोत है और आनन्द का जनक है।

यही कारण है कि वैराग्य वडे-वडे चक्रवर्ती सम्राटो को भी, समस्त वैभव का त्याग करने की प्रेरणा देकर स्वर्ण-सिहासन के बदले पर्वतो की ऊची-ऊची चोटियो पर विठा देता है। हमारे तीर्थंकर और अनेकानेक जैन मुनियो के उदाहरण इस वात के साक्षी हैं, जिन्होने अपने वड़े-वडे राज्यो व सिहासनो को त्याग करके सयम का कठोर पथ ग्रहण किया। वैराग्य धारण करने के कारण ही वे अपने सीमित राज्यो के स्थान पर अखिल लोक के अधिकारी वने। वैराग्य के कारण ही वे तीन लोक के नाथ कहलाये और देवेन्द्रो के भी पूजनीय वने। सक्षेप मे इस भव-सागर मे गोते लगाने वाले ससारी जीवो का उद्धार करने की शक्ति एक मात्र वैराग्य मे ही है।

सस्कृत भाषा मे कहा भी है —

> प्रचण्डवासनावातैरुद्धूता नौर्मनोमयी।
> वैराग्य कर्णधारेण विना रोद्धु न शक्यते॥

भावार्थ यही है—'इस ससार सागर मे प्रचण्ड वासनाओ के तूफान से डगमगाने वाली मन रूपी नौका को वैराग्य रूपी मल्लाह ही पार लगा सकता है। वैराग्य के अलावा और किसी मे भी उसे डूबने से वचाने की शक्ति नही है।

वधुओ, आज हमे भी प्रासगिक आठ 'खण्डो से छठे समुद्र के खड्डे के विपय मे विचार करना है। अभी तक राज्य के, पेट के, मौत के, तृष्णा के और अग्नि के, इन पाच कभी न भरने वाले खड्डो का वर्णन किया जा चुका है। आज छठे समुद्र के खड्डे की वारी है।

आप जानते ही हैं कि समुद्र मे असीम जल-राशि और अथाह गहराई होती है। पृथ्वी पर की समस्त नदिया उसमे अहर्निशि जल उडेला करती है तथा घास-फूस, वडे-वडे लक्कड, समूचे वृक्ष और अनेकानेक अन्य पदार्थ अपने साथ वहाकर लाती है और उसमे डालती है। किन्तु क्या समुद्र कभी उनसे भरता है ? नही, वह पूर्ववत् वना रहता है। नित्य असीम जल-राशि अपने आप मे समाकर भी अतृप्त ही रहता है, असंख्य वस्तुओ को उदरस्थ करके भी तृप्त नही होता।

समुद्रो के विपय मे कई मान्यताए हैं। वैष्णव धर्म ग्रन्थो मे शिवराज

ऋषि ने सात समुद्र और सात द्वीपो का होना बताया है, किन्तु जैन-शास्त्रो मे असख्यात द्वीप और असख्यात समुद्र बताए गये हैं। यह कोई आश्चर्य-पूर्ण बात नही है, ज्ञान पर निर्भर है। जिन्होने सात समुद्रो की प्ररूपणा की उन्होंने उतना देखा, और जिन्होने असख्यात समुद्र देखे वैसा कहा। जो-जो देखा जाता है वही बताया जाता है।

तो हम समुद्र-रूपी अथाह खड्डे के विषय मे बात कर रहे हैं कि वह कभी भरता नही। इसीलिये महापुरुष इसकी उपमा संसार को देते हैं। कहते हैं— यह ससार रूपी समुद्र एक अथाह सागर है जिसमे अनन्त जीव नित्य जन्म लेते हैं, मरते हैं और नाना प्रकार के कष्टो का अनुभव करते हुए इसमे डूबते उतरते रहते हैं।

बारह उपागो मे 'उववाई सूत्र' एक उपाग है। इसमे ससार रूपी समुद्र और धर्मरूपी जहाज का वर्णन किया गया है। कवि कुलभूषण पूज्य-पाद श्री त्रिलोक ऋषिजी म० ने सूत्र मे वर्णित विषय का साराश लेकर एक कवित्त की रचना की है। उसमे कहा है —

ससार सागर तामे, मोह-जल भोग कीच,
मान रूपी फेण तामें, कलशा कषाय है।
तृष्णा की वेल मच्छ, छोटा मोटा रक राय,
परिवार मच्छ कर्म—डूगरा जणाय है।
मिथ्यामति संखोलिया, तीरथ रतन रूप,
माया रूप भमरा के माही डूब जाय है।
कहत तिलोक धर्म - द्वीप मोस तीरवर,
सजम जहाज ग्रही, शिव पद पाय है॥

कहा है—यह ससार एक समुद्र है, जिसमे मोह-रूपी जल और भोग-रूपी कीचड है। वास्तव मे ही मोह-कर्म सम्पूर्ण ससार मे व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी चाहे वह पशु है, पक्षी है, मनुष्य है या देवता है, मोह-कर्म से ग्रसित अवश्य है। यह मोह कभी-कभी बडे-बडे महामुनियो और योगियो को भी अपने फदे मे फँसा लेता है।

मोक्ष-प्राप्ति मे बाधक

दण्डकारण्य के महाराजा कुम्भकार की रानी पुरदरयशा आचार्य स्कदक की बहन थी। एक बार आचार्य स्कदक अपने पाँच सौ शिष्यो सहित अपनी बहन को प्रतिबोध देने के लिये दण्डकारण्य आए और शहर से बाहर वाटिका मे ठहर गए।

किन्तु महाराज कुम्भकार का मन्त्री पालक आचार्य स्कदक से अपने पूर्व-अपमान का वदला लेना चाहता था अत. उसने वाटिका मे रातो रात पाँचसौ हथियार गडवा दिये और राजा से आकर बोला—"महाराज! आपके उद्यान मे डाकू आकर ठहरे है। वे आपका राज्य छीनना चाहते है।"

राजा कुम्भकार चकित होकर वोले—"यह तुम्हारा भ्रम है मन्त्री! उद्यान मे जैन श्रमण ठहरे हैं और उनके आचार्य मेरे साले स्कदक कुमार हैं। वे डाकू कैसे हो सकते हैं?'

"अगर आपको विश्वास न हो तो हमारे गुप्तचरो की सूचना के अनुसार आप उद्यान की भूमि खुदवा कर देख लीजिये, वहा उनके हथियार गाडे हुए हैं या नही?" पालक ने कुटिलता से कहा।

सच्चाई की परीक्षा करने के लिये कुम्भकार ने प्रात काल कर्मचारियो को भेजकर वाटिका की जमीन खुदवाई। पालक के षड्यन्त्र के मुताबिक वहाँ पाच सौ हथियार प्राप्त हो गए।

राजा ने क्रोधित होकर मन्त्री को आज्ञा दे दी कि वह अपनी इच्छानुसार साधुओ को दड की व्यवस्था कर ले। मन्त्री को मुहमागी मुराद मिली और वह एक कोल्हू उठवाकर अविलम्व उद्यान मे पहुँच गया। तथा आचार्य स्कदक से वोला—

"आज मैं तुमसे वदला ले रहा हूँ। मरने के लिये तैयार हो जाओ। इस कोल्हू मे पहले तुम्हारे शिष्यो को, और उनके वाद तुम्हे पेलूँगा।"

आचार्य ने मन्त्री को समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"अगर तुम वदला लेना चाहते हो तो खुशी से मुझे इस कोल्हू मे पेल दो। किन्तु इन निरपराध शिष्यो की हत्या क्यो करते हो?"

पर पालक के सिर पर तो भूत वोल रहा था, वह कैसे समझ सकता था? उसने स्पष्ट इन्कार करते हुए उन्हे अपने एक-एक शिष्य को भेजने का आदेश दिया।

आखिर आचार्य का एक-एक शिष्य अपने गुरु को वदना करके सथारे का प्रत्याख्यान करता हुआ सहर्ष कोल्हू मे जाकर वैठ गया।

नर-पिशाच पालक ने विना तनिकभी हिचकिचाहट के चारसौ निन्यानवे साधुओ को कोल्हू मे पेल दिया। रक्त की नदी वह गई पर फिर भी उसकी क्रूरता शात न हुई। अब केवल एक वाल-साधु वचा था। जल्लाद जव उसे ही ले जाने लगे तो स्कदकाचार्य का मोह जागृत हो उठा। वे वोले—मैं इस छोटे से साधु को मरते हुए नही देख सकूँगा, अत पहले मुझे पेल दो।

पर पालक को कहाँ मानना था ? उसने बाल-साधु को ही कोल्हू मे डाला । इस प्रकार पाच सौ शिष्य अपने मन को पूर्णतया निर्मल, निर्वैर और दृढ रखने के कारण मोक्ष मे चले गए ।

किन्तु अपने छोटे से शिष्य की वारी पर आचार्य स्कदक का मोह जाग जाने पर तथा मन के पूर्णतया कषाय रहित न रहने पर वे मोक्ष मे नही जा सके । केवल मोह कर्म ही उनकी मोक्ष-प्राप्ति मे बाधक बना तथा उसने उनके समग्र जीवनव घोर साधना पर पानी फेर दिया । मोह की करामात ऐसी ही होती है ।

मोह के समान ही विषय-भोगो का हाल है । ससार मे धन-वैभव, यश-कीर्ति तथा पुत्र-पौत्र आदि के लिये मानव नाना प्रकार की विडम्बनाए भोगता है, आकाश-पाताल एक कर डालता है । किन्तु इन सवके प्रलोभनो से भी उग्र प्रलोभन है विषय-विकारो का । विषय-भोगो से बचना सहज नही है । यह इतना व्यापक है कि मूर्ख तो क्या वडे-वडे विद्वान और योगी भी इसके चगुल से नही वच पाते । घोर तपस्वी विश्वामित्र और पाराशर जैसे ऋषि भी अपनी साधना को एक ओर रखकर भोगो के आधीन हो गए ऐसे उदाहरण हमे मिलते हैं । विषय-भोगो का आकर्षण किसी को भी अछूता नही छोडता । इसके विषय मे सत्य ही कहा गया है —

भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवार,
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्र च जीर्णशतखण्डमयी च कथा,
हा हा ! तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥

—जो भिक्षा मागकर रूखा-सूखा और वह भी एक वार ही खाता है, जमीन पर सोता है, परिवार के नाम पर केवल उसका अपना शरीर ही होता है और जो फटी-पुरानी सैकडो पैवन्दो से युक्त गुदडी ओढता है, अफसोस है कि ऐसा व्यक्ति भी विषय-भोगो का त्याग नही कर पाता ।

इसीलिए विषय-भोगो को इस ससार-समुद्र मे रहने वाला कीचड वताया गया है, और बताया गया है कि अहकर-रूपी फेन तथा कषाय-रूपी कलुष भी इसी के अग हैं । समुद्र मे वार-वार फेन आता है, और नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अहकार मनुष्य के जीवन मे आकर वार-वार अपना मस्तक ऊँचा करता है, और उसकी यश-कीर्ति तथा अन्य विशेषताओं पर पानी फेरता हुआ शात हो जाता है ।

विचार करने की वात है कि मनुष्य आखिर मान किस वात का करता

है ? धन का, वल का, ज्ञान का या रूप का ? पर क्या ये वस्तुएँ उसका सदा साथ देती हैं ?

कौड़ी भी साथ नहीं चलेगी

इतिहास वताता है कि समय के तनिक से फेर से ही वडे वडे ऐश्वर्यशाली सम्राट पथ के भिखारी वन गए। और जिनके पास वह रहा, मृत्यु-काल मे वे हाय-हाय करते हुए इस लोक से गए। सम्राट सिकन्दर ने अपने अतिम समय मे अपना सारा धन एकत्रित किया और उस पर अश्रु-वर्षा करते हुए कहा— जिस धन के लिए मैंने नाना प्रकार के अत्याचार किए, अनैतिक कार्य किए, वही मुझे छोडना पड रहा है, एक कौडी भी मेरे साथ नही चलती।'

इसीलिए तो हमारे महापुरुषो और तीर्थंकरो ने अपने छ खड के ऐश्वर्य को भी ठोकर मार दी, और आत्म-साधना मे लग गए। वे भली-भाति समझ गए थे कि धन कभी आत्मा को सच्चा सुख प्रदान नही कर सकता, उलटे, कषाय-विष को पैदा करके उसे अशाति के सागर मे डुवोता है।

विश्वप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर का कथन भी है :—

'Gold is worse to men's is soles than any mortal drug'

समस्त प्रकार के विषैले पदार्थों मे, मनुष्य की आत्मा के लिए, धन वडा भयकर विष है।

तो इसी विष का अभिमान करना क्या मूर्खता की वात नही है ?

वल का अभिमान व्यर्थ है

अगर मनुष्य अपने वल का गर्व करता है तो वह भी व्यर्थ है। इस पृथ्वी पर वडे-वडे वलशालियो का गर्व चूर-चूर होकर रहा है।

भरत चक्रवर्ती ने सारी पृथ्वी को जीत लिया। पर दिग्विजयी नही कहला पाता, अगर अपने भाई-वाहुवलि को अपने अधीन नही कर लेता। अत अपने वल का पूर्ण विश्वास और गर्व होने के कारण उसने वाहुवलि से युद्ध ठाना। निरपराध सेना को नष्ट न करने के उद्देश्य से आपस मे ही लडने का निश्चय किया गया। परिणाम स्वरूप द्वन्द्व युद्ध हुआ। उसमे दृष्टियुद्ध और मुष्टियुद्ध मे भरत पराजित हुआ। मल्ल-युद्ध मे भी जव विजय प्राप्त करने की आशा न रही तो अपने पिता द्वारा प्रदत्त अमोघ

शस्त्र चक्र-रत्न ही बाहुबलि पर चला दिया। किन्तु परिजनो पर न चल सकने के कारण वह बाहुबलि को नही मार सका। और बाहुबलि ने भरत को अपने प्रचड बाहुओ मे उठाकर ज्योही पृथ्वी पर पटक कर चूर-चूर कर देना चाहा, उन्हें ससार से वैराग्य हो गया और वे भरत को सस्नेह नीचे उतार कर तपस्या करने वन को चल दिए।

आशय यही है कि भरत को बाहुबलि की शक्ति के सामने पराजित होना पडा। दुर्योधन ने भी अपने अहकार के मद मे चूर होकर महाभारत युद्ध किया पर सम्पूर्ण कुल के नाश का कारण बना। और रावण के नाम से तो बच्चा-बच्चा परिचित ही है। कहा जाता है कि पवन उसके आगन मे झाडू लगाता था, सूर्य और चन्द्र सोने की लका का पहरा देते थे और ब्रह्मा आकर उसके यहा वेद-पाठ करते थे। किन्तु सीता को चुराने तथा अहकार वश उसे न लौटाने का क्या परिणाम हुआ ? सोने की लका तो जलकर राख हुई सो हुई ही, वश सहित वह नष्ट हो गया। इस प्रकार बडे-बडे शूरवीरो की क्या दशा हो जाती है अहकार के कारण, इस विषय मे कहा गया है :—

दहला देता था वीरो को जिनका एक इशारा,
जिनकी उंगली पर नचता था यह भूमडल सारा।
थे कल तक जो शूरवीर रणधीर अभय सेनानी,
पडे तडपते आज न पाते हैं चुल्लू भर पानी।

वास्तव मे, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—मान मे दैन्य छिपा हुआ है। अहकार के कारण महान शक्तिशाली व्यक्ति भी अत मे दयनीय दशा को प्राप्त होता है।

हंस का कारागार

यही हाल शारीरिक सौन्दर्य का है। मनुष्य अपने रूप को देखकर फूला नहीं समाता किन्तु क्या वह सोचता है कि अगर एक बार चेचक निकल आई या अन्य कोई बीमारी हो गई तो ? ग्रन्थो मे पढने के लिये मिलता है—'हमारे शरीर पर साढ़े तीन करोड़ रोग होते हैं, तथा एक-एक रोग के मूल मे पौने दो-दो रोग छिपे हुए हैं।"

और इतने रोग जब शरीर पर आक्रमण करने की ताक में बने रहते हैं तो फिर शारीरिक सौन्दर्य का बल कितना रह जाता है ? सच्चा सौन्दर्य आत्मा के सद्गुण हैं। अगर सुन्दरता के साथ सुन्दर गुण भी हैं तो

वह हृदय का स्वर्ग है, पर यदि उसके साथ अहकार आदि दुर्गुण हैं तो वह निश्चय ही आत्मा के लिये नरक है। रूप का अहकार करने वाले व्यक्ति को विचार करना चाहिये—

है बाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार,
बहिर्दृष्टि मोहित होते हैं विनय विवेक विसार।
भीतर भरा अशुचि-भडार,
हंस का जीवित कारागार।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

पद्य मे यही कहा गया है कि अपवित्र वस्तुओ से भरे हुए इस शरीर व इसके सौन्दर्य पर गर्व करने वाले प्राणियो को इसकी वास्तविकता का सदा ध्यान रखना चाहिये तथा अपने विवेक के द्वारा इसकी क्षण भगुरता को समझते हुए यह कभी नही भूलना चाहिये कि शरीर गर्व करने की नहीं, अपितु आत्मा रूपी हम का कारागार होने के कारण दु ख करने की वस्तु है।

ज्ञानी गर्व नहीं करता

अब नम्बर आता है, अपनी बुद्धि और ज्ञान पर किये जाने वाले गर्व का। पहली बात तो यह है कि मनुष्य अगर वास्तव मे बुद्धिमान है तो वह अपनी बुद्धि पर गर्व करेगा ही नही, क्योकि मान स्वय मे ही अज्ञान का द्योतक है। दूसरी बात यह है कि वह कितना ज्ञान प्राप्त कर पाता है? ज्ञान तो असीम और अनन्त है। तीर्थंकर अथवा सिद्ध आत्माए जिसे केवल ज्ञान के द्वारा त्रिलोक और त्रिकाल को जान लेते हैं, उसकी तुलना क्या ससार का बडे से बडा ज्ञानी और अपने को महान् बुद्धिमान मानने वाला व्यक्ति कर सकता है? ज्ञान के अथाह सागर के मुकाबले मे उसका ज्ञान एक बिन्दु के समान भी नही हो सकता। इसलिये ज्ञान का अभिमान केवल अपना उपहास करना मात्र ही है। जैसा कि कहा जाता है—

"अल्पविद्यो महागर्वी"

जो थोडा सा पढ लिख जाता है, वह महान अहकारी होता है।

और इसके विपरीत जो सच्चा और सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह अपने समस्त कर्मों का क्षय करने मे समर्थ हो जाता है। कहा भी है—

'ज्ञानं लब्ध्वा परं शांतिमचिरेणाधिगच्छति।"

—भगवद् गीता

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कर लेने पर यह आत्मा अजर-अमर शांति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेती है।

तो बधुओ, मैं बता यह रहा था कि इस ससार-सागर मे मान अथवा अहकार फेन के समान है, जो धन, बल रूप और विद्या आदि की भावनाओ के साथ उठता रहता है।

अंत नहीं है जिनका

पद्य मे आगे कहा गया है —

तृष्णा की वेल मच्छ, छोटा-मोटा रंक राय,
परिवार मच्छ कर्म डूगरा जणाया है।

अर्थात् इस ससार मे तृष्णा की वेल मानो भयकर तरगे उठा करती हैं। तृष्णा से आप अपरिचित नही है।

प्राय यह पद्य बोलते भी हैं —

धर्म विना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान।
कोउ न सुखी ससार मे, सब जग देख्यो छान॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी इस ससार मे दुखी है। जिसके पास धन नही है, वह उसके अभाव मे दुखी है और जिसके पास है, वह उसे अधिकाधिक बढाने की चिन्ता मे घुलता है। तृप्ति के अभाव मे क्या होता है—

इच्छति शती सहस्र, सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाधिपस्ततो राज्य, राज्याच्च स्वर्गमीहते॥

सौ वाला हजार की कामना करता है, हजार वाला लखपति बनने के मनसूबे बनाता है, लखपति राज्य की लालसा करता है और जिसे राज्य प्राप्त हो जाता है वह स्वर्ग पाने की इच्छा करने लगता है। इससे साबित होता है—

आकाक्षितानि जन्तूना, सम्पद्यन्ते यथा यथा।
तथा तथा विशेषाप्तौ, मनो भवति दुखितम्॥

मनुष्य को ज्यो-ज्यो उसके अभीष्ट पदार्थ मिलते जाते है, त्यो-त्यो वह अधिकाधिक की इच्छा करता चला जाता है। और परिणाम स्वरूप उसका हृदय सदैव अतृप्त और दुखी बना रहता है।

स्पष्ट है कि सागर मे जिस प्रकार लहरें एक के बाद एक आती ही चली जाती हैं, उनका कभी अन्त नही आता। इसी प्रकार संसार-सागर मे तृष्णा की तरगे भी अनन्त हैं, जो एक के बाद एक उठती रहती हैं। कभी समाप्त नही होती।

समुद्रिक जन्तु

अगली बात है द्रव्य सागर मे मच्छ व छोटी-मोटी मछलियो के होने की। समुद्र मे ह्वेल जैसी इतनी वडी और शक्तिशाली मछली होती है कि वह अपनी पूँछ के झपाटे से ही वडे-वडे जहाजो को उलट देती है। और उसी मे अत्यन्त छोटी-छोटी मछलिया और सूक्ष्म जीव-जन्तु भी होते हैं। जो अपना जीवन-यापन भी वडी कठिनाई से करते हैं, क्योकि उन्हे वडे-वडे मच्छो के द्वारा खा लिये जाने का भय रहता है।

यही हाल ससार-सागर का है। इसमे अपनी उदरपूर्ति भी कठिनाई से कर सकने वाले महारक व्यक्ति हैं और अपार वैभव के स्वामी सेठ साहूकार और राजा-महाराजा भी। तथा वे जिस प्रकार वडे मच्छ छोटी मछलियो को निगलते रहते हैं उसी प्रकार अपनी तृष्णा-पूर्ति के लिये वडे लोग गरीवो को नाना-प्रकार से सताते है और जीवन भर अपनी सम्पत्ति अधिक से अधिक वढाने का प्रयत्न करते हैं।

तो इस ससार-सागर मे मच्छ व मछलियो के समान ही समस्त प्राणी अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते रहते हैं, और जव तक जीवित रहते हैं, इसी मे गोते लगाते रहते हैं, विलविलाते रहते है।

पद्य मे आगे कहा गया है—जिस प्रकार द्रव्य समुद्र मे, निशान किये हुए पहाड होते हैं तथा जहाज चलाने वाले चालक अपने जहाज को उनसे वचा कर चलाते हैं, उसी प्रकार भाव-समुद्र मे आठ कर्म-रूपी पहाड हैं जिनसे वच कर विवेकी पुरुप अपनी जीवन-नौका को खेते है।

अव देखना है —

मिथ्यामति संखोलिया, तीरथ रतन रूप,
माया-रूप भमरा के माही डूव जाय है।

कहते हैं— द्रव्य समुद्र मे शख होते हैं जो फूक देते ही वजने लगते हैं तो उस समुद्र मे शख कौन से हैं ? इसका समाधान भी कवि ने कर दिया है।

सम्पूर्ण कुंभो न करोति शब्दम्

मिथ्यात्वी और धर्मान्ध पुरुप इसमे शख के समान है, जो लोगो को गुमराह करते हैं। धर्म के नाम पर अपने आपको महापडित कहने वाले पाखडी व्यक्ति वुलंद आवाज मे क्रिया-काडो का मिथ्या उपदेश देकर अन्य लोगो का भी धर्म भ्रष्ट कर देते हैं। इतना ही नही, कभी-कभी तो ऐसे लोग घोर अत्याचार और अन्याय का कारण भी वनते हैं।

धर्म के स्वरूप को न समझते हुए भी अपने आपको धर्मात्मा साबित करना निकृष्टता का तथा मूढता का परिचायक है । ऐसे व्यक्ति अज्ञानी और मूर्ख होते हैं तथा ज्ञान के अभाव मे वे अपना प्रभाव लोगो पर अधिक बोल कर ही डालना चाहते हैं । कहा भी है —

"विद्याविहीना बहुभाषका स्यु ।"

ज्ञान से रहित मूर्ख मनुष्य भी अधिक वाचाल हुआ करते हैं । जिस प्रकार खाली घडा अधिक शब्द करता है, उसी प्रकार बुद्धिहीन और मूढ प्राणी अधिक और निरर्थक बकवाद करते हैं । वे शख के समान साबित होते हैं ।

किन्तु कवि कहता है कि इस सागर मे सभी मिथ्यामति और बकवादी हो, ऐसी बात कतई नही है । द्रव्य-समुद्र मे जिस प्रकार शख के साथ-साथ रत्न भी होते हैं, इसी प्रकार भाव-समुद्र मे भी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ये चारो ही तीर्थ रत्न के समान होते हैं । क्योकि इनके आधार पर ही धर्म टिकता है । पर इतने महत्वपूर्ण होने पर भी ये अपनी प्रशसा कभी नही करते तथा शख के समान गू ज-गूं ज कर अपना प्रभाव औरो पर नही डालना चाहते । तभी कहा जाता है —

'हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल ।'

बाहर कुछ और अन्दर कुछ

अब समस्या हमारे सामने आती है 'भवर' की । वडी-वडी नदियो और समुद्रो मे ऐसे भयकर भवर होते हैं जो ऊपर से दिखाई नही पडते किन्तु अगर प्राणी उसमे फस जाय तो उसका जीवित निकलना कठिन हो जाता है ।

प्रश्न उठता है— ससार-सागर मे भी ऐसे भवर हैं क्या ? कवि ने उत्तर दिया है कि- -है । इस सागर मे माया-रूपी जबर्दस्त भवर हैं जो कपटी मनुष्यो के हृदय मे छिपे रहते हैं ।

कपटी व्यक्ति के चगुल मे फसा हुआ व्यक्ति समझ नही पाता कि उसके साथ धोखा हो रहा है अर्थात् ऊपर से मित्रता और स्नेह-सम्बन्ध रखते हुए भी दूसरा व्यक्ति इसकी जडे खोद रहा है यह वह नही जान पाता । किन्तु कभी भडा-फोड हो जाने पर फिर कोई भी मायावी का विश्वास नही करता । कहा भी है —

"मायावशेन मनुजो जन-निन्दनीय ।"

कपट का व्यवहार करने से मनुष्य जन-साधारण के लिये निन्दा का पात्र बनता है। उसका कोई विश्वास नही करता।

कबीर ने भी कहा है —

कबिरा तहां न जाइये, जहां कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन स्वेत॥

अर्थात् जिस प्रकार अनार का दाना ऊपर से लाल दिखाई देता है और मीठा भी लगता है, किन्तु वही अन्दर से कडा स्वाद रहित और सफेद होता है, उसी प्रकार मायावी या कपटी व्यक्ति बाह्य-व्यवहार मे हित चिन्तक दिखाई देने पर भी मन मे हानि पहुँचाने की भावना रखता है। इसलिये उसके समीप नही जाना चाहिये तथा उससे मित्रता करने का प्रयत्न नही करना चाहिये।

माया अपना कार्य बडी सूक्ष्मता और सावधानी से करती है। यह प्रत्येक व्यक्ति के पेट मे घुसकर अपनी कैंची चलाती हैं अत बाहर से लोग इसे पहचान नही पाते। हमारे आचार्यों ने माया के चौदह प्रकार बताए हैं। किन्तु उन सभी का वर्णन समयाभाव से नही किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप दो-तीन आपके सामने रखता हू—

माया के चौदह प्रकारो मे से एक है—'वलय', अर्थात् दूसरो को जाल मे फसाने के लिये मधुर वचन बोलना। दूसरा है—'जिह्मता', यानी कुटिलता पूर्वक ठगना। और तीसरा है—'गूहनता'— जिसका अर्थ है, अपने स्वरूप को छिपाना।

मायावी पुरुष इन्ही सबका प्रयोग करता है, और अपने कुटिल स्वरूप को छिपाकर दूसरो से मीठी-मीठी बातें करता हुआ उन्हे अपने जाल मे फँसा कर ठग लेता है। किन्तु वह यह भूल जाता है कि सासारिक प्राणियो को वह जितना ठगता है, उसके मुकाबले मे स्वय अधिक ठगा जाता है। क्योकि —

'माया करंडी नरकस्य हंडी तपो विखडी सुकृतस्य भंडी।"

—शुकबोध

माया नरक का भाजन है, तपस्या को नष्ट करने वाली टोकरी है और श्रेष्ठ कार्यों को धूल मे मिलाने वाली भी यही माया ही है।

इस तरह हम देखते है कि माया दुर्गति के कारण है। यह जीवन का विकार और ऐसा विष है जो एक ही भव का नाश नहीं करता अपितु जन्म-

जन्म तक पीडा पहुंचाता है और जीव के ससार-मुक्त होने मे बाधक बनता है।

महात्मा कबीर ने सत्य कहा है —

मैं जानू हरि से मिलू, मो मन मोटी आस।
हरि बिच डारे अतरा, माया बड़ी पिचास ॥

माया किस प्रकार अपना कार्य करती है यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

वाराणसी मे मायादित्य नामक एक अत्यन्त दुर्गुणी और कृतघ्न वणिक रहता था। तथा उसी नगर मे स्थाणु नामक एक अन्य वणिक भी रहता था, जो अत्यन्त सरल, प्रियवादी और दयालु था। किन्तु पूर्व पुण्यो के नष्ट हो जाने से अत्यन्त दरिद्र हो गया था।

दोनो वणिको की सयोग मे मित्रता हो गई। स्थाणु सरल होने के कारण मायादित्य के कपटी हृदय की पहचान नहीं कर सका। कुछ दिन बाद वे दोनो धन कमाने की इच्छा से विदेश की ओर चल पडे। तथा दक्षिण दिशा के प्रतिष्ठानपुर शहर मे पहुँचे।

वहा पर उन्होने बहुत मेहनत करके पाच-पाच हजार स्वर्ण-मुद्राएँ अर्जित की और अपने घर लौटने का विचार किया। मुद्राओ को रखने की कठिनाई के कारण उन्होने उनके बदले मे पाच-पाच रत्न ले लिये।

चलते-चलते वे एक गाव के समीप आए और एक कुए पर ठहर कर कुछ विश्राम और भोजन करने का निश्चय किया। खाद्य-सामग्री लाने के लिये गाव मे जाने की आवश्यकता थी अत स्थाणु वहा से रवाना हुआ। साथ मे जोखिम ले जाने से क्या फायदा ? यह सोचकर सरलहृदयी स्थाणु ने अपने पाच रत्नो की थैली मायादित्य को रखने के लिए दे दी, और स्वय गाव की ओर रवाना हो गया।

एकान्त पाते ही मायादित्य की माया जाग उठी। उसने दसो रत्न अपने अधिकार मे करने के लिए भोले स्थाणु की थैली मे असली रत्नो के स्थान पर पाच नकली रत्न रख दिए। और उसके वापिस लौटने पर थैली उसे सौंप दी। स्थाणु को तनिक भी सदेह नही हुआ।

किन्तु मायादित्य इतना करके भी सतुष्ट नही हुआ। वह विचार करने लगा कि इस समय स्थाणु को रत्नो के विषय मे पता नही चला है, पर अपने शहर मे ज्योही वह रत्न भुनाने जाएगा, मेरे षड्यन्त्र का भडाफोड हो

जाएगा। अत उसने प्यास लगने का बहाना करके स्थाणु को कुए से पानी लाने के लिए भेज दिया। और ज्योही स्थाणु कुए से पानी खीचने लगा, उसे धक्का देकर अदर गिरा दिया।

तत्पश्चात् यह सोचकर कि अब स्थाणु की मृत्यु निश्चित है, वह निश्चित होकर दसो असली रत्न लिए हुए मार्ग पर बढ गया। किन्तु उसके पाप का फल तुरन्त ही मिलना था अत रास्ते मे चोर मिल गए और मायादित्य से उन्होने दसो रत्न छीन लिए।

सयोगवश चोर चलते-चलते उसी कुए के पास आकर विश्राम के लिये ठहरे, जिसमे स्थाणु गिरा था। वह जीवित था। और आहट पाते ही उसने सहायता के लिये पुकार की। चोरो ने उसे कुए से बाहर निकाला तथा उसके कुए मे गिरने का कारण पूछा। स्थाणु ने अपनी कहानी उन्हे ज्यो की त्यो सुनाई। कहते है कि क्रूर से क्रूर व्यक्ति के हृदय मे भी कही न कही प्रेम और दया की भावना दुबकी रहती है। चोरो के हृदय मे भी दया का सचार हुआ और स्थाणु को यह बताते हुए कि उन्होने उसके मित्र को लूट लिया है, पाच रत्न स्थाणु को दे दिए।

स्थाणु नगर की ओर प्रसन्नता पूर्वक चल दिया। पर मार्ग मे उसे भटकता हुआ मायादित्य पुन. मिल गया। स्थाणु बडे ही उदार हृदय का और दयालु था। मायादित्य को धन से कोरा देखकर उसे दया आ गई और उसने बडे प्रेम से अपने हिस्से के पाच रत्नो मे से ढाई रत्न उसे दे दिये और कहा—"भाई! मन मे कोई मलाल मत रखो, प्रसन्नता पूर्वक अपने घर चलो।"

दोनो मित्र वहा से रवाना तो हो गए किन्तु अब मायादित्य को विचार आया कि उसने कैसा महान पाप किया है। मित्र के साथ कपट तो किया ही, उसे मृत्यु के मुख मे डालने से भी नही चूका। इस घोर पाप के फल स्वरूप उसे अनन्त काल तक नर्क की यातनाएँ भोगनी पडेगी।

इस विचार के आते ही उसे घोर पश्चात्ताप होने लगा और उसके परिणाम स्वरूप प्रव्रज्या लेकर आत्म-शुद्धि के मार्ग की ओर बढ गया।

पश्चात्ताप पाप-मुक्ति का-मार्ग

पश्चात्ताप हृदय मे प्रज्वलित होने वाली वह अग्नि है, जिसमे पूर्वकृत पाप तो भस्म होते ही हैं, भविष्य मे भी पापो का जन्म होना रुक जाता है।

एक पश्चिमी विद्वान ने कहा भी है —

"Confess thy guilts and sins, thus shalt thought light."

अपने दोषो और पापो को प्रकट करो, इसमे तुम्हें प्रकाश मिलेगा।

अस्तु, माया जीवन को नष्ट कर देने वाली पिशाचिनी के समान है, अत इसके चगुल से बचकर मनुष्य को अपने कुकर्मों का प्रायश्चित्त करते हुए नए सिरे से प्रशस्त जीवन-यापन करने का प्रयत्न करना चाहिये। "जब जागे तभी सवेरा" इस बात पर विश्वास करते हुए, जब भी आत्मा जागृत हो जाय, कल्याणकारी मार्ग पर बढ जाना चाहिये।

एक फारसी भाषा के कवि ने कहा है —

उमरें दुन्या चन्द रोजा वेश नेस्त।
गाफल आं कस कि पेश अन्देश नेस्त॥

इस ससार मे मनुष्य अल्प-काल के लिये आया है। वह प्राणी अत्यन्त अचेत है जो अपने शेष जीवन की चिन्ता नहीं करता।

तो बधुओ, अब हमे विचार करना है कि जिस समुद्र मे माया-रूपी भँवर प्राणी को चक्कर मे डालने वाले हैं, कर्म रूपी पहाड अपनी टक्करों से जीवन को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं, उसमे आधार किसका है ? किसका सहारा लेकर इसे पार किया जाय ?

इसका समाधान श्री तिलोकऋषि जी महाराज ने अपने पद्य की अतिम लाइनों मे किया है —

कहत तिलोक धर्म, द्वीप मोक्ष तीरवर,
सजम जहाज गट्टी शिवपद पाय है।

अर्थात्—इस भव-सागर से पार होने के लिये हमे सयम-रूपी जहाज मे बैठना चाहिये, तथा धर्म-रूपी द्वीप पर विश्राति लेते हुए मोक्ष-रूपी तीर पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये।

जीवन का सौन्दर्य

सयम जीवन का आतरिक सौन्दर्य है। इसके अभाव मे बाह्यरूप कितना भी निखारा जाय, चाहे जितने शृगार-प्रसाधनो का उपयोग करके उसे सुन्दर दिखाने का प्रयास किया जाय, सब निरर्थक है। उससे मनुष्य सुन्दर नही कहला सकता। सौन्दर्य को पूर्ण मात्रा मे प्राप्त करने के लिये उसे सयम और नियम मे आबद्ध होना आवश्यक है।

संयम का अर्थ है— आत्म निग्रह करना, मन, वचन और शरीर का नियमन करना तथा इन्द्रियो को अपने कब्जे मे रखना। भगवान महावीर का कथन है —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य ॥

अपनी आत्मा का दमन करना चाहिये। वास्तव मे अपने आपका दमन करना दु साध्य है, किन्तु जो ऐसा कर लेता है, वह इस लोक और परलोक दोनो मे सुखी होता है।

वास्तव मे दूसरो पर शासन करना सरल है पर अपने आप पर शासन करना कठिन। जो अपने आप पर शासन करने मे समर्थ होता है, वही सच्चा शासक कहला सकता है। सेठ सुदर्शन के विषय मे आप जानते ही हैं कि अपने मन व इन्द्रियो पर काबू पाने के कारण ही उन्होने सूली को सिंहासन के रूप मे बदल लिया। पितृभक्त भीष्म ने अपने पिता की प्रसन्नता के लिये राज का त्याग तो किया ही, विवाह न करके जीवन भर के लिये ब्रह्मचर्य व्रत अगीकार कर लिया। भोगो का त्याग करने वाले ऐसे महापुरुष विरले ही होते है। पर जो होते हैं, वे इस लोक मे तो यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करते ही हैं, परलोक मे भी उच्च-गति और अव्याबाध सुख की प्राप्ति करते हैं।

जो साधु पुरुष सयमी जीवन को अपना लेता है, तथा उसमे रहे हुए अद्भुत व अनुभूति गम्य आनन्द को प्राप्त कर लेता है, उसे इन्द्रियजन्य सुख नितान्त नीरस और निस्सार प्रतीत होते हैं। सयममय जीवन यापन करने वाले श्रमण का जीवन कितना मस्ती से भरा हुआ निराकुल होता है, यह उन्ही के शब्दो मे जाना जा सकता है। यथा :—

न च राजभयं न च चौरभयं,
न च वृत्तिभय न नियोगभयम्।
इहलोक सुख परलोक हितम्,
श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥

कहा है—अहो! श्रमणत्व अर्थात् साधुत्व कितना रमणीय है? परिग्रह न होने से न इसमे राजा के द्वारा कुछ छीने जाने का भय रहता है, और न चोरों के द्वारा चुराये जाने का। कुटुम्ब और परिवार वालो को तो दिन-रात आजीविका की फिक्र बनी रहती है, पर साधु को क्या? भिक्षा मिल गई तो पेट का भाडा चुका दिया और नही तो अनशन-तप ही कर लिया।

संसारी व्यक्तियो को धन और जन के वियोग का भी भय बना रहता है, किन्तु साधु तो स्वेच्छा से सबका त्याग कर देते हैं तथा समस्त पदार्थों और परिजनो पर से ममत्व हटा लेते हैं। अत उन्हे किसी भी प्रकार के वियोग का भय नही सताता। अधिक क्या कहा जाय ? श्रमणत्व इस लोक मे तो निराकुलता एव सतोप-रूपी सुख प्रदान करने वाला होता ही है, परलोक के लिये भी हितकारी बनता है। अत वास्तव मे ही सुन्दर और रमणीय है।

जो व्यक्ति ऐसे कल्याणकारी सयम रूपी जहाज को ग्रहण कर लेता है तथा धर्म का आधार लेकर इस भव-सागर को पार करने का प्रयत्न करता है, वह निश्चय ही मुक्ति-रूपी किनारे पर पहुच जाता है। उसे फिर किसी भी प्रकार की चिन्ता और भग नही रहता। अव्याबाध सुख का नया सागर उसके समक्ष हिलोरें लेता रहता है।

तो बधुओ, आप भली-भाति समझ गए होगे कि द्रव्य-समुद्र की भाति ही यह ससार-समुद्र है जो कि कभी नही भरता। अनन्त प्राणी इसमे रहते हैं और अनन्त ही और भी हो जायँ तब भी यह ज्यो का त्यो बना रहता है। ससार के सभी प्राणी इसमे नाना प्रकार के कष्टो का अनुभव करते हुए अपना जीवन यापन करते हैं। जैसा कि एक सस्कृत के श्लोक मे कहा गया है —

तनोर्दुःख भुंक्ते विविधगदज कश्चन जनः,
तदन्य पुत्रस्त्री विरहजनित मानसमिदम्।
परो दारिद्र्योत्थं विषसमविप च सहते,
न ससारे कश्चिद् सकलसुख भोक्ताऽस्ति मनुज ॥

इस पद्य मे कवि श्री शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज ने ससार का चित्रण किया है। कहा है—इस ससार मे कोई व्यक्ति वृद्धावस्था या रोगादि के कारण शरीर से दुखी है, कोई स्त्री पुत्रादि स्वजनो के वियोग से दुखी है, कोई अपनी दरिद्रावस्था के कारण महान दुख का अनुभव कर रहा है और कोई अनेकानेक अन्य विपत्तियो का सामना कर रहा है। आशय यह कि कोई भी व्यक्ति इस जगत मे सपूर्ण सुख का अनुभव नही करता, कोई भी मनुष्य सुखी नही है।

इसलिये हमे इस ससार के अनित्य और मिथ्या सुखो से मुँह मोडकर शाश्वत सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना है। पर यह तभी हो सकेगा जबकि हमारा जीवन सयमित बनेगा कषायो से रहित होगा और निरन्तर आत्म-शुद्धि की ओर बढता जाएगा।



८

कोल्हू कब तक चलाना है ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

श्री अन्तगढ सूत्र मे आप ने अभी श्रेणिक राजा की तेईस रानियो मे से काली रानी का वर्णन सुना। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर वह विचार कर रही है—'सासारिक पदार्थों से सुख-प्राप्ति का प्रयत्न करते तो अनेक जन्म बीत गए, पर न तृप्ति हुई और न सच्चे सुख का अनुभव ही हुआ। अब तो मेरे लिये यही उत्तम है कि इन सुखाभासो को ठोकर मार दूँ और संयम ग्रहण करके सच्चे व शाश्वत सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करूँ। तभी यह जीवन सफल हो सकेगा। सासारिक कार्य कभी समाप्त होने वाले नही हैं, इनके झमेलो मे पड़े रहने से तो यह दुर्लभ जीवन निरर्थक चला जाएगा।'

कोल्हू का बैल

काली रानी के विचार यथार्थ है। जिस प्रकार कोल्हू चलाने वाला बैल आँखें बँधी होने के कारण इधर-उधर दृष्टिपात किये बिना, निरतर कोल्हू चलाए जाता है इसी प्रकार मनुष्य भी लोक-परलोक, धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य का

विचार किये विना ही अहर्निश गृहस्थी के कार्यों मे जुटा रहता है। अन्तर दोनो मे यही है कि बैल अपनी आँखो पर अनिच्छा से पट्टी बँधवाता है, और मानव स्वेच्छा से अपने ज्ञान-चक्षु बन्द किये रहता है।

ध्यान मे रखने की बात है कि जिस प्रकार दिन भर चलने के पश्चात् भी बैल वही का वही रहता है, दो कदम भी अपने स्थान से आगे नही बढ पाता, उसी प्रकार मानव प्रात काल से रात्रि तक दौड-धूप करके भी अपनी मजिल मे रच-मात्र भी प्रगति नही कर पाता।

मजिल कहाँ है ?

क्या आप जानते हैं, मानव की मजिल कौनसी है ? कहाँ जाना है ? तथा अनन्त काल मे भटकते हुए जीव की यात्रा कहा जाकर सम्पन्न होगी ?

इस विषय मे लोगो की तरह तरह की मान्यताएँ है। जो व्यक्ति पुद्गलानन्दी हे, बहिरात्मा हैं, जिन्हे परलोक पर आस्था नही है और आत्म-तत्त्व का भान नही है, वे अपने जीवन की सफलता सासारिक सुखो का अधिक से अधिक उपभोग करने मे मानते हैं तथा उनकी मजिल इस शरीर के नष्ट होने तक ही है।

किन्तु आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, धर्म अधर्म और पुण्य-पाप पर जिनका विश्वास है, वे अपनी आत्मा की मजिल जन्म और मरण से मुक्त हो जाने को मानते हैं। हमारे सभी आस्तिक शास्त्र इस विषय मे एकमत है कि मानव-जीवन का उच्चतम उद्देश्य अनन्त और अव्याबाध सुख तथा अक्षय शाति की प्राप्ति करना है। और जहा देवता भी केवल चार गुण-स्थान तक पहुच पाते हैं, वहाँ मनुष्य को चौदहो गुणस्थान पार करके परमात्म-पद तक पहुचना है। वही उसकी वास्तविक मजिल है, उसका यथार्थ लक्ष्य है। कहा भी है —

"आत्मन्येव लयो मुक्तिर्वेदान्तिकमते मता।"

—विवेक विलास

- सभी प्रकार के बधनो से विमुक्त होकर आत्मा का पर-ब्रह्मरूप ईश्वरीय शक्ति मे विलीन हो जाना, यही वेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्ष-अवस्था है।

इसलिये मनुष्य का समस्त पुरुषार्थ, सभी कर्म और सम्पूर्ण साधना ऐसी होनी चाहिये जो उस अवस्था की प्राप्ति मे सहायक हो सके।

किन्तु खेद की बात है कि मानव इस विराट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये

तनिक भी प्रयत्न नही करता, केवल दुनियादारी के धधो मे कोल्हू के बैल की तरह फसा रहता है। ऐसे व्यक्तियो के लिये फारसी के एक कवि का कथन है —

ऐ गिरफ्तारे पाए वन्दे अमाल।
दिगर आजादगी मवन्द खयाल।
गमे फ़रज जन्दो नानो जमाओ कूत।

कहा गया है – 'ऐ मनुष्य ! परिवार, खान-पान वेश-भूपा, आजीविका तथा अन्य सासारिक पदार्थों मे आसक्त रहकर कभी वन्धन मुक्त नही हो सकता। क्योकि इन पदार्थों की चिन्ता स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति मे बाधक होती है।

यह अनुभव सिद्ध बात है कि सासारिक कार्य कभी समाप्त नही होते। गृहस्थी की जरूरते पूरी करते-करते भले ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाय, वे पूरी तरह नही हो सकती। मरते-मरते भी मनुष्य को यह महसूस होता रहता है कि अमुक कार्य रह गया और अमुक चिन्ता नही मिटी। जीवन के प्रारम्भ मे उसे माता-पिता के और अपने भरण-पोपण की फिक्र रहती है उसके पश्चात् पुत्र-पुत्रियो के विवाह आदि की और उसके बाद पौत्र-पौत्रियो से सम्बन्धित चिन्ताए सताने लगती है। तथा चिन्ताओ का यह सिलसिला उसके जीवन के अत तक चलता ही रहता है। साराश यही है कि उसके घर गृहस्थी के कार्यों का कभी अत नही आता।

आज का हमारा विपय भी घर के खड्डे की कभी पूर्ति न होने को लेकर ही है। अब तक हमने कभी न भरे जाने वाले छ खड्डो के विपय मे विचार किया था। आज हमारे सामने सातवा खड्डा घर का आया है, कि उसे भी भरने का चाहे जितना प्रयत्न करो, खाली ही रहता है।

समय नहीं है ?

सासारिक प्राणी घर की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिये देश-विदेश मे घूमता है। प्रात काल जागने से लेकर रात्रि को सोने के समय तक उसी चक्कर मे पडा रहता है। अगर उसे दस-पाच मिनिट के लिये कहे तो टके सा जवाब दे देता है—'क्या करें ? समय ही नही मिलता।"

कितने आश्चर्य की बात है कि चौवीस घटे दुनियादारी के काम करते हुए भी वह केवल पाँच-दस मिनिट अपनी आत्मा के कार्य मे नही लगा सकता। सुबह उठने के साथ ही घर-ससार के कार्य करना प्रारम्भ कर देता

है, पर रात को सोते समय भी कहता है—अरे ! अमुक कार्य करना जरूरी था, रह गया खैर जल्दी उठकर कर लेंगे।' आशय यह है कि दिन भर काम किया तब भी एक काम सिरहाने लेकर ही सो रहा है। ये ससार के कार्य कब पूरे होगे ? कभी नही, कामो के झमेले मे मन इसी प्रकार उलझा रहेगा और जीवन धीरे धीरे समाप्त हो जाएगा।

एक पजाबी कवि ने इसीलिये मनुष्य को चेतावनी देने का प्रयत्न किया है —

इस जग दिया भूल-भुलैया तो मन यतना दे नाल बचा बीवा !
दुख नरका दे समझा एनं, सत धर्म दा पाठ पढ़ा बीवा !
भव-सागर विघ्ना भरमा ए, ऐथे विरला विरला तरया ए,
जिन्हा राह ओसदा फाड़या ए, ओहता जदि पार उतर बीवा !

कहा है—प्यारे भाई ! इस जग-रूपी भूल-भुलैया मे फसने से अपने मनको सावधनी से बचा। तथा नरको मे भोगे जाने वाले दुखो को समझाकर सच्चे धर्म का सबक दे।

अपने मन को बता कि यह ससार-समुद्र अनेको विघ्न बाधाओ से भरा है, विरले भव्य प्राणी ही इसे पार कर पाते है। और केवल वही इसके उस पार पहुच पाते हैं, जो धर्म का आधार ग्रहण करते हैं। अर्थात् सासारिक कार्यों मे लगे रहने वाले और भोग-विलासो के साधन जुटाने मे रत रहने वाले व्यक्ति नाना प्रकार के पापो का उपार्जन करके नरक की ओर प्रयाण करते हैं, यानी अपने पापो के बोझ के कारण भव-सागर मे डूब जाते हैं। किन्तु केवल अपना कर्तव्य पूरा करते हुए ससार से उदासीन रहने वाले प्राणी, जो कि भविष्य का खयाल रखते हुए अपना जीवन सयमित और धर्ममय बनाए रखते हैं, वे कभी न कभी अपने उच्चतम लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं।

इसीलिये हमारा कहना है—घर का खड्डा तो कभी भरने वाला नही है। दिनरात लगे रहकर अपना सम्पूर्ण जीवन भी इसे भरने मे व्यतीत कर दिया जाय, तब भी यह ज्यो का त्यो खाली ही रहेगा, और आपका श्रम निरर्थक साबित होगा। अत क्यो न थोडा समय बचाकर उसे आत्मा के लाभ मे लगाया जाय ?

हम यह नही कहते कि आप सब साधु बन जाय ! हमारा कहना तो यही है कि जिस प्रकार पेट को भोजन देने के लिये आप कितना भी कार्य क्यो न हो, वक्त निकाल ही लेते है। इसी प्रकार आत्मा को खुराक देने के

लिए भी आपको हर हालत मे कुछ न कुछ समय निकालना चाहिये ताकि आत्म-मुक्ति की ओर भी शनै शनै बढा जा सके। अन्यथा तो, जीवन भर कुछ न कुछ करते रहने पर भी अन्त मे आप उसी स्थान पर अपने आपको पाएगे जहाँ पर अनन्त काल से हैं।

मुसीबत में

विचार करने की बात है कि ससार मे रहते हुये आपको कितनी परेशानिया और मुसीबतें उठानी पडती हैं? घर मे शान्ति से रहना चाहते हैं तो घरवालो की तथा घरवाली की हाजिरी भी बराबर बजानी पडती है, और बाहर निकलते हैं तो धन कमाने के पीछे अपने मालिको या अफसरो की नौकरी करनी होती है।

कहिए? मेरी बात गलत है क्या? घरवाली की नौकरी की बात सुनकर हो सकता है सबके सामने आपको अपनी मान हानि महसूस होती हो, पर हृदय मे तो उसकी सत्यता पर विश्वास करते ही होगे।

अरे भाई! श्रीमती जी को प्रसन्न और सतुष्ट रखे बिना क्या आप घर मे सुख से रह सकते हैं? कभी नही, जब तक उनकी फर्माइशें अधूरी रहेगी, रोटी का कौर आपके गले मे अटकता रहेगा।

मराठी भाषा मे कहा गया है —

स्त्रियेला करावे वस्त्रे अलंकार, द्रव्य देता फार प्रीति लागे।
तिचे समाधान न करिता वोखटे, कड कडोनी वोटें मोडीत से॥

स्त्रियो को कीमती वस्त्राभूषण पहनाओ और अच्छे भोजन के साधन जुटाए रहो तो वह पतियो से प्रेम रखती हैं, वरना नित्यप्रति घर मे खटपट चलती रहती है।

ऐसी गुणवान नारिया तो विरली ही होती है जो घर की प्रत्येक स्थिति मे सतुष्ट रहती है तथा प्रत्येक मुसीबत मे पति का साथ देती हैं। कहा भी है :—

कार्येषु मन्त्री, करणेषु दासी, भोज्येषु माता, रमणेषु रम्भा।
क्षमानुकूला क्षमया धरित्री भार्याच षाडगुण्यवतीह दुर्लभा॥

—काम काज मे मन्त्री के समान सलाह देने वाली, दासी के समान सेवा करने वाली, माता के समान प्रेम से भोजन कराने वाली, शयन के समय रम्भा के समान सुख प्रदान करने वाली, धर्म के अनुकूल रहने वाली, तथा

पृथ्वी के समान क्षमादि गुणो को धारण करने वाली, ऐसी छ गुणो से युक्त पत्नी सुदुर्लभ होती है।

अधिकाश तो ऐसी ही पाई जाती हैं जिन्हे घर मे रहनेवाला वस्तु का अभाव और वस्त्र अलकार आदि शृगार-प्रसाधनो का अभाव सह्य नही होता। तथा इन सबके लिए नित्य चख चख होती रहती है। अगर चार मेहमान घर पर आ गए और ईंधन नही हुआ तो श्रीमान् जी को सीधा सुनना पडता है—चूल्हे मे अपने हाथ-पैर लगाऊँ क्या ? या कि 'तुम्हारे साथ व्याह करके मा-बाप ने मुझे कुये मे पटक दिया।'

अब बोलिये साहब ! ऐसे अवसरो पर कैसी गुजरती है ? किस प्रकार उन्हे मना-थपाकर आपको स्थिति सुधारनी पडती है ? पर ऐसा न करें तो उपाय भी क्या है ? घर मे तो रहना ही है न ?

एक दो उदाहरण देखिये—

तुम कितनी अच्छी हो !

सत तुकाराम अत्यन्त निर्धन थे। एक बार उनके खेत मे गन्ने तैयार हुए। तुकाराम जी ने गन्ने काटे और उन्हे बाँधकर सिर पर रखे हुए अपने घर की ओर रवाना हुए।

किन्तु रास्ते मे बहुत से बच्चे उनके पीछे पड गए और गन्ने माँगने लगे। तुकाराम जी तो प्राणीमात्र मे भगवान का रूप देखते थे अत मना कैसे करते ? उन्होने सारे गन्ने बच्चो मे बाँट दिये और बचा हुआ एक गन्ना लेकर घर पर आए।

उनकी पत्नी रखुमाई बडी गुस्सैल और चिडचिडे स्वभाव की थी। पति को खेत से एक गन्ना लाते देखा तो वह सारी बात समझ गई। आग बबूला होकर उसने तुकाराम जी से गन्ना छीन लिया और उनकी पीठ पर दे मारा पीठ पर पडते ही गन्ने के दो टुकडे हो गए।

सत तुकाराम क्रोधित होने के बदले हँस पडे। बोले—'कितनी अच्छी हो तुम। हम दोनो के लिये गन्ने के दो टुकडे मुझे करने पडते। पर यह काम तुमने मेरे विना कहे ही कर दिया।'

सत तुकाराम की पत्नी के समान ही कर्कशा पत्नी सुकरात की भी थी। एक दिन किसी बात पर वह उनसे झगड पडी।

पहले तो वह सुकरात को खूब गालियाँ सुनाती रही। पर जब उनसे जी न भरा तो हाथ मे लिया हुआ वर्तन घुला राख का गदा पानी उनके ऊपर डाल दिया।

सुकरात मुस्कराते हुए बोले—"मुझे मालूम था कि तुम गरजने के बाद वरसोगी भी अवश्य।"

तो बधुओ, ये उदाहरण ससार-प्रसिद्ध व्यक्तियो के हैं। पर यही कहानी घर-घर की है। आप घर के खड्डे को भरने की अर्थात् घर के अभावो को पूरा करने की कितनी भी कोशिश क्यो न करे, अभावो की एक नई तालिका आपके सन्मुख तैयार रहेगी और कलह का कारण बनेगी। विवाहित जीवन का प्राय यही परिणाम होता है।

तभी सत तुलसीदास जी ने विवाह की खुशी मे बावले व्यक्ति की सही दशा का वर्णन किया है—

फूल्यो फूल्यो तू फिरे, काल्ह हमारो व्याह।
तुलसी गाय बजाय के, दियो काठ मे पाँव॥

गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो क्या यह बात सही नही है? कैदखाने मे कैदी को जो बेडियाँ पहनाई जाती हैं, वे तो किसी निश्चित काल तक के लिये होती हैं, और उसके बाद वह उनसे छूट जाता है। किन्तु विवाह करने के पश्चात् मनुष्य जिस गोरख-धन्धे मे फँसता है, जीवन के अन्त तक भी उससे निकल नही पाता। जीवन भर अपनी पत्नी तथा सतति के सुख-साधनो को इकट्ठा करने के लिये अनैतिक, अन्यायपूर्ण तथा नाना प्रकार के निकृष्ट कार्यों को करने के कारण असख्य पापो का उपार्जन करता हुआ निबिड कर्मों की बेडियो मे जकड जाता है, और जन्म-जन्मान्तरो तक भी उनसे मुक्त नही हो पाता।

इसलिये तुलसी दास जी का कथन कि मनुष्य गा-बजाकर काठ मे पाँव फसाता है, सत्य है। एक पश्चात्य विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है—

"A man finds him self seven years older the day after
भी है —
"

कार्येषु

—लार्ड बेकन

क्षमानुकूला क्षम के दूसरे ही दिन अपने को सात वर्ष और वृद्ध

—काम काज मे मन्

सेवा करने वाली, माता के समान

रम्भा के समान सुख प्रदान करने वा है। इसमे न मनुष्य घर मे ही सच्चा

सुख जिसे कहते है, उसका अनुभव कर पाता है और न बाहर निकलकर भी चैन पाता है। न वह घर की चाकरी से फुरसत पाता है और न बाहर की नौकरी से। घर के अभावो और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ही उसे बाहर जाकर मजदूरी या नौकरी करनी पडती है। पर उसके लिये कितना परिश्रम और त्याग करना पडता है ? कितना मानापमान सहना पडता है ? इसे नौकरी करने वाला ही महसूस कर सकता है।

किन्तु उस दुःख का कुछ अदाज लगाकर पूज्य श्री माधव मुनि जी म० अपने एक सुन्दर पद्य मे नौकरी की वास्तविकता और कठिनाइयो का वर्णन करते हैं। कहते है—

एक कर राजा को प्रजा को देन जोर लगै,
नौकर पै नौकर लगाय देत नौकरी।
तन, धन, धर्म, कुल कर्म, सुख, शर्म भाग
स्वाधीनता-सेवा और नौ भी देओ नौकरी।
कहे मुनि माधव यो खटकत आठो याम,
भाल की अणी ज्यो दारी, नौकरी की नौकरी।
तीन करी शृंखला की, करत कपाट बद
मानव के प्राण वद, क्यो न करै नौकरी ॥१॥

लब्ध प्रतिष्ठित मुनि जी ने वास्तव मे ही नौकरी का वडा मनोरजक और सूक्ष्म विवेचन किया है। कहा है—

मनुष्य जिस राज्य मे रहता है, वहाँ के राजा को या सरकार को उसे एक कर देना भी वडा भारी पडता है फिर नौकर तो नौकर पर नौ प्रकार के कर लगा देती है। वे कौन कौन से हैं ? इस विषय मे बताया है—

पहला कर है—तन देना। जो व्यक्ति नौकरी करता है उसे शरीर से कडी मेहनत करनी पडती है। ड्युटी के सम्पूर्ण काल मे तनिक भी विश्राम करने का उसे अधिकार नही रहता। मालिक अगर नौकर को जरा भी हाथ पैर सीधे करते देख ले तो आँखें लाल-पीली करने लगता है। तथा आलसी, कामचोर या हरामखोर की उपाधियाँ देने लग जाता है। भले ही शरीर मे किसी प्रकार की पीडा, सिर दर्द या बुखार हो, नौकर को शारीरिक श्रम तो पूरा करना ही होता है, और इसी प्रकार असमय मे ही उसके तन का धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। इसी का नाम तन का कर देना या जकात देना है।

दूसरा कर है—धन देना। आप प्रश्न करेंगे कि नौकरी के लिये धन कैसे देना पडता है ? पर बात सही है। आज हम देखते हैं कि प्राय बडी-बडी नौकरियो के लिये तो उसे पाने के पहले ही कई व्यक्तियो को रिश्वत देनी पड जाती है। दूसरे किन्ही व्यापारियो की नौकरी करने पर मुनीम और गुमास्तो को अपनी बुद्धि और बल से लाखो रुपये कमाने पडते है। पर वह सारा धन सेठो का होता है। अर्थात् अपने बुद्धि बल से कमाया हुआ सारा पैसा वे मालिको देते हैं। स्वय तो गिने-चुने चद रुपये ही ले पाते हैं। यह है धन का जकात देना।

तीसरा कर नौकरो पर धर्म का लग जाता है। आप फिर सोचेगे कि क्या धर्म भी कमाकर दिया जाता है ? नही, ऐसी बात तो नही है। धर्म कमाकर किसी अन्य को नही दिया जा सकता। किन्तु धर्म-कार्य मे बाधा पडने से करने वाले के द्वारा किये जाने वाले पुन्योपार्जन मे कमी आती है। अत उस लाभ से तो वह वचित होता ही है न !

अनुभव सिद्ध बात है कि अगर व्यक्ति, कभी अपने प्रात कालीन नित्य-नियम यानी स्वाध्याय चिन्तन-मनन और ईश-प्रार्थना आदि करने के कारण अपनी ड्यूटी पर जरा भी देर से पहुचे तो अधिकारी की भर्त्सना सहन करनी पडती है, और अगले दिन उसे वह सब शुभ-कार्य छोड देने पडते हैं। और कभी अगर वह सत-दर्शन या उनके प्रवचन-श्रवण करने के लिये कुछ समय की छुट्टी मॉगे तो वह भी नही मिलती। उलटे अनेकानेक अपशब्दों के साथ सुनना पडता है—"यहाँ धर्म-ध्यान करने आए हो या नौकरी करने ? धर्म करना है तो अपने घर बैठो।" अब बताइये ! ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करेगा ? नौकरी तो छोड नही सकता, क्योकि उसे घर का गढ्ढा भरना है। हा, धर्म-ध्यान जरूर छोड देगा क्योंकि उससे रुपये-पैसे के रूप मे लाभ नही होता। इसे ही धर्म का कर देना कहा जाता है।

चौथा कर है—कुल-कर्म का त्यागना। नौकरी-पेशा करने वाले व्यक्ति को अपने कुल के कर्म को,गौरव को और उसकी मर्यादा को ताक मे रखकर ही नौकरी पर जाना पडता है। आज हम एक-दो नही ऐसे सैकडो और हजारो व्यक्तियो को देखते हैं, जो अपना खानदानी पेशा छोडकर नौकरिया करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारो जाति के व्यक्ति नौकरी करते हुए पाए जाते हैं। ब्राह्मण, जिनका पुरातन पेशा पूजा-पाठ तथा अध्ययन-अध्यापन ही था, आज नौकरिया करते हैं, तथा सुनार, लुहार, बढई, चमार और दर्जी आदि भी थोडा या अधिक पढ जाते है तो उमी

दर्जे की नौकरी पाने के प्रयत्न मे रहते हैं। किसी को अपना कुल-कर्म करने मे सकोच लगता है, और किसी को अपने खानदानी कार्य से पूरा नही पडता। इस प्रकार आज के युग मे नौकरी पर कुल-कर्म न्योछावर हो गया है और हमारे वर्णित पद्य के शब्दो मे नौकरी का कर बन गया है।

नौकरी का अगला पाचवा कर है—सुख का त्याग करना। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नही है। सभी जानते हैं कि नौकरी करने वाले व्यक्ति को अपने शारीरिक और मानसिक सभी सुखो का बलिदान करना पडता है। न वक्त पर खाना और न सोना ही नसीब होता है। खाना छुट्टी होने पर ही मिलेगा, चाहे बारह बजें या चार बज जाय। और जब रात की ड्यूटीतो है तो घटे भर सुख से सोने के लिये भी लोग तरस जाते हैं। खून को जमा देने वाली शीतकाल की भयकर रात्रियो मे भी नौकरी बजानी पडती है, और ग्रीष्मकाल की झुलसा देने वाली दोपहरियो मे भी। भले ही तबियत नरम हो, पर अधिकारी ने दौरे पर भेजा तो जाना ही पडेगा। इन्कार करने का सवाल नही रहता। घर पर ब्याह-शादी का अवसर है और मन चाहता है कि काफी दिनो की छुट्टिया लेकर मनोरंजन मे समय बिताएँ। किन्तु छुट्टी तो ऐन वक्त पर ही मिलेगी।

इस प्रकार जीवन के समस्त सासारिक सुख इस नौकरी पर बलिदान करने पडते हैं।

शर्म इस नौकरी का छठा कर है जो प्रत्येक नौकरी करने वाले को देना पडता है। वैसे बडी बडी नौकरियाँ करने वालो को कभी न कभी अपने से ऊपरी श्रेणी वाले अफसरो की नाराजगी का सामना करना पडता है, पर छोटी मोटी नौकरी करने वाले की दशा का तो पूछना ही क्या है। कार्य मे जरा सी चूक हो गई तो मालिक ऐसा बिगडता है, कि माँ-बाप तो क्या नौकर के पुरखो तक को गालिया देता है। आज हम देखते है कि अनेको ब्राह्मण बालक भी होटलो मे काम करते है। पेट की आग उन्हे अपनी शर्म-हया से तिलाजलि दिलवाकर लोगो के जूठे बर्तन उठाने के लिये भी बाध्य कर देती है और फिर कभी काच का ग्लास या कप-तश्तरी हाथ से छूट गए तो फिर कहना ही क्या है। कोरी गालियाँ ही नही सुननी पडती, मार भी खानी पड जाती है।

ऐसे ब्राह्मण शायद मनु महाराज के इस कथन को सार्थक करते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

ब्राह्मण को चाहिये कि सम्मान से विष के समान बचे और अपमान की अमृत के समान इच्छा करे।

निश्चय ही मनु का आशय अपमान को प्रिय मानने की आज्ञा देने मे ओर ही है। किन्तु यह कलिकाल का ही प्रभाव है शायद कि उनके आदेश का इस रूप मे मजबूरी से पालन होता है। मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि इस नौकरी के कारण अच्छी जाति और उच्च खानदान के अभागे सदस्य भी अपने दिन बदल जाने के कारण लाज-शर्म का त्याग करके घोर अपमान सहने के लिये मजबूर हो जाते हैं। अपनी शर्म को नौकरी की भेंट चढा देते हैं।

चाकरी छोड़ दीजिये ?

कहा जाता है कि एक शहर मे दो भाई रहते थे। जिनमे से एक भाई जो बडा था, वहाँ के राजा के यहा नौकरी करता था। और दूसरा छोटा भाई मेहनत मजदूरी करके अपनी गुजर-बसर करता था।

छोटे भाई को वर्षों तक कडा शारीरिक परिश्रम करने पर भी पूर्व के समान दरिद्र और कष्ट मे देखकर एक दिन बडा भाई उससे बोला— 'भाई! तुम भी मेरे समान नौकरी क्यो नही कर लेते, ताकि दिन-रात के इस कठोर परिश्रम से छुटकारा पा जाओ!"

छोटा भाई दरिद्र था, किन्तु स्वाभिमान उसमे कूट-कूटकर भरा था। कडा परिश्रम करने पर भी वह अपनी स्थिति से पूर्ण सन्तुष्ट था, आधा पेट खाकर भी अपने आपको सुखी मानता था। बडे भाई की बात सुनकर वह बोला "मैं तो कहता हू, भाई साहब! आप भी मेहनत क्यो नही करने लग जाते, जिससे चाकरी के कारण सहे जाने वाले असख्य वार के अपमान से बच जांय।"

बडा भाई निरुत्तर हो गया। भाई की स्पष्ट और सच्ची बात से वह इन्कार नही कर सका।

वास्तव मे ही नौकरी करके अपमान सहित पेट भरने की अपेक्षा अपने परिश्रम से उपार्जन किया हुआ आधा पेट खाना अच्छा है। एक कहावत भी है :—

उत्तम खेती मध्यम बान।
अधम चाकरी भीख निदान॥

कहा गया है—जिस प्रकार अनेक झिड़कियां, गालियाँ और कटु-शब्दो

की बौछार करके मनुष्य भिखारी को रोटी के दो टुकडे देते हैं, इसी प्रकार समय समय पर भर्त्सना करके मालिक नौकर को चद चाँदी के टुकडे देता है।

(अब नौकरी का सातवाँ कर है—भाग देना। मनुष्य अपने परिश्रम से जितनी उपज करता है, वास्तव मे वह सब उसका कहलाता है, किन्तु नौकरी करने वाले को अपने परिश्रम का बहुत सारा हिस्सा मालिक को देना पडता है दूसरे शब्दो मे मालिक उसका अत्यधिक भाग ले लेता है और काम करने वाले के पल्ले नही के बराबर पडता है। बडी बडी मिलो और फेक्ट्रियो मे देखा जाता है—एक-एक मजदूर का परिश्रम लाखो की आमदनी देता है किन्तु वह सब मिल मालिको की तिजोरी मे पहुचता है और काम करने वाले को उसका शताश भी नही मिल पाता।)

(स्वाधीनता का त्याग करना नौकरी का आठवाँ कर माना गया है। नौकर व्यक्ति को तनिक भी स्वतत्रता नही रहती। भले ही छोटी और बडी नौकरी मे अन्तर पाया जाता है किन्तु परतत्रता दोनो मे ही होती है। जानते ही होगे कि भले ही स्कूल-कॉलेज मे पढाने वाले शिक्षक हो, या अन्य किसी उच्च पद पर काम करने वाले ऑफीसर। सभी को चौबीस घटे का कार्य कर्ता माना जाता है। इसलिये उन्हे ड्यूटी के समय के अलावा बचे हुए वक्त मे, या रविवार की छुट्टी के दिन भी कही बाहर जाना होता है तो 'हैडक्वार्टर लीव' अर्थात् घर छोडने की इजाजत अपने उच्च अधिकारी से लेनी पडती है।)

तो बताइये ! सर्विस करने वालो को स्वतत्रता कहाँ रही ? उनका अपना तो कोई भी वक्त नही रहा। दिन और रात के प्रत्येक क्षण मे वे परतत्र हो गए। जबकि परतत्रता तो पशु भी पसद नही करता।

रूखा खाऊँगा, पर आजाद रहूगा

एक बार भेडिये की कुत्ते से मुलाकात हुई। भेडिये ने देखा—कुत्ता खूब मोटा-ताजा था। कौतूहलवश उसने कुत्ते से मोटे होने का कारण पूछ लिया।

कुत्ता गर्व से बोला—'मेरा मालिक मुझे बहुत बढिया खाना खिलाता है। तुम भी चलकर उसके पास रहो तो ऐसे ही हो जाओगे।'

भेडिये ने पूछा तुम्हे मालिक का काम क्या करना पडता है, जिसके लिये वह इतना अच्छा खाना देता है ?

कुत्ता "सिर्फ घर की चौकीदारी करता हू।"

भेडिये ने विचार किया—"यह काम तो मैं भी वखूवी कर सकता हू। क्यो न इस कुत्ते के मालिक के यहाँ चलकर घर की रखवाली करूँ और खूब पौष्टिक पदार्थ खाऊं ?" ऐसा सोचकर वह कुत्ते के साथ चल दिया।

दोनो शहर के करीब पहुचे ही थे कि भेडिये की नजर कुत्ते के गले पर गई। चकित होकर उसने पूछा—"भाई! तुम्हारी गरदन पर यह काला-काला निशान कैसा है ?"

कुत्ते ने कहा—"यह पट्टे का निशान है। दिन को मेरा मालिक इस पट्ट मे जंजीर लगाकर मुझे वाध देता है ताकि मैं लोगो को तग न करूँ। आज तो जजीर जरा ढीली थी अत किसी प्रकार भाग आया। हाँ, रात को अलवत्ता चौकीदारी के लिये खुला रहता हू। तुम मेरे साथ रहोगे तो तुम्हे भी ऐसा पट्टा पहनना पडेगा।"

भेडिया कुत्ते की यह बात सुनते ही उलटे पैरो लौट पडा। वोला—"मुझे स्वतन्त्र रहकर जगल मे रूखा-सूखा खाना मजूर है, पर परतन्त्र वनकर वढिया माल खाना मजूर नही। मैं तो भाई यह चला।" कहता हुआ भेडिया भाग गया।

वाकई, आजादी मे जो आनन्द है, वह गुलामी मे नही मिल सकता। किसी ने ठीक ही कहा है—

'मिले खुश्क रोटी जो आज़ाद रहकर।
गुलामी के हलवे से हरचन्द वढकर॥

अव नौकरी का दिया जाने वाला नवाँ कर हमारे सामने आता है—सेवा करना। यद्यपि सेवा करना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, इससे हृदय और आत्मा पवित्र होती है तथा ज्ञान प्राप्त होता है। जैसा कि चाणक्य ने कहा है—

यथा खनन् खनित्रेण भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगता विद्या शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जैसे कुदाली से खोदकर मनुष्य पृथ्वी मे रहे हुए जल को प्राप्त करता है, वैसे ही गुरुगत विद्या सेवा से प्राप्त होती है।

अर्थात् सेवा भारत का जातीय आदर्श है, परमधर्म है और आत्मा को उन्नत वनाने वाला पवित्र साधन है।

किन्तु चद पैसे देकर व्यक्ति को सेवा के लिये मजवूर करना, उसकी आत्मा को खरीदकर उसे गुलाम वनाना है। वह सेवा, सेवा नही, वरन्

गुलामी कहलाती है। उस गुलामी से मानव की आत्मा उन्नत नही बनती, हीन और निकृष्ट सावित होती है। तथा ऐसे सेवक के लिये कहा जाता है—

प्रणमत्युन्नति हेतो जीवित हेतो विमुन्चति प्राणान्।
दु खीयति सुखहेतो को मूढ़ सेवकादन्य ॥

जो ऊँचा उठने के लिये मालिक के यहाँ प्रणिपात करता है, जीने के लिये अपने प्राण तक त्याग देने को तैयार रहता है, सुख-प्राप्ति के लिये दु खी रहता है, ऐसे सेवक से बढकर और दूसरा कौन मूर्ख हो सकता है ?

आप समझ ही गए होगे कि स्वेच्छा से की गई सेवा और पैसो का लालच देकर कराई गई सेवा मे कितना अन्तर है ? दया,करुणा और सहानुभूति की भावना से की गई सेवा क्या नौकर से कराई गई सेवा का मुकावला कर सकती है ? नही, नौकर से कराई गई सेवा केवल चाकरी कहला सकती है तथा नौकरी के ऊपर लगाया गया कर कहला सकता है। वह सेवा चाकर को समय न होने पर भी, शारीरिक शक्ति का अभाव होने पर भी और इच्छा न होने पर भी करनी पडती है। और तभी उसे नौकरी के लिये दिये जाने वाले नौ करो मे जोडा गया है।

तो ऐसी नौकरी जिसके लिये मनुष्य को नौ प्रकार के कर देने पडते हैं, क्या उसके लिये सुखकर सावित हो सकती है ? उत्तर पूज्य श्री माधव मुनि जी ने दिया है—

कहे मुनि माधव यो, खटखट आठों याम,
भाल की अणी ज्यूं, दारो नौकरी की नौकरी।

कहा है—तन, धन, धर्म, कुल-कर्म, सुख, भाग, शर्म, स्वाधीनता, और सेवा, ये नौ जवर्दस्त कर जिस नौकरी के लिये देने पडते हैं,वह नौकरी आठो प्रहर मन मे खटकने वाली होती है तथा तीक्ष्ण भाले की चुभी हुई नोक के समान पीडा पहुचाती रहती है।

'वुरा हो इस नौकरी का।' जो नौ प्रकार के कर लेकर भी मनुष्य को उफ तक नही करने देती, उसकी जवान पर ताला लगा देती है। और लगाएगी भी क्यो नही ? तीन कडी की साकल भी जब आदमकद लकडी के कठोर दरवाजे को मजबूती से बद कर देती है तो इस नौकरी मे तो कर-रूपी नौ कडियां हैं। फिर ये सब मिलकर मनुष्य की छोटी सी और कोमल जवान को बन्द क्यो नही करेंगी ? जैसा कि मुनि श्री जी ने इसकी भर्त्सना करते हुए स्पष्ट किया है—

तीन करी भृंखला को, करत कपाट वन्द ।
मानव की वाणी बंद, करें क्यो न नौकरी ?

तो मैं आपको यह बता रहा था कि सासारिक प्राणी घर और बाहर कही भी चैन नही पाता। घर मे पत्नी अभावो की तालिका हर वक्त सामने रखती है तो उस चिन्ता मे घुलता है और घर के अभाव-रूपी गर्त को भरने के लिए बाहर जाकर नौकरी करने मे अपने समस्त सुखो का बलिदान करता है।

किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि वह उसमे भी सुख का अनुभव करता है। उससे ऊबता नही। घर मे घरवालो के हुक्म का और बाहर अपने मालिक के हुक्म का बराबर पालन करता है। हाँ, सन्त या महापुरुषो की बातो को माने या न माने उसकी इच्छा पर है। घर-गृहस्थी के कार्यों का उसे बराबर स्मरण रहता है, पर साधु-साध्वियो ने किसी पुस्तक के विषय मे कहा तो—"महाराज! भूल गया।" अगर उसे सत-दर्शन और उपदेश-श्रवण का आदेश दिया तो—"समय ही नही मिलता।"

लाभ किसका ?

अरे भाई! सत क्या अपने लाभ के लिए तुम्हे उपदेश देते हैं? क्या वे अपने कल्याण के लिए तुम्हे थोडा-बहुत समय धर्म-कार्य मे लगाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं? नही, इससे उनका कोई लाभ नही है, तुम्हारे शुभ-कार्य करने से उनका तनिक भी स्वार्थ सिद्ध नही होता। वे तुम्हारे भले के लिये ही कहते हैं। केवल तुम्हारे दुःख से द्रवित होकर उसके निवारण का उपाय बताते हैं। सतो के अलावा अन्य कोई भी तुम्हारा सच्चा हितकारी साबित नही होता। जैसा कि कहा गया है—

'गुरवो विरलाः सति शिष्य-संतापहारका।"

ऐसे गुरु विरले ही मिलते हैं, जो कि अपने शिष्यो के कषाय-जनित कष्टो को और जन्म मरण रूप सताप को मिटाने की प्रेरणा देते हुए मार्ग-दर्शन करते हैं।

इसलिये बधुओ, अगर अपनी आत्मा के दुःखो से और पुन पुन जन्म लेकर कोल्हू के बैल के समान इस घर-गृहस्थी के गढे को भरते ही रहने के कष्टो मे बचना है, सतो के कल्याणकारी उपदेश सुनने का समय निकालो और उन्हे अमल मे लाने का भी प्रयत्न करो। जो वीतराग की वाणी सत तुम्हारे सामने रखते हैं, उसे सुनना और हृदयगम करना फालतू समय का कार्य मत समझो, उसे जीवन का अनिवार्य कार्य मानो।

महाराज अच्छे नहीं हैं

हम प्राय देखते हैं कि लोग उपदेश सुनने आते हैं पर सुनने मे उनका मन नही लगता। वे कभी इधर देखते हैं और कभी उधर, या नीद लेने लगते हैं। इसका कारण यही है कि शास्त्र-वचनो पर उन्हे श्रद्धा नही होती, विश्वास नही होता और इसलिये उनके चित्त मे एकाग्रता नही आ पाती अगर कभी हमने एक माला नित्य फेरने की अथवा एक सामायिक प्रतिदिन करने की प्रेरणा दे दी, तब तो समझलो कि अगले दिन से उनका आना ही बन्द हो गया। इतना ही नहीं, स्थानक से बाहर जाते ही कहते हैं – "महाराज जबर्दस्ती नियम दिलवाते हैं, यह हमे अच्छा नही लगता।"

उन नादान भाइयो से यह पूछा जाय कि घर के गढे को भर न पाने के कारण तुम घरवालो के ताने सुनते हो या नही ? धन कमाने के लिए नौकरी करते समय अफसरो और मालिको की कटूक्तिया सुनते हो या नही ? उनकी शिकायते तो यहाँ आकर नही करते ! ऐसा क्यो ? जिनकी झिडकिया सहन करने से तुम्हारा तनिक भी हित नही होता, उनकी बातें तो तुम्हारे लिये शिकायत का कारण नही बनती, और जिन सन्तो की बातें तुम्हारे जन्म-जन्म के कष्टो को मिटाने मे समर्थ हैं, वे तुम्हें हितकर महसूस नही होती उलटे तुम्हारी नाराजी का कारण बनती है ? याद रखो, कि घर का या ससार का कोल्हू तो इसी प्रकार चलता रहेगा और तुम्हे इसे घुमाते रहना पडेगा ! किन्तु, अगर इससे छुटकारा पाना है तो सर्वज्ञ भगवान् की वाणी पर श्रद्धा रखो तथा उस वाणी को तुम तक पहुचाने वाले सद्गुरुओ के बताये हुए मार्ग पर चलो ! इस बात पर दृढ विश्वास रखो कि —

संयम सुधारे पच महाव्रत धारे सो,
निवारे सब पातक प्रचंड पुंज भारे को।
आश्रव विदारे सत्य सयम आचार धारे,
तत्व को विचारे सींचे समता के क्यारे को ॥
ज्ञान के उजारे रागद्वेष हू से न्यारे,
विषय वेल को उखारी पाये भवके किनारे को।
कहे अमीरिख अघ पुंज को विदारे जाणे,
ऐसे गुण धारे सोही तारेंगे हमारे को ॥

जो, सयम को अगीकार करके पच महाव्रतो का पालन करते हैं, अपने बधे हुए पापो के पुंज का नाश करते हुए नवीन पापो के आश्रव को रोकते हैं, तत्वो के स्वरूप को भली भांति समझदार समता की महकने वाली क्यारियो

का सिंचन करते है, राग-द्वेष से दूर रहकर ज्ञान को फैलाते है तथा विषय-विकार रूपी वेलो को उखाड कर भव-सागर को पार करने की क्षमता प्राप्त करते हैं, ऐसे गुणज्ञ गुरु ही हमे भव-समुद्र से पार करेंगे ।

जो भव्य पुरुष इस वात को समझ लेंगे, तथा इस पर पूर्ण विश्वास रखेंगे वे ही आत्म-साधना के पथ पर बढ सकेंगे तथा सासारिक वैभव की अनित्यता को और सासारिक सवन्धो के पीछे रही हुई स्वार्थपरता की भावना को पहचान सकेंगे ।



स्वार्थ की सगाई

वस्तुत इस शरीर को जिसे माता-पिता अपना पुत्र मानते हैं, पत्नी अपना पति कहती है और भाई-वहन अपना भाई समझते हैं वह कव तक ? वे कव तक अपना नाता इससे जोडे रहते हैं ? केवल तभी तक, जव तक कि यह घर रुपी कोल्हू को खीचता रहता है । अपने परिश्रम से अपने नातेदारो का भरण-पोपण करता है तथा उनके स्वार्थ की पूर्ति करने मे समर्थ होता है । इसमे असमर्थ होने पर फिर कोई भी इससे नाता वनाये रहने मे प्रसन्न नही होता तथा इसे अपना कहने को तैयार नही होता ।

इसलिए महापुरुष अपने आपको प्रतिवोध देते हुए कहते है -

झूठी सगाई संसार की चेतन ! स्वारथिये परिवार मिले हैं ।
स्वारथ होय आधीन रहे सव, प्रीति भरे कहे वेन भले हैं ।।
जो नहीं स्वारथ सिद्ध हुवे, वनजारे के वैल ज्यो छाड़ि चले हैं ।
आतम कारज सार अमीरिख, ज्यो भव के सव दु ख टले हैं ।।

पूज्यपाद पडित मुनि श्री अमीऋषि जी म० का कथन है—"हे जीव ! ससार के सव नाते झूठे है । सभी मित्र, स्वजन परिजन और परिवार के व्यक्ति स्वार्थी है । जव तक इनका स्वार्थ सिद्ध होता रहेगा, ये स्नेह पूर्ण व्यवहार करेंगे, मधुर वचन वोलेंगे । किन्तु अपनी स्वार्थ सिद्धि मे कमी आते ही जिस प्रकार वनजारा अपने अशक्त वैल को छोडकर चल देता है उसी प्रकार तुझे त्याग देगे । इसलिए तू पहले ही चेत जा और अपनी आत्मा के लिए लाभकारी कार्यों मे सलग्न हो जिससे जन्म-जन्म के कष्ट टल सकें ।"

यही प्रतिवोध प्रत्येक प्राणी के लिए है । मनुष्य को सोचना चाहिये कि परिवार और घर के अभावो की पूर्ति कभी नही हो सकती । क्योकि एक अभाव मिटते ही उसके स्थान पर दूसरा अभाव जन्म ले लेता है । उदाहरण

स्वरूप-पुत्र नही है तो पुत्र का अभाव दुखी करता है। और कही पुत्र उत्पन्न हो गया तो उसके भरण-पोषण और पर्याप्त शिक्षण के लिए धन का अभाव महसूस होने लगता है, और वह सीढी पार करली तो फिर विवाह आदि की चिन्ता सताने लगती है। इस प्रकार नाना प्रकार के अभावो की पूर्ति मे ही मानव-जीवन व्यतीत हो जाता है और अभाव ज्यो के त्यो बने रहते हैं।

तब फिर मनुष्य को लाभ क्या हुआ ? सम्पूर्ण समय गया, जीवन समाप्त हो गया और सारी शक्ति नष्ट हो गई, फिर भी अभावो की शृ खला छोटी होने मे नही आई है। इससे बढकर अफसोस की बात और कौन सी हो सकती है ? जिस दुर्लभ जीवन से आत्म-साक्षात्कार हो सकता है, सीधे शब्दो मे भगवान मिल सकते हैं, वह केवल अभावो की पूर्ति मे व्यतीत हो जाता है और जैसा कि हमारा विषय कह रहा है—घर के खड्डे को भरने मे ही समाप्त हो जाता है। पर अभाव बने ही रहते हैं, खड्डा अपूर्ण ही रह जाता है।

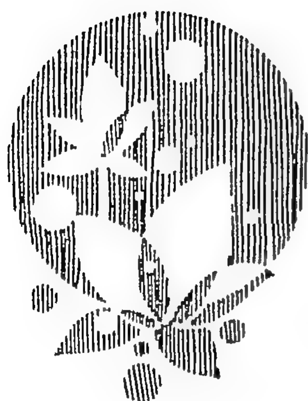
बुद्धि की पहचान

तो मनुष्य की बुद्धिमानी क्या इसमे नही है कि वह अभावो की सृष्टि करने वाली उस मूढता-पूर्ण भावना को ही नष्ट कर दे ? "न रहेगा बास न बजेगी बाँसुरी।' अगर मनुष्य ऐसा कर लेता है अर्थात् अपने ममत्व को समत्व मे बदल लेता है, आसक्ति को विरक्ति के रूप मे परिणत कर देता है, बाल-दृष्टि को अन्तर्मुखी बना लेता है, सक्षेप मे सुख को बाहर खोजने की अपेक्षा अपने अन्तर-तम मे पाने का प्रयत्न कर लेता है तथा सासारिक अभावो की पूर्ति का निष्फल प्रयत्न छोडकर आत्मिक अभावो की पूर्ति मे जुट जाता है तो फिर कोई भी कारण उसे मानव-पर्याय का सच्चा लाभ उठाने से नही रोक सकता। आवश्यकता केवल यही है कि वह अपनी भावनाओ को सही दिशा मे मोडे।

भावनाओ मे अद्भुत शक्ति विद्यमान रहती है। अगर उनकी बागडोर सही दिशा की ओर फेर दी जाय तो यह आत्मा निश्चय ही इस ससार से मुक्त होकर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुच जाती है।

एक उर्दू कवि ने बडे सरल ढग से यही बात कही है —

गिरते हैं जब खयाल तो गिरता है आदमी।
जिसने इन्हें सभाल लिया वो संभल गया॥



१

मोक्षात्परं सुखं नान्यत् !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज परम पुनीत पर्व संवत्सरी का दिवस है। यह लोकोत्तर महापर्व या धार्मिक त्योहार एक वर्ष के पश्चात् आता है। संवत्सर का अर्थ वर्ष होता है और वर्ष के बाद आने के कारण इसे संवत्सरी पर्व कहते हैं।

आज का दिन पर्युषण पर्व के आठ दिनों में अंतिम दिन है और अत्यन्त महत्वपूर्ण भी है। दूसरे शब्दों में आज के इस मुख्य दिन को ही केवल पर्व कहा जा सकता है। प्रारम्भ के सात दिन तो केवल इसे मनाने की तैयारी मात्र ही समझना चाहिये। क्योंकि इन सात दिनों में आप और हम, साधु और श्रावक, सभी अहिंसा, तप, त्याग और संयमादि के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे, आत्मिक गुणों को भस्म करने वाली कषाय-रूप अग्नि बुझ जाय तथा हम कषाय-रहित होकर, तथा संसार के किसी भी प्राणी के प्रति रहे हुए अपने वैरभाव को भुलाकर कह सकें :—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूयेसु, वेरं मज्झ न केणई॥

मैं ससार के समस्त प्राणियो से क्षमायाचना करता हूँ और उन्हे क्षमा प्रदान भी करता हू । समस्त जीवो से मेरी मित्रता रहे, किसी से भी वैरभाव न रहने पाये ।

हमारा यह कथन यथार्थ कब कहला सकता है ? जबकि हमारे शब्दो का मन और शरीर भी पूर्ण साथ देते हो, अन्यथा तो इन शब्दो का एक लाख वार उच्चारण करना भी कोई मूल्य नही रखता ।

यथार्थ मूल्याकन

अभी मैंने वताया है कि जो प्राणी इस सवत्सरी पर्व का महत्व यथार्थ रूप मे समझ लेते हैं, वे ही अपने समस्त कषायो को नष्ट करके ससार के समस्त जीवो से सच्ची क्षमा याचना करते हैं, क्षमादान करते हैं और उनके लिये 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव अपने अन्त करण मे जगाते हैं । और जो ऐसा कर लेते हैं, उन्ही का सवत्सरी पर्व मनाना सार्थक होता है । इतना ही नही, उन महान आत्माओ के लिये तो वर्ष का प्रत्येक दिन, और प्रत्येक दिन का प्रत्येक प्रहर, घटा मिनिट और क्षण सभी सवत्सरी वन जाता है । अर्थात वर्ष का एक दिन ही नही अपितु जीवन का प्रत्येक पल उनके लिये कषाय-रहित और ससार के समस्त जीवो के लिये स्नेह, सद्भावना और मित्रता से परिपूर्ण वन जाता है । तथा ऐसा कर सकने वाली महान् आत्माएँ ही अपने समस्त कर्मों का क्षय करके शाश्वत सुख की प्राप्ति करती हैं ।

मुक्ति का मार्ग

पर्युषण-पर्व के इन आठ दिनो मे आपने अत्यन्त मनोयोग पूर्वक 'अन्तगड सूत्र' सुना है उन अनेक आत्माओ के विषय मे जाना है जिन्होने अपने समस्त कर्म-रूपी शत्रुओ का अन्त किया और जीवन के आखिरी समय मे केवलज्ञान एव केवल दर्शन प्राप्त करके मोक्ष हासिल किया है । ऐसा वे किस प्रकार कर सके हैं ? उत्तर स्पष्ट है कि उन्होने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को सवत्सरी पर्व माना है,यानी अपनी आत्मा को कषाय-रहित रखा है, साथ ही सयम और तप की आराधना करके सचित कर्मो का क्षय तथा नवीन कर्मो के आगमन को रोका है । जैसा कि भगवान ने कहा है —

"संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।"

वस्तुत: आत्मा को कर्म रहित वनाने के दो मार्ग हैं । सयम मार्ग और तपोमार्ग । सयम का दृढतापूर्वक पालन करने मे नवीन कर्मो का वधन नही होता, तथा तपस्या करने से वधे हुए कर्मो का क्षय होता है ।

इस विषय मे किसी कवि ने भी आम का दृष्टान्त देते हुए अपने एक भजन मे कर्म-नाश का उपाय बतलाया है—

या तो आम खुद पके, या दूजे जरिये पाल,
ऐसे कर्म रसदे झड़े या तप से देवे गाल।

जिसके बारह प्रकार बताना रे, तप करना ही मुक्ति का जाना रे।

कहा है—जिस प्रकार आम या तो पेड मे लगा हुआ ही पक जाता है, और नही तो उसे घास आदि मे रखकर पका लेते हैं। इसी प्रकार बधे हुए कर्म या तो भुगत लेने पर छूट जाते हैं, अन्यथा तपस्या के द्वारा उन्हे आत्मा मे अलग कर दिया जाता है, नष्ट कर दिया जाता है। बारह प्रकार की तपस्या करना ही मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग है।

हमारा प्रासगिक विषय भी आठ खड्डो को लेकर चल रहा है। जो कि कभी भरते नही हैं, सदा अपूर्ण ही रहते हैं। पिछले सात दिनो मे जैसा कि आपने सुना है—राज्य, पेट, मृत्यु, तृष्णा, अग्नि, समुद्र और घर के सात खड्डो का वर्णन हुआ है और आज मुक्ति के असीम और अथाह खड्डे के विवेचन का नवर आया है।

मुक्ति का सुखद गर्त

बन्धुओ, यद्यपि अब तक बताए हुए सात गर्त और आज जिसे बताने जा रहा हू, वह मुक्ति का गर्त भी सदा अपूर्ण रहने वाला है। किन्तु उन सात गर्तों से आज का गर्त भिन्न है, तथा उनसे एकदम विपरीत है।

आपके हृदय मे जिज्ञासा होगी कि ऐसा क्यो ? यह इसलिये कि पूर्व-वर्णित सातो गर्त प्रथम तो कभी भरते नही है, दूसरे प्राणी उन्हे भरने के प्रयत्न मे महान कर्मों का बन्धन करते हुए अनन्त दुखो के चक्र मे फस जाते हैं और जन्म-जन्मांतरो तक उन्हे भोगने को बाध्य होते हैं।

किन्तु मुक्ति का गर्त ऐसा नही है, वरन इसके बिलकुल विपरीत है। अर्थात्—अगर मुमुक्षु प्राणी इसे भरने का प्रयत्न करता है तो वह सुखो के अपरिमित खजाने को प्राप्त कर लेता है, और सदा के लिये एक अनिर्वचनीय सुख का भोक्ता बन जाता है। इसीलिये मुक्ति का गर्त जीव के लिये सुखद ही नही, अनन्त सुख का प्रदाता है।

शाश्वत सुख प्राप्त कैसे हो ?

अभी आपने सुना कि मुक्ति का गर्त अनन्त सुख देने वाला है। दूसरे

शब्दो मे ससार-मुक्त हो जाना ही शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है। किन्तु क्या इच्छा करने मात्र से ही वह सुख प्राप्त हो जाएगा ? क्या उसके विषय मे खूब पढ लेने और सुन लेने से ही वह आपके कदमो मे आ गिरेगा ? नही, उस सुखकी प्राप्ति मे तो अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग करना पडेगा। यहाँ तक कि केवल एक जन्म ही नही, अनेक जन्म भी उसे पाने के प्रयत्न मे लगाने होंगे।

आपको यह बडा कठिन महसूस होगा ! विचार भी करते होंगे कि क्या हम सुन्दर जन्म को पाकर कुछ भी सासारिक सुखो का उपभोग न करें ? याकि बुढापे मे धर्म-ध्यान करने मे नही चलेगा ? और मनुष्य-जन्म पाया है तो आखिर इसका कुछ तो आनन्द प्राप्त करें !

भाइयो ! आपके हृदय मे उठने वाले विचार स्वाभाविक हैं। क्योकि इस शरीर मे मन और पाच इन्द्रिया हैं और वे अपनी खुराक मागते है। इनकी खुराक विषय-भोगो के सुख का अनुभव करना ही है। किन्तु हमे गम्भीरता पूर्वक विचार करना है कि इन्द्रिय-जनित सुख क्या वास्तव मे ही सुख कहलाये जा सकते हैं या ये सुख केवल सुखाभास है। प्रथम तो ये अनित्य हैं, दूसरे अपने पीछे असख्य दुख छिपाए रहते हैं। जिस प्रकार गुड लपेटी हुई छुरी जीभ पर फेरने से क्षण भर के लिये मिठास का अनुभव होता है किन्तु उसके पश्चात् ही जीभ कट जाने से महीनो उसके दर्द का दुख भोगना पडता है, ठीक उसी प्रकार ये सासारिक सुख हैं, जो कि भोगते समय अल्प-समय के लिये सुख के समान मालूम देते हैं किन्तु उनसे बध जाने वाले असख्य कर्म अनेक जन्मो तक आत्मा को घोर दुख प्रदान करते रहते हैं।

इसीलिए विद्वद्वर्य प० शोभाचन्द्र भारिल्ल ने प्राणी को उद्बोधन दिया है :—

सौख्य बूंद भर मिला कभी तो वह कब तक ठहरेगा ?
अगले ही क्षण भोले प्राणी ! दुख सागर लहरेगा।
राई भर सुख के निमित्त क्यो दुख सुमेरु भुलाया।
संतो के उपदेशो को भी तूने हाय ! लजाया !

कितनी सुन्दर शिक्षा है ? कहा है—'अरे, भोले जीव ! तनिक से सुख का तुझे कितना भयकर मूल्य चुकाना पडेगा। इस ससार-सागर मे अगर तुझे

एक बूँद के समान सुख की प्राप्ति हो भी गई तो वह क्षणभगुर होने के कारण कब तक ठहर सकेगी ? अगले ही क्षण से तो तुझे दुख के महासागर मे गोते लगाने पडेंगे। छोटी सी राई के केवल एक दाने के जितना सुख देखकर सुमेरु पर्वत के जितने बडे दु ख के पहाड को भी तूने अपनी नजरो से ओझलकर रखा है। और अपनी ऐसी प्रकृति के कारण सत-महापुरुषो के द्वारा दिये गए बार-बार के उपदेशो को भी तूने लज्जित कर दिया है। अर्थात्-उन्हे पुन पुन सुनकर भी तू वास्तविकता को नही समझा और उनकी चेतावनी से होश मे नही आया।"

सासारिक सुख सच्चे सुख नही है और उन्हे छोडना ही श्रेयस्कर है, इस बात को स्पष्ट करते हुए कवि ने पुनः दृढता पूर्वक कहा है—

होता यदि संसार सुखो का धाम त्याग क्यो करते-
तीर्थंकर चक्री क्यो वन मे जाकर कहो विचरते ?
बडे-बडे भूपालो ने क्यो जग से नाता तोड़ा ?
अपना विस्तृत निष्कटक क्यो राज्य उन्होने छोड़ा ?

अर्थात्-ससार ही अगर सच्चे सुख की प्राप्ति का स्थान होता तो तीर्थंकर और चक्रवर्ती सम्राट क्यो इससे मुक्त होने के लिये वनो मे जाकर तपस्या करते ? और क्यो बडे-बडे महाराजा अपने निष्कटक राज्यो को छोडकर इस ससार से नाता तोडने के लिए आत्म-साधना का प्रयत्न करते ? तात्पर्य यही है कि ससार के सुख सच्चे और शाश्वत नही है तथा उन्हे ज्यो-ज्यो भोगा जाता है, जन्म-मरण की श्रृखला बढती ही जाती है। परिणाम यह होता है कि आत्मा नाना योनियो मे जन्म लेती रहती है तथा घोर कष्टो को भुगतती है।

इसलिये, शाश्वत सुख के अभिलाषी व्यक्ति को न केवल सवत्सरी और पर्यु षण पर्व के इन दिनो मे ही सयमित और तपस्यामय समय बिताना चाहिये, अपितु समग्र जीवन ही सयम और त्यागमय बनाना चाहिये। सयम और तप ही मुक्ति के मार्ग हैं, जिनपर चलकर वह अनत और शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकता है।

सयम का विकास कैसे हो ?

सयममय जीवन बिताने के लिये सर्वप्रथम अनासक्ति की भावना हृदय मे जागृत होनी चाहिये। जब तक अनासक्ति-भाव प्रस्फुटित नहीं होता तब तक सयम का विकास नही हो सकता। इसीलिये भगवान महावीर ने कहा है —

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेंहि, त वयं बूम माहण ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र २५।२७

जैसे कमल जल मे उत्पन्न होकर भी जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार कामभोगो मे जो आसक्त नही होता उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

इस जगत मे सदा से दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती आ रही हैं। एक का नाम आसुरी शक्ति है और दूसरी का देवी शक्ति। इन्हें ही हम आध्यात्मिक भाषा मे स्वभाव परिणति और विभाव परिणति कहते हैं।

जो विभाव परिणति मे रमण करते हैं, अर्थात आसुरी शक्ति के स्वामी होते हैं, वे सदा सासारिक सुखो के लिये ही प्रयत्नशील रहते हैं। वे मरण पर्यन्त विषय भोगो मे 'ग्रस्त रहते हैं तथा उनके लिये साधन जुटाने की चिन्ताओ से घिरे रहते है। आशा और तृष्णा उन्हे कभी भी चैन से बैठने नही देती, अतएव वे अहर्निशि अन्याय और अनीति पूर्वक धन-सग्रह करने की चेष्टा करते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे प्राणी मोह के जाल मे फसकर तथा भोग-विलासो मे आसक्त होकर कर्मों के बधनो मे जकड जाते हैं तथा नरक तिर्यच आदि दुर्गतियो मे भ्रमण करते रहते हैं। उनकी विवेक-हीनता उन्हे कही का भी नही रखती। कहा भी है —

विवेक भ्रष्टाना भवति विनिपात. शतमुख ।

अर्थात्-विवेक से भ्रष्ट प्राणियो का सैकडो प्रकार से पतन होता है।

विवेकहीन व्यक्ति हिंसक, असत्य भाषी, कपटी अभक्ष्य भक्षी, मायाचारी और कहाँ तक कहा जाय, असख्य दुर्गुणो का घर बनकर अपनी आत्मा को निरतर पतन की ओर ढकेलता जाता है। फिर भी अपनी हानि को हानि नही समझता, तथा अनिष्ट को ही इष्ट मानता हुआ दु खो के महागर्त मे जाकर गिरता है।

यह सब उसकी विभाव परिणति या आसुरी प्रवृत्ति के कारण होता है। गीता मे कहा गया है —

प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा ।
न शौच नापि चाचारो, न सत्य तेषु विद्यते ॥

श्री कृष्ण अर्जुन मे कहते हैं—आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कर्त्तव्य कार्य मे प्रवृत्त होना तथा अकर्तव्य कर्म से निवृत्त होना नही जानते, इसीलिये

उनमे न तो आतरिक और वाह्य शुद्धि रहती है, न श्रेष्ठ आचरण होता है और न ही कही सत्य रह जाता है।

आसुरी वृत्ति के शिकार

एक वार दो भाई धन कमाने की इच्छा से विदेश जा रहे थे। चलते-चलते वे किसी अन्य-प्रदेश मे पहुँचे। मार्ग निर्जन था और दूर-दूर तक कोई प्राणी दिखाई नही देता था। अचानक दोनो की दृष्टि रास्ते मे पडी हुई एक थैली पर पडी।

चकित होकर उन्होने थैली को उठाया और खोलकर देखा तो मालूम पडा कि वह मुहरो से भरी हुई है। गिनने पर मालूम हुआ कि मोहरे पूरी दस हजार हैं। दोनो भाइयो ने सोचा कि अव परदेश मे जाकर क्या करना है। पाच-पाच हजार मोहरें जीवन भर काम देंगी।

यह विचार कर वे वही ठहर गए और कुछ खा पीकर घर की ओर चल देने का विचार किया। तय किया कि एक भाई जाकर समीप के किसी गाव से कुछ खाद्य-सामग्री ले आए और फिर खाने के वाद लौट चले।

छोटा भाई खाने का सामान लेने के लिये गाव की ओर गया और मोहरो की थैली वडे भाई के पास रही। मोहरे देखकर उसके मन मे लालच आ गया। सोचा कि—"इनमे से पाच हजार तो छोटा भाई ही ले लेगा। मुझे पाच ही हजार मिलेंगी। पर अगर किसी तरह वह मर जाय तो मैं सारी मोहरो का मालिक वन जाऊँ। क्यो न इस वदूक से उसे मार डालूँ और सारी मोहरो पर कब्जा कर लू ? अत मे उसने निश्चय कर ही लिया कि भाई को आते ही गोली का निशाना वना दूँगा।"

उधर छोटा भाई जव खाने-पीने का सामान लेने गया तो उसे भी लोभ के भूत ने आ घेरा और वह भी सारी मोहरो का मालिक वनने के लिये तैयार हो गया। फल स्वरूप उसने खाद्य-सामग्री मे विष मिला दिया और लौटकर वडे भाई के पास आया।

दोनो के मन मे लालच और कपट ने अड्डा जमा लिया था पर एक दूसरे को दिखाने के लिये हस रहे थे। मौका पाते ही वडे भाई ने वन्दूक उठाई और झुककर खाद्य-सामग्री की पोटली खोलते हुए भाई को गोलियो से छेद डाला। सुनसान स्थान था अत किसी ने गोलिया चलने की आवाज नही सुनी। एक भाई समाप्त हो गया।

अव दूसरे ने अपना षड्यन्त्र सफल हुआ मानकर निश्चितता की सांस ली और भाई की मृत्यु पर रोने के बदले हँसता हुआ भोजन करने बैठा। किन्तु खा-पीकर ज्योही उठा, उसकी हालत विष के कारण खराव हो गई और वह लेट गया। किन्तु लेटने के बाद पुन उठ नही सका और अपने भाई के पास ही सदा के लिये सो रहा।

यह था आसुरी शक्ति का प्रभाव। इस जघन्यवृत्ति ने तृष्णा और लोभ का ऐसा मत्र फूँका कि भाई-भाई का हत्यारा बन गया।

भगवान भिखारी बन जाय :

लोभी मनुष्य की विवेक शक्ति समाप्त हो जाती है। न वह कर्तव्य और अकर्तव्य के अन्तर को समझता है और न ही उसे लोक लज्जा की परवाह रह जाती है। उसे केवल धन-वृद्धि का ध्यान रहता है। चाहे वह किसी भी प्रकार से हो। मुझे तो लगता है कि अगर भगवान लोभी व्यक्ति की प्रार्थना सुन ले तो उन्हे दर-दर का भिखारी बन जाना पडे क्योकि इस चराचर मे जो कुछ भी प्रभुता है, लोभी उस सव को लेकर भी असन्तुष्ट रहेगा। सब कुछ पाकर भी हाय, हाय करता ही करेगा। परिणाम यह होगा कि उसके इहलोक और परलोक दोनो ही विगड जाएँगे।

भगवद् गीता मे नरक के तीन द्वार वताए हैं, लोभ भी उनमे से एक है। कहा गया है —

त्रिविध नरकस्येद, द्वार नाशनमात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत् ॥

नरक के तीन द्वार हैं, जो आत्मा का विनाश करने वाले हैं। वे हैं— काम, क्रोध और लोभ। अत इन तीनो का त्याग करना चाहिये।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आसुरीशक्ति के अधीन रहने वाले प्राणियो पर विषय एव कषायो का सदा आधिपत्य बना रहता है। तथा यह अनिष्टकारी शक्ति उसकी आत्मोन्नति की सभी राहो को अवरुद्ध कर देती है। विषय-भोग अतृप्तिकारक हैं। इतना ही नही, भोग विलास ज्यो-ज्यो बढते हैं, वह जीव के चित्त मे अधिकाधिक व्याकुलता उत्पन्न करते जाते हैं। उस व्याकुलता के कारण मानव अधिकाधिक भोग-सामग्री इकट्ठी करने का प्रयत्न करता है और उसके परिणाम स्वरूप नाना प्रकार की भयकर विडम्बनाओ मे फँस जाता है।

उसका सारा जीवन ससार को बढाने मे व्यतीत होता है। पर अन्त

समय जब नजदीक आता है तब वह सिर धुन-धुनकर पश्चात्ताप करता है। और कहता है—

जिस दम नजदीक वक्ते रहलत होगा।
यारो! क्या ही मुकामे हैरत होगा॥
कोई अमल नेक न होगा जुजयास,
आखिर को वही रफीके तुरबत होगा।

अर्थात्—"अब मैं क्या करूं? सारा जीवन तो व्यर्थ गंवा दिया! अब क्या हो सकता है? लगता है अब तो जिस समय कूच का वक्त आयेगा, मेरा मुकाम उस अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण स्थान पर होगा, जहां पर कोई भी नेक कार्य मेरा साथी नहीं होगा, केवल निराशा ही मेरी कब्र के पास रहेगी। अफसोस कि मैंने अपना साथ देने के लिये एक भी शुभ-कृत्य कभी नहीं किया।"

तो बंधुओ, आसुरी वृत्ति के शिकार व्यक्तियों का अन्त इस प्रकार होता है। उन्हें होश तभी आता है, जबकि जीवन समाप्त प्राय होता है और उसे सुधारने का वक्त नहीं रहता। किन्तु इस 'बहुरत्ना वसुंधरा' पर सभी व्यक्ति एक सरीखे नहीं होते। कुछ ऐसे भी होते हैं जो मनुष्य-जन्म के उद्देश्य को समझ लेते हैं तथा उसकी पूर्ति का प्रयत्न करते हैं। तभी कहा जाता है —

आदमी आदमी मे है अंतर।
कोई हीरा कोई कंकर॥

पद्य मे थोड़े से शब्द हैं बिल्कुल सरल और स्पष्ट। किन्तु ये ही शब्द दैवी और आसुरी शक्ति वृत्ति वाले व्यक्तियों के अन्तर को स्पष्ट कर देते हैं। बता देते हैं कि कंकर और हीरे मे जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर इन परस्पर विरोधी वृत्तियों वाले व्यक्तियों मे होता है।

दैवी शक्ति के धनी

कोई कोई भाग्यशाली जीव वीतराग प्रभु की वाणी तथा संत-महापुरुषों के उपदेश सुनकर अपने मन तथा आत्मा की कलाओं को जागृत करते हैं। वे यह समझ लेते हैं कि इन सांसारिक सुखों से परे भी कोई और सुख है जो चिरस्थायी होता है। और जिसकी तुलना मे भौतिक पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख तुच्छ है। कहा भी है —

"तत्स्मादनन्तभागोऽपि न मोक्ष सुख सम्पद।"

—योग-शास्त्र

मोक्ष की जो सुख-सम्पत्ति है, आध्यात्मिक आनद है, उसका अनन्तवाँ भाग भी इस ससार मे नही पाया जाता है।

ऐसा समझ लेने वाले पुरुष जीवन के रहस्य को समझ लेते हैं तथा आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते हैं। उनका चित्त निर्मल, भावना पवित्र, विचार शुद्ध और प्रत्येक क्रिया निष्कपट होती है। वे भव्य पुरुष ससार सम्बन्धी समस्त मोह का त्याग कर देते हैं, उन्हे विश्वास होता है कि मुक्ति त्याग मे है ग्रहण मे नही। मुक्ति शब्द का अर्थ ही छूटना होता है। यहा प्रश्न होता है कि किससे छूटना? उत्तर स्वय मिलता है, बन्धन से छूटना। जीवात्मा कर्मों मे बद्ध है, इसीलिये इसको मुक्ति की आवश्यकता है। और वह कैसे मिलेगी? राग-द्वेष, विषय-वासना आदि की भावनाओ से मुक्त होने पर। किसी ने ठीक कहा है -

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात, विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदया शौचसत्यं पीयूषवत् पिब।

'हे भाई! तुझे मुक्ति की इच्छा है तो विषयो को विष के समान त्याग दे तथा क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत के समान मानकर ग्रहण करे।'

तो, जो व्यक्ति मुक्ति-प्राप्ति के रहस्य को जान लेते हैं वे मोह रहित और विकारो से विहीन हो जाते हैं। उनके हृदयो मे प्राणी मात्र के प्रति अपार करुणा और स्नेह की भावना होती है। प्रत्येक जीव को वे अपना आत्मीय और अपने आप को उसका आत्मीय मानते हैं। उनके द्वारा किसी प्राणी का अनिष्ट नही होता। वचन और शरीर तो उनके वश मे होते ही हैं, वे मन को भी अपने कब्जे मे रखते हैं अर्थात् मन से भी किसी का अनिष्ट चितन नही करते। और ऐसी स्थिति मे उन्हे वर्ष मे एक बार संवत्सरी पर्व मनाकर ससार के समस्त प्राणियो से क्षमायाचना करने की आवश्यकता नही होती, उनके जीवन का प्रत्येक पल ही सवत्सरी-पर्व होता है।

ऐसे क्षमाशील व्यक्ति किसी भी कारण से उत्तेजित नहीं होते। समता और सहिष्णुता का असीम सागर उसकी आत्मा मे हिलोरे लेता रहता है। इसीलिये कहा जाता है —

"न हि तापयितु शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया।'

जिस प्रकार घास की एक चिनगारी से सागर के पानी को गर्म करना सभव नही है, वैसे ही क्षमा-सागर व्यक्ति को क्रोधित नही किया जा सकता।

समता के स्रोत

इटली के एक पादरी से किसी व्यक्ति ने प्रश्न किया—"आप मे इतनी सहन शक्ति कहा से आ गई ?"

पादरी ने बडी गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—

"भाई ! जव मैं ऊपर की ओर देखता हू तो मेरे मन मे विचार आता है कि मुझे जव ऊपर ही जाना है तो फिर क्यो यहा के व्यवहार से अपने मन को कलुपित करू ?"

"नीचे पृथ्वी की ओर दृष्टिपात करता हू तो सोचता हू, मुझे वैठने, उठने और सोने के लिये जमीन ही कितनी चाहिये ? जिसके लिये सघर्प करू ।"

"और अपने चारो ओर देखता हू तो मन मे आता है कि मेरे आस-पास सैंकडो-हजारों प्राणी ऐसे हैं जो मुझसे भी अधिक दु ख भोग रहे हैं—उनकी तुलना मे मेरा दुख ही कितना है ?"

'वस इन्हीं सव विचारो के कारण मेरा मस्तिष्क अत्यन्त शीतल हो गया है और अव वह किसी दुख से दुखी नही होता और किसी भी कारण से क्रोधित नही होता । मेरे मस्तिष्क की शीतलता क्रोध की अग्नि को वढने नही देती उसी क्षण शात कर देती है।"

ऐसी सम भावनाएं जिनके अन्त करण मे जागृत हो जाती हैं वे ही सयम मार्ग पर वढ सकते हैं। तथा अगणित परीपह सहकर भी अपने मार्ग से च्युत नही होते । उनके हृदय मे वैर, विरोध, राग, द्वेप अथवा वैमनस्य क्षण के लिये भी स्थान नही पाते । किसी भी परिस्थिति मे वे शाति और धर्म का त्याग नही करते ।

भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है —

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा ॥

अर्थात्— धीर पुरुपो की चाहे कोई निन्दा करे या स्तुति, लक्ष्मी उनके पास यथेष्ट मात्रा मे आकर इकट्ठी हो जाय या चली जाय, मृत्यु के दूत उन्हे आज ही दवोच लेवे या युगपर्यंत वे जीवित रहे किसी भी अवस्था मे धर्म और न्याय के पथ से विचलित नही होते ।

धर्मो विश्वैकवत्सल

धर्म पर जिनकी अडिग आस्था होती है वे जानते हैं कि धर्म व्यक्ति और समाज दोनो के लिये श्वास के समान अनिवार्य है, तथा धर्म से केवल इहलोक सम्बन्धी अभ्युदय ही नही सिद्ध होता, अपितु परलोक सम्बन्धी अभ्युदय का कारण भी यही है।

सिक्खो के धर्मशास्त्र मे भी धर्म की महिमा का बडे सुन्दर ढग से वर्णन किया है। कहा है—

धरम सरब सुखखानि जान सबको हितकारी।
धरम धरे बुद्धिमान निरन्तर चित्त मंझारी॥
धरम सरब सुख हेत निखन फिल झिलमिल खोवत।
गुरु सगत के माहि धरम कर परापत होवत॥

धर्म ससार के समस्त प्राणियो का हितैषी और उन्हें सुख प्रदान करने वाला है। ससार के अन्य पदार्थों का तो अगर एक व्यक्ति सचय कर लेता है तो अन्य व्यक्तियो को उनके अभाव मे कष्ट होता है। किन्तु धर्म इसके विपरीत है। वह अपने धारण करने वाले को भी सुख देता है तथा अन्य प्राणियो को भी सुख प्रदान करता है। इसीलिये प्रत्येक बुद्धिमान अपने चित्त को सदा धर्ममय रखता है।

धर्म ससार की एक अपूर्व वस्तु है, दूसरे शब्दो मे ऐसा कल्पवृक्ष है जिसकी शीतल छाया मे बैठकर प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति अपने कषाय-जनित सताप को मिटा सकता है। और ऐसा दिव्य स्रोत है, जिसमे अवगाहन करके प्रत्येक प्राणी अपनी आत्मा की प्रत्येक प्रकार की मलिनता को धो सकता है, समस्त कलुष को बहा सकता है। धर्म वह अद्भुत चीज है जिसे केवल मनुष्य ही नही, पशु भी ग्रहण कर सकता है। महाविषधर भुजग चडकौशिक ने भगवान महावीर से बोध पाकर उसे ग्रहण किया था और मेघकुमार के जीव ने अपने हाथी के भव मे उसे धारण करके वन की दावाग्नि से बचने के लिये आए हुए खरगोश को अपना पैर तीन दिन तक ऊँचा रखकर रक्षा की थी।

ऐसे-ऐसे विषधर और शक्तिशाली प्राणी भी जब धर्म को धारण कर लेते हैं तथा जीवन पर्यंत अपनी करुणा और दया का त्याग नही करते, तो फिर मानव तो एक विवेकवान प्राणी है उसे क्यो नही अपने हृदय को प्रेम और दया का आगार बना लेना चाहिये?

एक उर्दू कवि ने तो इन्सान ही उसे माना है जिसका हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो। कहा है —

सच्चा तो है इन्सां उन्हीं का नाम है।
रहम खाना जिनका दायम काम है॥
जान पर अपने ही दुःख लेते हैं वह।
कब अजिय्यत और को देते हैं वह॥

कवि के विचारानुसार इन्सान केवल उस मनुष्य को ही कहा जा सकता है, यानी उस मनुष्य का नाम ही इन्सान है जिनका हमेशा का काम रहम करना है। ऐसे इन्सान स्वय कष्टो को झेल लेते हैं, किन्तु औरो को रचमात्र भी दुखी नही होने देते।

वास्तव मे मनुष्य कहलाने के अधिकारी वे सयमी पुरुष ही होते हैं जो कृत-अकृत, धर्म-अधर्म और न्याय-अन्याय का विचार करते हैं तथा विषय भोगो से विरक्त रहते हैं। सयम का अभ्यास करने वाले साधको को भी भगवान महावीर ने यही चेतावनी दी है —

जहा कुम्मे स अंगाई, सए देहे समाहरे।
एव पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

—सूत्रकृतागसूत्र

जैसे कछुआ भय के उपस्थित होने पर अपने अगोपागो को सिकोड लेता है, इसी प्रकार साधक भी विषयाभिमुख इन्द्रियो को आत्म-ज्ञान से सिकोड ले।

प्राय देखा जाता है कि मनुष्य बाह्य पदार्थों पर तो फिर भी सयम कर लेते हैं। यथा— कम और रूखा-सूखा खा लेंगे, वस्त्र कम से कम मूल्यवान पहन लेंगे तथा अन्य वस्तुओ मे भी किफायत से काम चला लेगे। किन्तु अपनी आन्तरिक वृत्तियो तथा आवेशो पर विजय प्राप्त नही कर सकेंगे। आन्तरिक आवेगो और कषायो पर काबू नही रख पाएँगे। जिसका मूल कारण उनका मन है।

मनोदुर्निग्रह चलम्

मन की चचलता और चपलता को सभी व्यक्ति और सभी धर्म एक स्वर से स्वीकार करते है।

भगवद् गीता मे कहा गया है —

चञ्चलं हि मन कृष्ण, प्रमाथि वलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं—'यह मन वडा चचल और प्रमथन स्वभाव वाला है। अत्यन्त वलवान् और दृढ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसको वश मे करना वायु को वश मे करने के समान दुष्कर है।'

अर्जुन की इस वात का उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं—'निस्सदेह मन अत्यन्त चचल है तथा कठिनता से वश मे आने वाला है किन्तु अभ्यास से अर्थात् वार-वार प्रयत्न करने मे और वैराग्य से इसे वश मे किया जा सकता है।'

वघुओ, गीताकार अभ्यास और वैराग्य को मनोनिग्रह का कारण मानते है। और हमारे यहा मनोनिग्रह के साधन इस प्रकार वतलाये गए हैं —

स्वाध्याययोगैश्चरण क्रियासु—
व्यापारणैर्द्वादशभावनाभि।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति—
फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात्॥

अर्थात्—स्वाध्याय योग मे लगाकर, क्रियाओ मे सलग्न करके, अनित्यता अशरणता आदि वारह भावनाओ मे जोडकर तथा शुभ और अशुभ कर्मों के फलाफल के चिन्तन मे लगाकर वुद्धिमान पुरुप मन का निरोध करने का प्रयत्न करें।

अभिप्राय यही है कि मन का स्वभाव प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार का चिन्तन करते रहना है। खाली वह कभी नही रह सकता। ऐसी स्थिति मे उसे अपने विचारो से रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। अतएव उसे स्वाध्याय आदि प्रशस्त क्रियाओ मे उलझाये रखना चाहिये। इन क्रियाओ मे लगे रहने से उसे विपय-वासनाओ की ओर जाने का अवकाश नही मिलेगा और धीरे-धीरे वह स्वय ही उनमे विरक्त हो जायेगा।

एक फारसी कवि ने भी मन को नियत्रण मे रखने की शिक्षा देते हुए कहा है —

अज हरचि नार वास्त वरी दीदहा ववन्द।
वज़ हरचि नापसन्द बुवद दस्तवाज दार॥

अर्थात् – जो वात अनुचित हो उस पर दृष्टि मत डालो और जो कुछ अयोग्य हो, उससे मन को सर्वथा दूर रखो।

आशय यही है कि जो भव्य प्राणी दैवी वृत्तियां का अधिकारी होगा वह

जागतिक पदार्थों से ममत्व हटाकर तथा उनके प्रलोभनो से बचकर अपनी आत्मिक शक्तियो की खोज करने मे जुट जाएगा। और जब अपनी आत्मा मे निहित शक्तियो को समझ लेगा, उसे सयम के अनूठे आनन्द का अनुभव होने लगेगा। सयम के अद्भुत और अनुभूतिगम्य आनन्द को प्राप्त करने के पश्चात् उसे इन्द्रियजन्य सुख एकदम नीरस तथा निस्सार प्रतीत होने लगेंगे।

यह एक ऐसा सत्य है जिसका प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समय अनुभव कर सकता है। अतएव ससार से मुक्ति या मोक्ष की कामना करने वाले साधक को सयमपरायण वनना चाहिये। यही मुक्ति का सच्चा मार्ग है।

'तपः सीमा मुक्ति'

'तपस्या का अन्तिम परिणाम मोक्ष है। अभी मैंने आपको वताया था कि सयम नवीन कर्मों का वन्धन नही होने देता और तपस्या से वधे हुए कर्म नष्ट होते हैं। इसलिए मुमुक्षु को सयम का पालन करने के साथ-साथ तपस्या भी करनी चाहिये।

तप जीवन की एक प्रखर और महान् शक्ति है। यह वह अग्नि है जो मन की समस्त अपवित्रता और कलुपता को जलाकर भस्म कर देती है, तथा तप के प्रभाव से आत्मा शुद्ध-वुद्ध होकर अपने स्वत प्रकाशमान दिव्य स्वरूप मे अवस्थित हो जाती है। इसलिये कहा गया है—

"संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।"

तप धर्म है और उसका आराधन करना चाहिये। किन्तु उससे पहले साधक को कुछ दुर्गुणो से अवश्य बचना चाहिये जिनके कारण उसकी तपस्या फल-रहित वन जाय। जिस प्रकार किसान अपने खेत मे बीज वोने से पहले उसकी सफाई करता है, तथा खाद डालकर उसे उपजाऊ बनाता है, उसी प्रकार साधक को अपनी तप साधना सफल करने के लिये अपने मन की भूमि को शुद्ध करना चाहिये तथा उसमे सयम और आत्म-वल का खाद देकर फलवती वनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

तपस्या मे अपथ्य, क्रोध

एक मरीज कितनी भी कीमती दवाइयो का सेवन करे, अगर वह उसके साथ अपथ्य ग्रहण करता है तो उत्तमोत्तम पौष्टिक दवाइयो का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार तपस्वी कैसी भी घोर तपस्या करें अगर कुछ अवगुण उसके हृदय मे स्थान वनाए रहे तो उसकी तपस्या निरर्थक चली जाती है।

कहा है कि, तपस्वी सदा ही अपने तप की क्रोध से रक्षा करता रहे।

तपस्या अभिमान रहित हो

तप की महिमा अगाध है। तप के द्वारा ही मनुष्य अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाता हुआ अभीष्ट पद की प्राप्ति करता है। किन्तु जिस प्रकार कढाही भर दूध को नमक की चुटकी फाड डालती हैं और उसके समस्त माधुर्य को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वर्षों की तपस्या के फल को अभिमान की भावना नष्ट कर देती है। जैसा कि कहा गया है—

विनयेन विना चीर्णम्-अभिमानेन संयुतम्।
महच्चापि तपो व्यर्थम्-इत्येतदवधायताम् ॥१॥

मनुष्य को भली भाति समझ लेना चाहिये कि विनय रहित और अभिमान सहित किया हुआ महा तप भी व्यर्थ होता है।

आप जानते हैं कि बाहुबलि को अपनी बारह महीनो की घोर तपस्या का फल भी तब तक प्राप्त नही हुआ, जब तक कि उनके हृदय से मान का लोप नही हुआ। मान पूजा और प्रतिष्ठा की भावना का पोषण करता है और यह भावना तप के फल को निष्फल बनाती है। इसीलिये 'सूत्र कृताग' के भगवान वे स्पष्ट आदेश दिया है —

"णो पूयण तवसा आवहेज्जा।"

अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिये तप का आचरण मत करो। अपितु -

"वेएज्ज निज्जरा पेही।
समाहिकामे समणे तवस्सी।"

केवल निर्जरापेक्षी होकर अथवा समाधि की कामना से तपस्या करो।

इस प्रकार भगवान महावीर ने तप का [illegible] स्वरूप बताया है और उसके फल को नष्ट करने वाले कारणो से [illegible] दिया है [illegible] के साथ-साथ अपने आपको तपस्वी कह [illegible] । रख [illegible] खीचने के साथ ही उसकी जड पर कुठारा [illegible] के स।

एक पाश्चात्य वि [illegible] है —

"We rise in g [illegible] ink in

ज्यो-ज्यो अभिमा [illegible] गीति

इसलिये तप [illegible] स

त्याग करना चाहिये, कीर्ति के लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है, वह तो स्वय ही उसके चरण चूमने लगेगी।

यहा एक बात और ध्यान मे रखने की है अधिकाश व्यक्ति केवल एकासन अथवा उपवास करना ही तप मानते हैं उनके खयाल मे आहार का त्याग करना मात्र ही तप है। पर यह उनकी महान भ्राति है। वास्तविकता यह है कि अनशन के साथ ही उनोदरी, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश, स्वाध्याय, ध्यान, विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग तथा प्रतिसलीनता आदि बारह प्रकार के तपो का विधान किया गया है।

ये सभी तप समान रूप से उपादेय हैं अत तपस्वी को इन सभी का महत्त्व समान मानते हुए यथाशक्ति इनके पालन का प्रयत्न करना चाहिये। उदाहरण स्वरूप - अगर किसी के शरीर मे उपवास, अठाई और मासखमण करने की शक्ति नही है पर वह वैयावृत्य अर्थात् दूसरो की सेवा तन और साथ ही सम्पूर्ण मन से भी करता है, तो वह तपस्वी है। सेवा शब्द हमे सहज दिखाई देता है किन्तु वह भी अपने आप मे महान गुरुता रखता है। अनेक भव्य प्राणी केवल अपनी सेवा-रूपी तपस्या के बल पर ही केवल ज्ञान की प्राप्ति करके मोक्ष गए हैं ऐसा हमारा इतिहास कहता है।

—नि स्वार्थ तप वैयावृत्य

सेवा हृदय और आत्मा को पवित्र करती है तथा ज्ञान की प्राप्ति कराती है जो कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। अधिक क्या कहा जाय, सेवा ही वास्तविक सन्यास है क्योकि सन्यासी केवल अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है पर सेवा-व्रतधारी पुरुष परमार्थ की वेदी पर अपना सब कुछ न्योछावर कर देता है।

सेवा करना सरल नही है वरन उपवास करने की अपेक्षा भी कठिन है। क्योकि सेवा करने वाले को केवल शारीरिक कष्ट ही नही उठाना पडता, अनेक बार गालिया, आक्षेप और मार-पीट भी सहन करनी पडती है। उपवास कर लेना सरल है किन्तु औरो की भर्त्सना तथा आक्षेप सहन कर लेना कठिन कार्य है। सेवा-भावी को अपना हृदय उदार और बडा रखना होता है। श्रमण-सघ की जवाबदारी को लेकर अनेक बार मेरे समक्ष भी ऐसे प्रसग आते है कि आक्षेपो की बौछार समाप्त नही होती पर हृदय उन्हे महसूस नही करता क्योकि आक्षेपो से होने वाले दुख की अपेक्षा सेवा-भावना हृदय को अनेक गुना अधिक सतोष प्रदान करती है।

अभी मैंने आपको एक श्लोक के आधार पर बताया था कि मान-सहित और विनय-रहित तप निष्फल जाता है। इससे भी आप समझ गए होंगे कि विनय-तप कितना महत्त्व पूर्ण है ?

धम्मस्स विणओ मूल

हमारे जैन-शास्त्रो मे स्पष्ट बताया गया है कि विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम रस है। लौकिक और लोकोत्तर, सभी दृष्टियो से विनय एक महान गुण है और महान तप है।

यहा एक बात आपको और बताना चाहता हूँ कि "नायाधम्म कहा" नामक सूत्र मे जैन धर्म और वैदिक धर्म के मूल का विवेचन किया गया है। उसमे बताया गया है कि जैनधर्म विनय मूलक है और वैदिक धर्म शौच मूलक। हम विचार कर सकते हैं कि इन दोनो मे से कौन सा धर्म आत्मा के शाश्वतिक कल्याण के लिये उपयुक्त हो सकता है ?

प्रतिदिन शरीर को पानी से साफ धो लेने से, उसे अन्य प्राणी के स्पर्श से बचा लेने से और खान-पान के छूआ-छूत की कट्टर मर्यादाओ का पालन करलेने से आत्मा पवित्र होती है या विनय गुण से सुशोभित होकर कपायादि का कचरा हट जाने से आत्मा शुद्ध होती है ? स्पष्ट है कि आत्मा का कल्याण शरीर की शुद्धि से नही, वरन मन की शुद्धि से हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आतरिक शुद्धि ही आत्मा को ऊँचा उठा सकती है।

एक संस्कृत के श्लोक मे कहा भी है :—

> न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
> स स्नातो यो दमस्नात शुचिः शुद्धमनोमल ॥

जल मे शरीर को डुबो लेना ही स्नान नही कहलाता जिसने दमरूपी तीर्थ मे स्नान किया है, मन-इन्द्रियो को वश मे कर रखा है, उसी ने वास्तव मे स्नान किया है। जिसने मन का मैल धो डाला है, वही शुद्ध है।

बन्धुओ, आशा है धर्म के मूल विनय का महत्त्व आप समझ गए होंगे। जैन शास्त्रो मे विनय को अत्यन्त विराट रूप प्रदान किया गया है। विनय किस प्रकार आत्मा को ऊँचा उठाता हुआ चरम उत्कर्ष की ओर ले जाता है यह एक जैनाचार्य ने बडे ही सुन्दर ढग से समझाया है। कहा है —

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फल विरति, विरति फल चाश्रवनिरोध ॥
सवरफल तपोवलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥
योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षय संततिक्षयान्मोक्ष —
तस्मात्कल्याणाना, सर्वेषा भाजनं विनयः ॥

विनयी साधक अपने गुरु की मवन्ति करण से सेवा शुश्रूषा करेगा, और उसके फलस्वरूप उसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी। ज्ञान से चारित्र का लाभ होगा और चारित्र के लाभ से आस्रव रुक जाएगा। अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन न होकर सवर होगा। सवर के फल-स्वरूप तपोवल की प्राप्ति होगी और उससे कर्मों की निर्जरा होती रहेगी। निर्जरा होने पर आत्मा को अकर्मा दशा प्राप्त होती है और अकर्म दशा प्राप्त होने पर आत्मा अयोगी वन जाती है। अयोगी वन जाने पर अर्थात् मन वचन और शरीर के समस्त व्यापारो के अवरुद्ध हो जाने पर जन्म-मरण के चक्र की समाप्ति हो जाती है। और भव-परम्परा समाप्त हो जाने पर मोक्ष की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार विनय-तप के द्वारा आत्मा का क्रमश उत्थान होता चला जाता है और विराम वहा होता है, जहाँ आत्मा मुक्त हो जाती है।

मुहम्मद साहब ने भी अपनी धर्म-पुस्तक हदीस मे यही आशय व्यक्त करते हुए कहा है—

मन या हरमुरिफको या हर मुलखैरे कुल्लिही।

अर्थात्—जिसने विनय को अपनाया है, उसने समस्त भलाइयो को अपना लिया है।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि अनशन के समान ही अन्य ग्यारह प्रकार के तप भी आत्मिक शुद्धि मे समान महत्त्व रखते हैं तथा केवल अनशन को ही तप न मानकर तपस्वी को यथाशक्य सबकी आराधना करनी चाहिये। पर्युषण-पर्व के इन आठ दिनो मे आपने जिन नव्वे आत्माओ के आत्म-कल्याण के विषय मे सुना है, उन्होंने मुक्ति की प्राप्ति के लिये केवल अनशन ही नहीं किया है, स्वाध्याय, ध्यान, प्रायश्चित तथा विनय आदि सभी प्रकार के तप किये हैं। और तभी अपने मानव-जन्म को सफल करपाये हैं।

१०

शरीर को कष्ट किसलिए ?

अनेक व्यक्ति यह कहते हुए पाये जाते हैं कि तपस्या करके शरीर को सुखाने मे क्या धर्म है ? हमारा जब बम्बई मे चातुर्मास था, तब एक ग्रेजुएट युवक ने भी मुझ से यही कहा। उसने पूछा—"महाराज ! मैं अजैन हूँ किन्तु जैनधर्म व अन्य धर्मों के विषय मे भी मे पढता रहता हूँ। मैंने देखा है कि जैनधर्म तपस्या पर बहुत जोर देता है। ऐसा क्यो ? कल्याण तो आत्मा का करना है फिर शरीर को किसलिये कष्ट देना चाहिये ?"

सुनकर मुझे हसी आ गई। मैंने उससे पूछा—

"तुमने कभी मक्खन से घी निकालते देखा है ?"

"हा" वह बोला।

"कैसे निकाला जाता है ?" मैंने प्रश्न किया।

"किसी बर्तन मे डालकर उसे आग पर रख देते हैं।"

"पर तपाना तो मक्खन है, फिर बर्तन को जलाने से क्या लाभ होता है ?" मैंने पुन प्रश्न किया।

वह कुछ हिचकिचाता हुआ बोला "महाराज ! बर्तन को नही तपाएगे तो मक्खन कैसे तपेगा ?"

इसी उत्तर की मुझे आशा थी। मैंने कहा—"भाई ! मक्खन के समान ही आत्मा है उसे तपाकर शुद्ध घी के रूप मे परिणत करने के लिये शरीर रूपी बर्तन को तप की आच मे तपाया जाता है। सक्षेप मे बर्तन तपे बिना जिस प्रकार मक्खन नही तपता, उसी प्रकार शरीर के तपे बिना आत्मा तप कर घी के समान शुद्ध रूप मे नही आ सकती।"

उस भाई की समझ मे बात आ गई और वह सतुष्ट होकर चला गया।

बन्धुओ, वह अजैन युवक था, इसलिये यह उदाहरण उसे देना पडा। किन्तु आप इससे अपरिचित नही है। अपने धर्म-ग्रन्थो मे पढ चुके होगे तथा सत-महात्माओ के उपदेशो मे सुन भी चुके होगे। पर केवल सुनने से लाभ नही होगा, सुनने के साथ-साथ क्रियान्वित भी करना पडेगा। आवश्यक है कि अगर आप अपनी आत्मा को उन्नत बनाना चाहते है तो तप के सभी प्रकारो को यथासाध्य अपनाए।

एक बात और है। बारह प्रकार के तपो की तालिका देखकर आप घबराए नही कि सब कैसे किये जा सकेंगे ? सभी तप अपने-अपने समय पर किये जा सकते हैं। अगर आप एकान्त में बैठे हैं, तो स्वाध्याय और ध्यान

शरीर को कष्ट किसलिए ?

अनेक व्यक्ति यह कहते हुए पाये जाते हैं कि तपस्या करके शरीर को सुखाने मे क्या धर्म है ? हमारा जब बम्बई मे चातुर्मास था, तब एक ग्रेजुएट युवक ने भी मुझ से यही कहा। उसने पूछा—"महाराज ! मैं अजैन हूँ किन्तु जैनधर्म व अन्य धर्मों के विषय मे भी मे पढता रहता हूँ। मैंने देखा है कि जैनधर्म तपस्या पर बहुत जोर देता है। ऐसा क्यो ? कल्याण तो आत्मा का करना है फिर शरीर को किसलिये कष्ट देना चाहिये ?"

सुनकर मुझे हसी आ गई। मैंने उससे पूछा—

"तुमने कभी मक्खन से घी निकालते देखा है ?"

"हा" वह बोला।

"कैसे निकाला जाता है ?" मैंने प्रश्न किया।

"किसी बर्तन मे डालकर उसे आग पर रख देते हैं।"

"पर तपाना तो मक्खन है, फिर बर्तन को जलाने से क्या लाभ होता है ?" मैंने पुन प्रश्न किया।

वह कुछ हिचकिचाता हुआ बोला "महाराज ! बर्तन को नही तपाएगे तो मक्खन कैसे तपेगा ?"

इसी उत्तर की मुझे आशा थी। मैंने कहा—"भाई ! मक्खन के समान ही आत्मा है उसे तपाकर शुद्ध घी के रूप मे परिणत करने के लिये शरीर रूपी बर्तन को तप की आच मे तपाया जाता है। सक्षेप मे बर्तन तपे बिना जिस प्रकार मक्खन नही तपता, उसी प्रकार शरीर के तपे बिना आत्मा तप कर घी के समान शुद्ध रूप मे नही आ सकती।"

उस भाई की समझ मे बात आ गई और वह सतुष्ट होकर चला गया।

बन्धुओ, वह अजैन युवक था, इसलिये यह उदाहरण उसे देना पडा। किन्तु आप इससे अपरिचित नही है। अपने धर्म-ग्रन्थो मे पढ चुके होंगे तथा सत-महात्माओ के उपदेशो मे सुन भी चुके होंगे। पर केवल सुनने से लाभ नही होगा, सुनने के साथ-साथ क्रियान्वित भी करना पडेगा। आवश्यक है कि अगर आप अपनी आत्मा को उन्नत बनाना चाहते हैं तो तप के सभी प्रकारो को यथासाध्य अपनाए।

एक बात और है। बारह प्रकार के तपो की तालिका देखकर आप घबराए नही कि सब कैसे किये जा सकेंगे ? सभी तप अपने-अपने समय पर किये जा सकते हैं। अगर आप एकान्त मे बैठे हैं, तो स्वाध्याय और ध्यान

कीजिये। भोजन के वक्त अनशन, ऊनोदरी या रस-त्याग करिये, ज्ञान-प्राप्ति और गुरुजनो के ससर्ग मे विनय कर सकते हैं तथा इसीप्रकार आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वैयावृत्य आदि सभी तप किये जा सकते हैं। सभी को एक साथ और एक ही वार वैठकर करने की आवश्यकता नही है। तपस्या तो चलते-फिरते और गृहस्थी का प्रत्येक कार्य सम्पन्न करते हुए भी की जा सकती है।

जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, अर्थात् अपन जीवन के प्रत्येक क्षण का किसी न किसी प्रकार से सदुपयोग करने के प्रयास मे रहते है, उन्हें अपने जीवन के अन्त मे कभी पश्चात्ताप नही करना पडता। जिस प्रकार पक्का व्यापारी अपना रोज का जमा-खर्च उसी दिन करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु अपने कृत्यो का जमा-खर्च भी रोज करता है। प्रतिदिन रात्रि को चिन्तन करते हुए वह विचार करता है कि आज मैंने कितने पुण्य और कितने पापो का उपार्जन किया।

एक गुजराती कवि ने भी इसी बात का आग्रह किया है —

राते रोज विचारो आज कमाया शू अहीं रे।
सूता मन महीं रे।
जे माटे आ जग तन दीधू, ते साटे मैं शूंशू कीधू ?
वधे घटे ए सुधारवूँ छे के नहीं रे। ॥ राते० ॥
पाप रूप शूं करज थयूं छे, ते साटे शू पुण्य कयूँ छे?
पुण्य पाप मा वधे छे बाजू कई रे? ॥ राते० ॥

कवि का कथन है—"प्रतिदिन रात्रि को सोते समय विचार करो कि मैंने आज क्या कमाया ? सौभाग्यवश जो मनुष्य तन मुझे मिला है, उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिये आज मैंने क्या-क्या किया है, और कुछ घटा-वढा है तो उसके लिये अव क्या करना है ?"

"यह भी देखो कि आज दिन भर मे जितने पाप-कर्मों का उपार्जन करके मैंने कर्जा वढाया है, उसे उतारने के लिये पुण्य कितना कमाया है ? पुण्य और पाप दोनो मे से क्या अधिक है और क्या कम ? तथा पाप की तुलना मे पुण्य कुछ बचा भी है या नही ?"

साधु-साध्वी और व्रतधारी श्रावक-श्राविकाए तो पक्के व्यापारी होते हैं, अत वे प्रतिदिन अपना जमा-खर्च कर लेते है। प्रतिक्रमण का विधान प्रकारातर से जमा-खर्च ही है। किन्तु वधुओ, आपके जैसे कच्चे व्यापारी प्रमाद कर जाते हैं। सोचते हैं, दो-चार कलमें तो है ही, अष्टमी या चतुर्दशी

को कर लेंगे। ठीक है, बिल्कुल नही करने से तो तिथि को करना भी अच्छा। Something is better than nothing.

किन्तु, इस जगत मे प्रमादी व्यक्तियो का टोटा नही है। वे अपने जमा-खर्च का कार्य तिथि से पक्खी पर अर्थात् पन्द्रहवे दिन पर ले जाते हैं, और उस दिन भी नही हो पाता तो चौमासी की राह देखते हैं। पर वह दिन नही रहता, अथवा कोई सासारिक कार्य आ जाता है तो सवत्सरी के दिन कर लेने का विचार करके निश्चित हो जाते हैं।

पर यह उनकी कितनी बडी भूल है ? क्या साल भर के पाप-पुण्य के आकडे उन्हे याद रह सकते हैं ? क्या वे बता सकते हैं कि वर्ष के तीन सौ पैसठ दिनो मे से अमुक-अमुक दिन हमने इतने शुभ-कृत्य या इतने अशुभ-कृत्य किये ? नही, वह सब कुछ नही होता। सवत्सरी के दिन केवल तोते के समान वाणी से ही एक दूसरे से अपने अपराधो की क्षमा याचना कर लेते हैं।

मैं यह कहता हूँ कि मरने पर यही रह जाने वाले धन की तो आप इतनी परवाह करते हैं कि दो रुपये भी किसी को उधार दें तो उसी वक्त चटपट अपनी बही मे नोट कर लेते है ताकि कभी भी भूल न सकें। किन्तु जिन कर्मों का कर्ज आपको मरने के पश्चात् भी चुकाना पडेगा, उसकी पूर्ति की फिक्र क्यो नही करते ? उस कर्ज की कलमे आपको याद क्यो नही रहती ? क्या रुपये, पैसे और नोटो के रूप मे उसे चुकाना नही पडता इसलिये ? पर याद रखो ! वह कर्ज चुकाना बहुत भारी पडेगा। और उसके विद्यमान रहते स्वर्ग और मोक्ष की आपकी कामना आकाश कुसुम ही बनी रहेगी।

एक विद्वान ने कर्ज की भयकरता का चित्रण करते हुए कहा है —

"कर्ज मनुष्य के लिये वैसा ही है जैसा पक्षी के लिये सर्प। जिसके नेत्र हृत-पिंड को कपा देते है, जिसकी श्वास शरीर को विषमय बना देती हैं और जिसकी लपेट मास-पेशियो को चकनाचूर कर देती है।"

—बुलवर लिटन

बधुओ, यह उस कर्ज का चित्रण है जो रुपये-पैसे के रूप मे केवल इस जन्म के लिये ही लिया जाता है। किन्तु एक जन्म का कर्ज भी जब इतना भयानक होता है तो कल्पना कीजिये कि, अनेक जन्मो तक आत्मा के साथ रहने वाले कर्जे का चित्र कैसा भयानक बनेगा ? गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो नाना प्रकार की दुर्गतियो और नरक की महा-भयकर तथा क्रूरतम यातनाएँ ही पाप-कर्म रूपी कर्जो का चित्रण हैं। पर लगता है कि उन चित्रो

को देखते-देखते आप उनके आदी हो गए हैं, और अब उनका डर आपको नही रहा। किन्तु ध्यान मे रखने की बात है—जो डरता है मौत उसे भी घेरती है, और जो नही डरता है उसे भी। इसी प्रकार कुकर्मी व्यक्ति चाहे डरे या न डरे, उसे अपने कर्मों का फल अवश्यमेव भुगतना पडता है।

इसलिये आवश्यक है कि हम पूर्ण सावधानी रखते हुए अपनी दिन-चर्या समाप्त करें और उसके पश्चात् भी रात्रि को सिंहावलोकन करके सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष पर दृष्टिपात करते हुए अगले दिन ही हमारा अन्त करण स्फटिक-मणि के समान दोष रहित और उज्ज्वल बन सकेगा तथा आत्मा अपने स्व-भाविक स्वत प्रकाशमान स्वरूप मे अवस्थित हो सकेगी। कहा भी है —

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञान-हृदय-ग्रन्थि-नाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

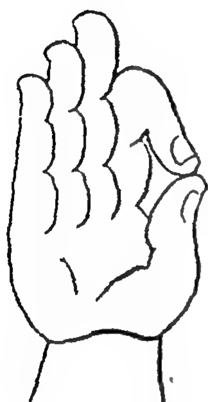
— शिवगीता

मोक्ष किसी स्थान पर रखा हुआ नही मिलता और न उसको ढूढने के लिये किसी दूसरे गाव को ही जाना पडता है। हृदय की अज्ञानग्रन्थि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है।

वास्तव मे, मोक्ष कही अन्यत्र उपलब्ध नही होता। आत्मा की परम-शुद्धि ही मोक्ष है। आप देखते ही हैं कि मैला बर्तन घिसकर साफ कर दिया जाय तो चमकने लग जाता है। क्या चमक उसमे बाहर से डाली जाती है? नही, वह उसके अन्दर ही विद्यमान रहती है। इसी प्रकार सयम और तप द्वारा आत्मा पर चढी हुई कर्मों की कालिमा जब सम्पूर्ण रूप मे अलग कर दी है तो वह अपने स्वय जोतिर्मय रूप को प्राप्त कर लेती है। इसे ही मुक्त-दशा कहा जाता है।

धर्मानुरागी बधुओ! समय बहुत हो चुका है तथा आज हमारे कभी न भरने वाले आठ खड्डो का प्रासगिक विषय भी समाप्त हो रहा है। आप भली-भाति समझ गए होगे कि अन्य सात गर्त जहाँ आपके लिये अशुभ और दु खदायी हैं वहाँ मुक्ति-रूपी आठवा गर्त परम शुभ तथा आपको चिर-कालीन दुखो से छुटकारा दिलाकर शाश्वत सुख की प्राप्ति कराने वाला है।





१०

न शरीरं पुनः पुनः

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

अभी-अभी आपने एक भजन सुना, जिसमें कहा गया है—

जय बोलो महावीर स्वामी की।
घट-घट के अन्तर्यामी की।

भक्त लोग घट-घट के अन्तर्यामी की जय बोलते हैं, लेकिन वह जय केवल उनके अन्तर्यामी होने से ही नहीं बोली जाती। इसका कारण और भी है जो आगे बताया गया है—

जो पाप मिटाने आया था।

बस, यही बात उनकी जय बोलने का कारण है। संसार में महानतम पुरुष वही है जो पापों का नाश करने का प्रयत्न करता है। भगवान महावीर स्वामी ने भी अपने पापों का नाश तो किया ही साथ ही संसार के अन्य प्राणियों को भी अपने पापों को नष्ट करने की प्रेरणा दी। आज भी हम उन्हीं के आदेशानुसार अपने पापों का क्षय करने के लिये यथाशक्य प्रयत्न करते हैं।

पाप-शिरोमणि

पाप वैसे अठारह प्रकार के हैं, पर उनमे प्रथम और सर्व-शिरोमणि है हिंसा। हिंसा घोर पाप है। हिंसक व्यक्ति जन्म-जन्मान्तरो तक इसके महा-दु खदायी परिणामो को भुगतता है। हमारे जैनशास्त्रो मे नरकगति के चार कारण बतलाये गए हैं—(१) महाआरभ-हिंसा (२) महापरिग्रह—लोभ-लालच (३) पचेन्द्रिय प्राणी का वध और (४) मासाहार।

"हिंसैव दुर्गतेर्द्वारम्" अर्थात् हिंसा ही दुर्गति का द्वार है। यह मानते हुए हमारा धर्म जो कि अहिंसा पर ही टिका हुआ है, हिंसा का सर्वथा निषेध करता है। कहता है —

जइ ते न पियं दुक्खं जाणिउ एमेव सव्वजीवाण।
सव्वायरमुवउत्तो, अतोवम्मेण कुणसु दया॥

—भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णक

कहा है—सर्व प्रथम यह विचार कर कि तुझे दु ख प्रिय है या अप्रिय? अगर तुझे अप्रिय है तो और जीवो के विषय मे भी यही समझ। जैसे तुझे दु ख अप्रिय है, उसी प्रकार ससार के सभी जीवो को अप्रिय है। इस प्रकार आत्मौपम्य की बुद्धि से, प्राणियो पर पूर्ण रूप मे दया कर।

दया और अहिंसा का महत्त्व बताते हुए शेखसादी ने भी कहा है —

खुदाराबर आ बन्दा बखशाहश अस्त।
कि खल्क अज वजूदश गर आशाहश अस्त॥

— खुदा उसी इन्सान को कृतकृत्य करेगा कि जिस के हाथो मे किसी भी जीव को हानि नही पहुचती।

अहिंसा प्रकृति का अविभाज्य अग है और प्राणी मात्र का नैसर्गिक धर्म है क्योकि ससार का प्रत्येक जीव स्वय, तनिक सा भी दु ख बर्दाश्त नही कर सकता अत औरो को कष्ट देने का भी अधिकार नही रखता। इसीलिये ससार के सभी धर्म हिंसा का निषेध करते हैं।

मुस्लिम धर्म क्या कहता है, यह अभी मैंने बताया ही था, अब वैदिक धर्म क्या कहता है यह देखिये। —

सर्वे वेदा न तत्कुर्यु, सर्वे यज्ञाश्च भारत।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिना दया॥

— महाभारत शान्ति पर्व

अर्थात् प्राणियो की दया जो फल देती है, वह चारो वेद भी नही दे सकते और तीर्थों के स्नान तथा वन्दन भी वह फल नही दे सकते।

बौद्ध धर्म का भी दृढ विश्वास है कि —

इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तेन कर्म विपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव ॥

—इस भव से एकानवे भव पहले मैंने बलपूर्वक एक पुरुष की हत्या की थी। उसमे उत्पन्न हुए पाप कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर मे यह काटा चुभा है।

इस कथन से स्पष्ट है कि जीव हत्या का पाप जन्म-जन्मान्तरो तक अपना अशुभ फल प्रदान करता है। अत इसका सम्पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिये।

सिक्खशास्त्र भी हिंसा और मासभक्षण को अत्यन्त जघन्य कृत्य मानते हैं। जैसे —

जे रत्त लागे कापडे, जामा होय पलीत ।
जो रत्त पीवें मानुषा, नित क्यो निर्मल चीत ।

अर्थात् हमारे वस्त्र मे यदि रक्त का धब्बा लग जाय तो उसे हम अपवित्र मानते हैं, किन्तु जो मनुष्य रक्त का सेवन करते है, उनका चित्त निर्मल कैसे रह सकता है ?

कहने का अभिप्राय यही है कि जो धर्म के सच्चे स्वरूप को समझ लेते हैं, वे अन्य समस्त शुभ-क्रियाओ को करने से पहले हिंसा का त्याग करते हैं और अहिंसा को ग्रहण करते है। हिंसा का त्याग भी केवल शरीर से नही अपितु मन और वचन मे भी करते हैं।

घर नहीं छूटना चाहिये

कहते हैं कि एक बार मुस्लिम मत शेखशिल्ली एक बनिये की दुकान पर आटा लेने गये। आटा ले वे घर लौट आए, पर उन्होने देखा कि उसमें एक चीटी बडी व्याकुलता से चारो ओर दौड रही है।

चीटी को देखकर शेखशिवली बडे दुखी हुए और रात को सोना ही हराम समझा। उसी वक्त उन्होंने बनिये की दुकान पर जाकर चीटी को छोड़ दिया और कहा—'मेरे कारण इस बेचारी चीटी का घर नही छूटना चाहिये।'

बताइये, कितने व्यक्ति ऐसी करुणा की भावना रखते हैं, जैसी मुसलमान संत शिबली के हृदय मे थी ? हजरत मुहम्मद ने भी एक स्थान पर लिखा है—'जहाँ पशु मरते हो, वहाँ नमाज नही पढी जानी चाहिये ।'

'वास्तव मे, अहिंसा का पालन करना मनुष्य-मात्र का धर्म है तथा प्रत्येक जीव को पीडा से बचाना तथा उसकी प्राण-रक्षा करना इन्सानियत का तकाजा है ।

सच्चा इन्सान

शेरसिंह नामक एक युवक धारा नगरी के बंदीगृह का पहरेदार था ।

एक बार वहाँ के राजा यादुराव को किसी भयकर बीमारी ने घेर लिया। अनेकानेक प्रकार के इलाज और झाड-फूँक करवाई गई, पर कोई लाभ नही हुआ । अत मे किसी ने उनसे कहा—"अगर आप नौ सौ नव दम्पतियो के खून से स्नान करलें तो आपकी बीमारी जड-मूल से नष्ट हो जाएगी ।

हम देखते ही है कि ससार मे जहाँ कुछ व्यक्ति औरो की रक्षा के लिये अपने प्राणो का बलिदान देने वाले नर-पुंगव होते हैं, वहाँ अपने प्राणो की रक्षा के लिये औरो के प्राण हरण करने वाले हृदय-हीन भी पाये जाते हैं। यादुराव इसी श्रेणी के व्यक्ति थे । उन्होने नौ सौ दम्पतियो के खून से अपनी प्राण-रक्षा करने का निश्चय कर लिया और उन्होंने कुछ ही माह के अन्दर नौ-सौ नव-विवाहित पति-पत्नी के जोडो को पकडवा कर अपने कारागृह मे बंद करवा दिया तथा उनके बलिदान का दिन निश्चित किया ।

जिस दिन उन अठारह सौ निर्दोष प्राणियो का रक्त घानी मे पेलकर निकाला जाने वाला था, उससे एक दिन पहले बहादुर शेरसिंह ने अपने प्राणो की बाजी लगाने का निश्चय कर लिया और रात को उन समस्त स्त्री पुरुषो को कारागृह से निकालकर शीघ्रातिशीघ्र धारा नगरी की सीमा से बाहर भाग जाने का बंदोबस्त कर दिया ।

आप सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि बंदीगृह के पहरेदार की इस अपराध के फलस्वरूप क्या दशा हुई होगी ?

अगले दिन ज्योंही महाराज को शेरसिंह के इस कृत्य की सूचना मिली, वह क्रोध मे अंधे हो गए । आग बबूला होकर उन्होंने शेरसिंह की बोटी बोटी उड़ा देने की आज्ञा दे दी ।

शेरसिंह तो अपने प्राणो का मोह पहले ही त्याग चुका था । और फिर राजा के अनेक सैनिको का मुकाबला कब करता ? बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए उसने महान सतोष और हर्ष के साथ अपने प्राण-विसर्जन किये ।

छोडे हुए युगलो मे हिन्दू और मुसलमान सभी सम्मिलित थे। अत जहाँ शेरसिंह का मस्तक गिरा, वहाँ पर हिन्दुओ ने और जहाँ धड गिरा था वहाँ मुसलमानो ने अपने-अपने पवित्र स्मारक बना लिये और उसे देवता के समान पूजने लगे।

आज भी हिन्दू और मुसलमान परम श्रद्धा पूर्वक शेरसिंह को स्मरण करते हैं और वन्दी छोड महाराज के नाम से पुकारते हैं।

बधुओ! शेरसिंह ने न पूजा-पाठ किया था, न यज्ञ और हवन किया था और न ही गगास्नान और तीर्थों के दर्शन ही किये थे। किन्तु क्या उसके धर्मात्मा होने मे कोई कमी थी? नही, वह धर्मात्माओ मे सर्व-शिरोमणि साबित हुआ था। अपने प्राण देकर सैकडो जीवो की प्राणरक्षा से वढकर धर्म और क्या हो सकता है?

पर खेद की वात है कि आज के युग मे अपने प्राण देकर दूसरो की रक्षा करना तो दूर, दूसरो के प्राण लेकर अपने शरीर को अधिकाधिक पुष्ट करना ही जीवन का ध्येय वन गया है। लोगो की धारणा वन गई है कि अगर अण्डे व मास न खाया जाय, मछली का तेल न पिया जाय, तो शरीर निर्बल हो जाता है।

उन जिह्वालोलुप व्यक्तियो की यह धारणा निस्सार और गलत है। वलवान वनने के लिये मासहार की कोई आवश्यकता नही है। इसी युग मे अनेको व्यक्ति मासाहार न करके भी मासाहारियो की अपेक्षा अधिक वलवान साबित होते है। पिछले दोनो महायुद्धो मे यह प्रमाणित हो गया हैं। उन युद्धो मे मासाहारी सैनिक भीरू तो साबित हुए ही, वे अल्प श्रम करके भी निरामिषभोजियो की अपेक्षा जल्द थक जाने वाले पाये गए हैं।

प्रोफेसर राममूर्त्ति के नाम से भी आप सब परिचित ही होगे। वह चलती हुई मोटर को अपने हाथो से रोक देते थे, हाथी को अपने सीने पर खडा कर लेते थे और लोहे की मजबूत साकल को एक झटके मे ही तोड डालते थे। और इतने बलवान होने पर भी उन्होने कभी माँस नही खाया। महात्मा गाँधी, जिनकी बुद्धिमत्ता और साहसिकता का लोहा आज सारा ससार मानता हैं उन्होने मास कभी ग्रहण नही किया। गाधीजी दृढ विश्वास पूर्वक कहते थे—

"अहिसा प्रचण्ड शस्त्र है. उसकी शक्ति असीम है। वह वीर पुरुष की शोभा, उसका सर्वस्व और परम पुरुषार्थ है। अहिसा शुष्क, नीरस और जड

पदार्थ नही है, आत्मा का विशेष चैतन्य गुण है। अहिंसा सत्य का प्राण है, उसका अर्थ है ईश्वर पर भरोसा करना। अहिंसक स्वय कछ नही करता, उसका प्रेरक ईश्वर होता है। मैं तो शुरू से ही यह मानता आया हूँ कि अहिंसा ही धर्म है और मानवता की कसौटी है।"

—महात्मा गांधी

धर्म की कसौटी

एक वार गांधीजी के द्वितीय पुत्र स्व० मणिलाल गांधी को वाल्यावस्था मे काले ज्वर ने आ घेरा। डॉक्टर को वुलाया गया और उन्होंने अच्छी तरह शारीरिक जाच करने के पश्चात् कहा—"विना अण्डे और मुर्गी का शोरवा दिये काम नहीं चलेगा।"

वापू जी शाकाहारी थे, इसलिये उन्होंने डॉक्टर से इन चीजो के अलावा अन्य शुद्ध वस्तु वताने के लिये आग्रह किया।

डॉक्टर ने कहा—"आपके वालक की हालत खतरनाक है। वैसे दूध और पानी दिया जा सकता है पर उससे पूरा लाभ नही हो सकेगा। मैं समझता हू कि ऐसी हालत मे आपको अपने वच्चे के साथ इस प्रकार सख्ती नही करनी चाहिये। मैं और भी हिन्दू परिवारो मे जाया करता हूँ और वे लोग दवा के तौर पर मैं जो कुछ वताता हू, उसका प्रयोग करते हैं।"

गांधीजी ने अत्यन्त गभीरतापूर्वक उत्तर दिया - "आप एक डॉक्टर होने के नाते जो कहते हैं, ठीक ही कहते हैं और आपको कहना भी चाहिये। परन्तु मेरी जिम्मेवारी वहुत वडी है। अगर लडका वडा होता तो मैं इसकी इच्छानुसार करने की आज्ञा देता, पर अभी इसके लिए मुझे ही विचार करना है। मैं समझता हू कि धर्म की कसौटी ऐसे वक्त पर ही होती है। मैंने तो इसे ही धर्म माना है कि मनुष्य को मासादिक नही खाना चाहिये। मेरे धर्म की मर्यादा मेरे व परिवार के समस्त व्यक्तियो को ऐसे आडे समय मे भी मासखाने से रोकती है। अत मैं आपका इलाज तो नही करवाऊँगा, किन्तु अगर आपको कोई ऐतराज न हो तो विना आपके इलाज चालू किये भी आप इसे प्रतिदिन देख जाया करें तथा मुझे इसकी शारीरिक स्थिति से अवगत करा जाया करें। मैं इसकी जल-चिकित्सा करूँगा, जिसकी मुझे थोडी वहुत जानकारी है।"

डॉक्टर सज्जन थे। वे गांधीजी की कठिनाइयो को समझ गए और विना अपनी चिकित्सा के भी उन्होंने नियमित रूप से वच्चे को देखने के लिए आने की अनुमति दे दी।

वास्तव मे, महापुरुष ऐसे ही होते है, जो महान् सकट के समय मे भी धर्म से नही डिगते । गाधीजी ने अपने पुत्र के जीने और मरने की परवाह नही की और अपने धर्म पर दृढ रहते हुए उसे इलाज के तौर पर भी मास-भक्षण नही कराया ।

अनेक कुतर्क करने वाले व्यक्ति कहते हैं कि कई शास्त्रो मे मासाहार का विधान है । उनका कथन भ्रमपूर्ण है । प्रथम तो जिस शास्त्र मे मासाहार का विधान है, वह शास्त्र ही नही कहला सकता । शास्त्र केवल उसी को कहा जा सकता है जो मानव को कुमार्ग पर जाने से रोके । मास-भक्षण जैसी बुराई को प्रोत्साहन देने वाला शास्त्र, शास्त्र कैसे माना जा सकता है ?

दूसरे, जैसे कि मैंने अभी उदाहरण आपको दिये है, मुस्लिम, बौद्ध, वैदिक और सिक्ख धर्म-ग्रन्थो मे भी हिंसा और मासाहार का निषेध है ।

कुरान के सूरत मायदा, मजिल-२ आयत-३ मे लिखा है—

"ऐ ईमान वालो ! जब तुम भक्ति करते हो तो शिकार मत करो ।"

कुरान मे ही पारा १७, सूरत हज्ज, रुक ५ आयत ३८ मे और भी स्पष्ट दिया है—

"खुदा को पशुओ का मास और खून कदापि न पहुचेगा, बल्कि तुम्हारी परहेजगारी पहुचेगी ।

ईसाई धर्म की इजील मे भी दिया गया है—

"Thou shall not kill"

—मति अ० १७, आ० १८

अर्थात् तू किसी जीव की घात मत कर ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक धर्म-ग्रन्थो मे दया-धर्म का पालन करने की शिक्षा दी गई है । समयाभाव के कारण सभी के प्रमाण नही दिये जा सकते, किन्तु सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि ससार मे कोई धर्म या मत ऐसा नही है, जिसके पवित्र ग्रन्थ मे हिंसा का निषेध और दया का पालन करने की प्रेरणा न दी गई हो ।

हमारे जैन-शास्त्रो मे तो अहिंसा के सिद्धात को चरम सीमा पर पहुचा दिया है । उनमे अहिंसा का जैसा विशद, प्रभाव जनक और सर्वांगीण विवेचन किया है, वैसा किसी भी अन्य धर्म-शास्त्र मे नही मिलता । दूसरे शब्दो मे

अहिंसा-धर्म का ही नाम जैन-धर्म है। जैनाचार के प्रवर्तको ने केवल अहिंसा की मीमासा ही नही की है, अपितु उसको आचरण मे उतारकर भी उसकी व्यवहार्यता प्रमाणित की है। अनेकानेक जैन साधु-साध्वी अहिंसा का सच्चे रूप मे आचरण करते आए है और आज भी कर रहे है। वे शरीर को खुराक ही केवल इसलिए देते है कि यह आत्म-साधना मे सहायक बना रहे।

आहार का प्रयोजन

आहार का वास्तविक प्रयोजन केवल शरीरयात्रा का निर्वाह करना ही है। आहार प्राणिमात्र को करना पडता है। शरीर के प्रति सम्पूर्ण ममता का परित्याग कर देने वाले मुनि और तपस्वी भी आहार करते हैं क्योकि उसके विना शरीर नही चलता, और स्थिति मे आत्म-साधना होना सम्भव नही होता। किन्तु आत्म-कल्याण का उद्देश्य छोडकर केवल शरीर की पुष्टि और अपनी जिह्वातृप्ति को ही प्रयोजन मानकर जो भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये विना अपने उदर को नाना प्रकार के पदार्थों से भरते रहते हैं, उनके समान मूर्ख और अज्ञानी कौन होगा? मास-मदिरा आदि नाना प्रकार के अभक्ष्य-भक्ष्य से महान पाप-कर्मों के वन्धन का कारण वनने वाला यह परिपुष्ट शरीर क्या उनके साथ जाएगा? नही, इसीलिये महापुरुष वार-वार जीव को बोध देते हैं —

"प्रस्थाने तु पदान्तरेऽपि भवता सार्द्धं न तद्यास्यति।

—अरे आत्मन्! जव तू परलोक मे जाएगा, उस समय मे यह शरीर और अन्य भौतिक पदार्थ तेरे साथ नही आएगे। अत इनके द्वारा जितनी भी पर-हित साधना कर सके, उतनी समय रहते कर ले, अन्यथा पछताना पडेगा।

प्रौढ कवि पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी म० ने भी तन की निस्सारता वताते हुए इसमे गृद्ध न होने की प्रेरणा दी है —

तन है असार नर, कीजिए विचार मन,
पिंजर है हाड तापै, चरम जो मढाना है।
दुरगध खाना तू तो, मानत है मेरा मेरा,
अन्त दगादार तन, जान दुखदाना है॥
मागत है खाना नहीं देवे तो हैरान करे,
खावत अनेक चीज तोहू न अधाना है।
अमीरिख कहे तन काचा कुंभ जैसे जान,
रग चंग देख नर, मया क्यो दिवाना है॥

कहा है—अरे मानव ! जरा मन मे विचार तो कर कि यह शरीर कैसा है ? चमडे से मढा हुआ हड्डियो का पिंजर मात्र ही तो है जो कि अनेक प्रकार के घृणित पदार्थों से भरा है। रात दिन नाना प्रकार के शुद्ध-अशुद्ध पदार्थों को ग्रहण करके भी यह अतृप्त ही रहता है, इसकी भूख कभी शात नही होती ऊपर से तुर्रा यह कि ठीक आत्मा के इस लोक से प्रयाण करते धोखा देता है, उसका साथ नही देता।

फिर ऐसे दु खदायी और कच्चे घडे के समान नश्वर शरीर के बाह्य-रूप को देखकर तू दीवाना क्यो बना हुआ है ? क्यो अपने दुर्लभ समय को इसकी पुष्टि के प्रयत्नो मे ही खो रहा है ?

महापुरुषो का कथन यही है कि आहार के लिए निन्दनीय कार्य मत करो, उसे केवल प्राणो का सरक्षण करने के लिए ही ग्रहण करो। पेट को पालने के बहाने नाना प्रकार के अनैतिक तथा हिंसामय कुकृत्य करने से प्रथम तो ससार मे निन्दनीय बनोगे, दूसरे असख्य पाप-कर्मों का उपार्जन करके परलोक मे भी दु खो के पात्र होओगे।

प्राणो का सरक्षण करना आवश्यक है। यह शरीर भी मोटर गाडी या बैलगाडी के समान है। जिस प्रकार अन्य गाडियो के पहियो व पुर्जों को तेल देना पडता है, उसके बिना वे बराबर काम नही करते, जल्दी घिस जाते है तथा यात्रा खतरे मे पड जाती है इसी प्रकार इस शरीर-रूपी गाडी को भी खुराक देनी आवश्यक है अन्यथा जीवन यात्रा कठिन हो जाती है, प्राण खतरे मे पड जाते है।

कई व्यक्ति कहते है, जब शरीर का कोई मूल्य नही है, तो प्राणो को ही किस लिए धारण करना ? अरे भाई ! प्राण रहेंगे तभी तो तत्त्वो का चिंतन हो सकेगा। जीव क्या है ? अजीव क्या है ? पाप क्या है ? तथा बध और मोक्ष क्या है ? बिना इन सबका चिन्तन कैसे होगा ? और जब चिंतन नही किया जायगा तो पापो से बचने और पुण्यो का सचय करने का प्रयत्न भी कैसे होगा ! और यह नही होगा तो मनुष्य जन्म का लाभ जो आत्मा की मुक्ति है, वह उठाना भी सभव नही होगा।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हमे शरीर के द्वारा लाभ लेना है, हानि नही उठाना। और लाभ तभी उठाया जा सकता है, जबकि इसकी सार-सभाल और पुष्टि के निमित्त से हम पापो का उपार्जन न करे, वरन इसकी सहायता से सेवा, त्याग और तपस्या आदि करते हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढें। तथा साबित करे—

"शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम् ।"

—सभी धर्म-कर्मों के लिए शरीर ही सब से पहला साधन है ।

मेरे कहने का साराश यही है कि शरीर को चलाने के लिए क्रिया तो करनी ही पडती है, किन्तु वह ऐसी करो जिससे स्वय का भी लाभ हो और दूसरो का भी । तथा परलोक मे भी जो कष्टकर न हो और इस लोक मे भी अपयश का भागी न बनाए ।

सत्पथ पर

जो भव्य प्राणी इस बात को समझ लेते हैं तथा सन्मार्ग पर चलते हैं, वे अपना इहलोक और परलोक दोनो ही सुधारने मे समर्थ बन जाते हैं । आज हमारे कुछ वीरवाल बन्धु आए हुये हैं । ये ऐसे ही भव्य प्राणी हैं जिन्होने सन्तो के समागम और उनके उपदेश-श्रवण से अपने समस्त हिंसक और निंद्य कार्यों का त्याग कर दिया है ।

इन भाइयो ने कबीर के कथन को यथार्थ किया है कि —

जैसा अनजन खाइये, तैसा ही मन होय ।
जैसा पानी पीजिए, तैसी बानी होय ॥

इस बात का प्रमाण यह है कि जब से इन लोगो ने अपने निंद्य कार्यों को और निंद्य खान पान को छोडा है, इनकी अन्तरात्मा मे अपूर्व दृढता और जागृति आ गई । इतनी अधिक कि, जिनके उपदेशो से इन्होने निषिद्ध कार्य त्यागे, उन उपदेशको की स्थिति चल विचल हो गई, वे बदल गये । पर ये भाई नही बदले । इन्होने दृढता पूर्वक जाहिर कर दिया—'हमे सन्मार्ग मिल गया है अत पुन कुमार्ग पर नही चलेंगे ।"

मेरा भी इन बन्धुओ से यही कहना है —'अनीति के मार्ग को छोडकर अगर धर्म-मार्ग पर कदम बढाए है तो पीछे मत हटाना,पीछे हटाना कायरो का काम है । विपत्ति आती है और चली जाती है,वीर वही है जो इनसे घबराये बिना न्याय, सचाई, नीति और धर्म के मार्ग पर अडिग कदमो से बढता रहे । कभी यह न भूले कि कसौटी पर स्वर्ण को ही रखा जाता है, लोहे को नही ।"

हमारे वीरवाल भाई आर्थिक स्थिति से अत्यन्त सतुष्ट है, प्रसन्न हैं । कोई छोटा व्यापार कर रहे हैं और कोई बडा भी । पहले से इनकी स्थिति भी काफी सुधरी है । सुधरेगी भी क्यो नही ? —

"न धर्मसदृश कश्चित् सर्वाभ्युदयसाधक ।"

—सभी प्रकार की भौतिक और आत्मिकउन्नति की साधना कराने वाला धर्म के समान दूसरा कोई भी पदार्थ नही है।

सत तुलसीदास जी ने भी कहा है —

जिमि सरिता सागर मह जाही। यद्यपि ताहि कामना नाहीं।
तिम सुख सम्पति विनहि बुलाए। धर्म शील पहं जहि सुभाए॥

कहा है—जिस प्रकार सागर के कामना किये विना ही सरिताएँ उसके समीप जाती है, उसी प्रकार धर्मात्मा व्यक्ति यद्यपि इच्छा नही करता, लेकिन सम्पत्ति और सुख उसके पास विना बुलाए ही पहुच जाते हैं।

इसलिए इन भाइयो से मेरा कहना है कि धर्म पर दृढ रहना। तथा हाथ मे आये हुए धर्म-रूपी रत्न को अस्थिर चित्त वाले नादान व्यक्तियो के प्रभाव मे आकर कही खो मत बैठना। मेरी तो यही हार्दिक आकाक्षा है कि जो भाई अभी इस मार्ग पर नही आए हैं, वे इसे ग्रहण करे। जो इसे ग्रहण कर चुके हैं, अपना ज्ञान-ध्यान वढाए। और जो ज्ञान वढा रहे है वे उसके प्रसार और प्रचार मे लग जाये। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने कदम वढाता चले।

मैंने सुना था कि कुछ समय पहिले ही व्यावर मे वीरवाल वन्धुओ का शिविर लगा था, जिसमे यथाशक्ति सभी ने त्याग-नियम ग्रहण किये तथा उपवास से लेकर अठाई तक की तपस्या की।

मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई। वास्तव मे ही धर्म-पथ के अलावा मानव के लिए अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग नही है। तथा धर्म के अलावा उसके साथ चलने वाला और कोई साथी नही है।

हसराज नामक एक कवि उसी विपय को अपने एक पद्य मे कहते हैं। साथ ही शायद इस वात को ध्यान मे रखकर कि आप लोग आजकल प्रत्येक स्थान पर मनोरजन चाहते है, उन्होने अपनी भापा भी आधी हिन्दी और आधी इ ग्लिश मिलाकर वहुत मनोरजक वनादी है। सुनिए —

थॉट् ऑफ् गॉड् लगा, युवर हियर कोई नहीं।
मदर एण्ड फादर सभी, वाक् विथ् नॉट कभी,
वाय डू माय-माय युवर हियर कोई नहीं॥१॥
डू यू भलाई सदा, फॉरगेट नॉट हिम कदा,
नाऊ डू फर्ज अदा, युवर हियर कोई नहीं॥२॥
टेलिंग ऑफ हंस यही, नॉट थिस वॉडी वही,
वेंट अवे छोड के ही, युवर हियर कोई नहीं॥३॥

कवि का कथन है—थॉट ऑफ गॉड लगा। ईश्वर की तरफ विचारो को लगाओ और जगत के समस्त नश्वर पदार्थों की ओर से मुँह मोड लो। ऐसा क्यो ? इसलिये कि यहाँ तुम्हारा कोई भी नही है।

कहने वाले कह देंगे कि कोई क्यो नही ? माता, पिता, पत्नी, भाई, बहन सभी तो हैं। पर कवि के कथनानुसार माता-पिता स्वजन-परिजन मित्र-दोस्त कोई भी आत्मा का साथी नही है इस पृथ्वी पर रहते हुए सब साथ हैं, पर जीव ज्यो ही इस लोक को छोडेगा, एक भी साथ मे चलने वाला नही है और न ही उसे प्रयाण करने से रोकने वाला है। अर्थात् सभी रोकने मे असमर्थ ही है।

इसीलिए कहा है—युवरहियर कोई नही ! जब तुम्हारा कोई भी असली साथी नही है, तो फिर ईश्वर की तरफ दिल क्यो नही लगाते हो ? क्यो मेरा-मेरा करते हो ? जो तुम्हारा साथ नही देंगे, उनको, मेरा कहने से क्या लाभ ? सासारिक नाते हैं, तो ठीक है, अपना जो कर्तव्य उनके प्रति है, पूरा करो, किन्तु उनके प्रति मोह मे आसक्त मत रहो तथा सासारिक कार्यों से समय निकाल कर कुछ वक्त परमार्थ मे लगाओ। कहा है न—

डू यू भलाई सदा, फॉर गेट नॉट हिम् कदा,
हाऊ डू फर्ज अदा, युवर हियर कोई नही।

अर्थात्—सदा भलाई के कार्य करो ! डू यानी करो। स्पष्ट आदेश है कि हमेशा नेकी के कार्य करो, नेकी के कार्य करना अपना कर्तव्य समझो अत भूलो मत ! शुभ—कार्य करने से ही आत्मिक गुणो की वृद्धि होती है तथा उनका विकास होता है। दूसरो की भलाई करने के समान अन्य कोई भी शुभ-कृत्य नही है। एक पश्चात्य विद्वान ने कहा भी है —

"He who loves goodness harbors angels, revers reverence, and lives with god"

—एमर्सन

—जो भलाई से प्रेम करता है, वह देवताओ की पूजा करता है, आदरणियो का सम्मान करता है और ईश्वर के समीप रहता है।

इसलिए कहा है कि जो दूसरो की भलाई करता है वह अपनी भलाई भी स्वय ही कर लेता है। कबीर ने तो भलाई को इतना उत्तम माना है कि

बुराई करने वाले के साथ भी भलाई करने का आग्रह किया है। उनका एक दोहा है —

> जो तोको कांटा बुवे, ताहि बोव तू फूल।
> तोहि फूल को फूल है वाको है तिरसूल ॥

कितनी सुन्दर बात है ? वास्तव मे यही आत्म-कल्याण का सच्चा मार्ग है। ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपकार का बदला उपकार मे देकर ही महापुरुष कहलाए हैं। एक उदाहरण है —

अपराधियो को मिष्टान्न

स्वामी उग्रानन्द जी वडे सहिष्णु और प्रत्येक आत्मा में परमात्मा का अश देखने वाले उच्च-कोटि के सत थे। एक वार वे किसी गाँव के वाहर एक वृक्ष के नीचे-ब्रह्मानन्द की मस्ती मे पडे थे। उसी रात्रि को उस गाँव के एक किसान के वैल किसी ने चुरा लिये।

किसान के शोर-गुल मचाने पर लोग चोर की खोज मे निकले। तलाश करते-करते वे गाँव के वाहर स्वामीजी के समीप पहुच गए और उन्हे चोरो का साथी समझकर खूब पीटा। यहा तक कि उनके मु ह से खून वहने लगा। किन्तु स्वामी जी विलकुल शात रहे, एक वार भी नही कहा कि आखिर मुझे मार क्यो रहे हो ?

लोगो ने उन्हे पीट-पाटकर एक कोठरी मे वन्द कर दिया और प्रात काल थाने मे ले गये।

थानेदार स्वामी जी को भली-भाति जानता था, यही नही, वह उनका भक्त भी था। उसने जव स्वामी जी को आते हुए देखा तो भागकर आया और उनके चरणो पर मस्तक रखकर प्रणाम किया।

जव थानेदार को सारी वात मालूम हुई, तो मारे क्रोध के उसने सिपाहियो को हुक्म दिया – "इन दुष्टो को कोडे लगाओ ! ये स्वामीजी को कैसे पकड लाए ?" किसान वहुत घवराए और थर-थर कापने लगे।

किन्तु जव सिपाही उनकी ओर वढ़े तो स्वामीजी ने उन्हे रोका और थानेदार से कहा—"अगर तुम मेरे सच्चे भक्त हो तो इन सवको मिठाई मगाकर खिलाओ ! ये वेचारे रात-भर दौड धूप करते रहे हैं, भूखे-प्यासे होगे।"

थानेदार चकराकर बोला—"महाराज ! यह कैसी आज्ञा है ? अपराधियो को दड न देकर मिठाई खिलाऊँ ?"

पर स्वामी जी नही माने और उन्होंने थानेदार से मिठाई मँगवाकर किसानो मे बाँट दी। लोग उनके चरणो मे गिर पडे और फिर सकुशल अपने-अपने घर लोटे।

तीन बातें—

उर्दू भाषा मे तीन बातें कही गई हैं—(१) भलाई कर, (२) बदी से बच, और (३) परहेजगारी कर।

ये तीन बातें मानव के जीवन को उन्नति की ओर ले जाती हैं। प्रेरणा देती हैं—सदा भलाई करो! इस ससार मे जन्म लेकर भी अगर तुम्हें उत्तम मनुष्य-गति प्राप्त हुई है तो कुछ पुण्य-सचय कर चलो। यहाँ से जाना तो प्रत्येक को पडेगा। चाहे कितने भी वर्ष यहा रह लें एक दिन विदाई का अवश्य आएगा। सौ वर्ष की उम्र पाने वाला और हजार तथा लाख वर्ष की उम्र पाने वाला जीव भी अपना आयुष्य पूर्ण करके प्राप्त शरीर को छोडेगा।

समवायाग सूत्र मे स्पष्ट उल्लेख है सर्वार्थ-सिद्ध विमान के देवताओ को भी अपना स्थान छोडना पडता है। हमारे बुजुर्ग सर्वार्थसिद्ध विमान को छोटी मुक्ति कहते हैं क्योकि वहाँ से निकलने के बाद जीव को केवल एक जन्म-मरण करना होता है, अधिक भटकना नही पडता।

पाँच अनुत्तर विमानो मे सर्वश्रेष्ठ विमान सर्वार्थसिद्ध मे जो जीव पैदा होता है उसका आयुष्य तेतीस सागरोपम का होता है। वे एक श्वास के बाद जब दूसरा श्वास लेते है, उसके बीच मे हमारे तेतीस पक्ष अर्थात् साढे सोलह महीने व्यतीत हो जाते हैं, तथा एकबार खाने के बाद तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उनकी पुन खाने की इच्छा होती है। इतना लम्बा आयुष्य होने पर भी उन देवताओ को अन्त मे वहाँ से जाना पडता है। इसीलिये कहा जाता है—'-एक दिन तुमको यहाँ से अवश्य जाना है अत स्वय भलाई के मार्ग पर चलो तथा औरो को भी इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दो।''

दूसरी बात है—बदी से बाज आ। आवश्यकता तो यही है कि मनुष्य नेकी करे अर्थात् दूसरो का भला करे। किन्तु अगर वह यह नही कर सके तो कम से कम बदी से तो बचे। किसी भजन की एक पक्ति है—

'तू भला किसी का कर न सके तो बुरा किसी का मत करना।'

कहने वाले ने सत्य कहा है—'अगर तू किसी का भला करने की सामर्थ्य और आकाक्षा नही रखता है तो कम से कम उसका बुरा तो मत कर।' हम

प्राय देखते हैं कि अनेक शिकारी केवल अपने मनोरजन के लिये ही कल्लोल करते हुए मासूम हरिण आदि प्राणियो को अथवा मुक्त-गगन मे मस्ती से उडते हुए निर्दोष पक्षियो को अपनी गोलियो से वीध देते है क्या बिगाडते हैं वे भोले प्राणी उनका ? कुछ भी नही। केवल अपनी निशानेबाजी की क्रूर इच्छा पूरी करने के लिये ही वे वदी के मार्ग पर चलते हैं। इसी प्रकार अन्य साधारण व्यक्ति भी विवेक से काम न लेकर केवल लापरवाही के कारण अनेकानेक सूक्ष्म जतुओ के प्राण नाश का कारण बनते हैं। उदाहरण स्वरूप-मनुष्य चलता है पर उसकी दृष्टि इधर-उधर होती है, और मार्ग पर दृष्टिपात न करने के कारण अनेको कीडे-मकोडे या अन्य जीव उनके पैरो के तले आकर अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं। बहने घर मे कार्य करती हैं प्राय रातभर या घटो जूठे वरतन खुले पडे रहते है। फलस्वरूप उनमे सैकडो मक्खिया व मच्छर आदि गिर जाते है, अनाज व मिर्च-मसालो की बराबर सार-सभाल न करने पर भी अगणित जीव उनमे पैदा होते हैं और मर जाते हैं।

गहराई से विचार करने पर यह सब बाते भी वदी मे ही शामिल होती है। प्राचीनकाल मे तो राजा-रईस, केवल मन बहलाने के लिये ही तीतर, वटेरो को, मुर्गों को अथवा भैंसे और बकरे पकडवा कर उन्हे शराब पिला कर उत्तेजित करते थे और आपस मे लडाया करते थे। लखनऊ के नवाबो के लिये तो खास तौर से यही कहा जाता है। पर उस तमाशे का परिणाम क्या होता था ? जानवर खुनाखून हो जाते थे और प्राय मर भी जाते थे। यही वदी के उदाहरण हैं।

कहा जाता है कि काशी नरेश की रानी करुणा एक बार गगा-स्नान करने गई। साथ मे कई दासियाँ भी थी। महारानी के स्नान करते वक्त तट पर जो गरीबो के झोपडे थे उनमे रहने वालो को कुछ समय के लिये दूर भेज दिया गया।

शीतल जल से स्नान करने के कारण रानी को बहुत सर्दी महसूस होने लगी अत उसने एक दासी से कहा—"एक झोपडा जला दे, ताकि मैं ताप लूँ।"

दासी ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"महारानी जी झोपडों मे बडे गरीब लोग रहते हैं। यह जलने पर वे इस माघ की कडकडाती सर्दी मे कहाँ रहेगे ? कृपया ऐसी आज्ञा मत दीजिये।"

पर रानी का नाम ही केवल करुणा था, उसके हृदय मे करुणा का

नामोनिशान भी नही था। क्रोधपूर्वक बोली—"क्या वाहियात बातें करती है ? चल, जल्दी झोपडी जला मैं ठिठुर रही हूँ।"

महारानी की दूसरी दासी ने आखिर एक झोपडे मे आग लगा दी, किन्तु पवन के प्रचण्ड झोको के कारण उसकी लपटें दूसरे झोपडो तक भी जा पहुची और देखते ही देखते अनेक झोपडे राख के ढेर बन गए। महारानी ने बिना इस बात की परवाह किये अपनी ठड मिटाई और राजमहल की ओर चलदी।

बेचारे निर्धन व्यक्ति बेघरबार होकर रोते-कलपते राज-दरबार मे पहुचे और महाराजा से फरियाद की। सुनकर राजा कुछ क्षणो के लिये किंकर्तव्य विमूढ से हो गए। किन्तु शीघ्र ही उन्होने अपने आपको सभालकर कर्मचारियो को आज्ञा दी कि इसी वक्त महारानी को राज-दरबार मे हाजिर करो।

राजाज्ञा का पालन हुआ और महारानी सादे कपडो मे उपस्थित की गई। उसे देखकर महाराज ने पूछा—"क्या तुमने इन सब गरीबो के झोपडे जलवा डाले है ?"

"हाँ जलवा दिये। पर यह कौन सा कुकुर्म हो गया ? टूटे-फूटे घास के झोपडे जलवा डालने के ही लायक तो थे।" रानी ने तनिक तैश और परेशानी से उत्तर दिया।"

महाराज की मुख-मुद्रा कठोर होगई। उन्होने गम्भीरता पूर्वक कहा—"महारानी ! होश मे आओ ! तुम प्रजा की माता हो। अत तुम्हारा फर्ज तो यह है कि उनकी भलाई करो, पर अगर वह नही कर सकती हो तो भी उनको हानि पहुचाने का तुम्हे कोई अधिकार नही है। तुमने अन्याय किया है, उसके दड स्वरूप तुमको राज्य-महल से निर्वासित किया जाता है। और जब तक तुम अपनी मेहनत से इन-गरीबो के झोपडे पुन खडे नही करवा दोगी तब तक तुम्हे पुन इसमे प्रवेश नही करने दिया जाएगा।"

काशीनरेश की महारानी करुणा अत्यन्त प्रिय थी, किन्तु न्याय की वेदी पर उन्होने अपने प्रेम को न्योछावर कर दिया। ऐसे महान पुरुष और न्यायी राजा ही बदी के प्रसार को रोक सकते हैं।

आज तो हम देखते हैं कि न्याय, नेकी और सच्चाई का मानो लोप ही हो गया है। ऊपर से लेकर नीचे तक के शासनाधिकारी अपना उल्लू सीधा करने की फिराक मे रहते हैं।

एक पजाबी कवि ने सत्य कहा है —

दौर हुण देश विच चलाया है पाप दा।
गला जादा घुटया ए, अज इन्साफ दा ॥
दिल मे सचाई नूँ ताँ रहन दिंदे लोग ना।
रेंदी होगी फदे एथे, अज मिले खोज ना।
छल कपट झूठ वढ़ता दिन दिनजायदा ॥

कवि का कहना है— इस देश मे अव पाप का ऐसा भयकर दौर चल पडा है कि उसके कारण न्याय का गला ही घुटा जा रहा है। इन देशवासियो ने अपने हृदयो से सचाई को इस प्रकार निकाल दिया है कि पहले कभी वह यहाँ रही होगी इस वात पर भी विश्वास नही होता। अव तो दिन-दिन छल-कपट और झूठ का वोलवाला होता जा रहा है।

आगे कहा है—

सच्चे कोई डरदे कचहरी नहीं जाव दे।
झूठे जाके थैलियाँ वकीला नू फडाव दे।
सच्चे नू वनाना झूठा कम्म वाएं हाथ दा।
दौर हुण देश विच चलया ए पाप दा।

कहते हैं—वेचारे सत्यवादी अगर निर्धन व्यक्ति हैं तो वे डर के मारे कचहरी की ओर मुँह भी नही करते हैं। क्योकि आज धन की पूछ रह गई है। झूठे व्यक्ति वकीलो को ज्योही थैलियाँ पकडा देते है, वे फौरन सत्य को झूठ और झूठ को सत्य मे वदल देते हैं। उनके वाये हाथ का खेल जो ठहरा। यह कौन विचार करता है कि इस धोखेवाजी से कितने व्यक्तियो का गला कटता है और बुराइयो को तथा अपराधो को कितना प्रोत्साहन मिलता है ?

तो मैं उर्दू भापा की तीन वातो मे से दूसरी वात वदी से वचने के विषय मे वता रहा था कि वदी से वचने के लिये मनुष्य को झूठ, फरेव, छल, कपट क्रूरता और धोखेवाजी आदि सभी दुर्गुणो से वचना चाहिये। ये सभी दोप वदी के मूल मे रहते हैं। इन्ही के आधार पर वदी का महल खडा होता है।

तीसरी वात है- परहेजगारी करो। आपने भलाई भी करदी और वदी से भी वच गए पर परहेज नही रखी तो सव गुड गोवर हो जाएगा। कैसे होगा ? यह हमारी माता और वहनें जो यहाँ पर वैठी हैं उनसे पूछो, कि वे अनेक वस्तुओ का अचार डालती हैं पर जव खाने के लिए थोडा सा वाहर निकालती हैं तो क्या आटे से सने हाथो से या जूठन से भरी हुई कलछी

से उसे निकालती हैं ? नही, वे अत्यन्त सावधानीपूर्वक मजे हुए साफ चम्मच से ही आचार निकालती हैं। क्योकि गदे हाथ या गदे बर्तन से निकालने पर आचार सड जाता है, खाने लायक नही रहता।

यही हाल हमारे सद्‌गुणो का है। अगर इन्हे थोडे से समय के लिये भी दुर्गुणो की सगति मे छोड दिया तो इन्हे दुर्गुण बनते देर नही लगती। एक कहावत है—

काजर की कोठरी मे कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है ॥

अर्थात् काजल से भरी हुई कोठरी मे चतुर से चतुर व्यक्ति भी अपने वस्त्रो को बचाता हुआ क्यो न घुसे, उसके स्वच्छ वस्त्रो पर काजल का कुछ न कुछ निशान तो बनेगा ही। इसी प्रकार गुणवान व्यक्ति दुर्गुणी पुरुषो की सगति मे रहकर कितनी भी सावधानी क्यो न रखे, कुछ न कुछ दुर्गुण तो उसमे आ ही जाएगे।

इसीलिये सत तुलसीदास जी ने कहा है—

को न कुसगति पाय नसाई ?
रहे न नीच मते चतुराई।

—कुसग मे रहकर कौन व्यक्ति विगड नही जाता ? अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति कुसंगति का कुछ न कुछ प्रभाव लेकर ही रहता है। अत चतुराई इसी मे है कि कुसग से बचा जाय, निकृष्ट व्यक्तियो का कभी साथ ही न किया जाय।

इसी का नाम परहेज करना है। जो समझदार प्राणी इस बात का ध्यान रखते हैं, वे कुपथ की ओर नही जाते। क्योकि नीबू और आम का आचार तो बिगड जाने पर अगले वर्ष नया डाला जा सकता है। उसमें एक ही वर्ष का नुकसान होता है, किन्तु यह मनुष्य-जन्म रूपी आचार अगर बिगड गया तो जन्म-जन्म का नुकसान उठाना पडेगा।

इसीलिये कवि हसराज ने कहा है 'सदा भले कार्यो मे रत रहो तथा सासारिक झमेलो से समय बचाकर आत्म-साधना मे लगो।' कविता का अन्तिम चरण है—

टेलिग् ऑफ् हस यही नॉट् मिस बॉडी यही।
वेंट् अवे छोड के ही, युवर हियर कोई नहीं ॥

'यह शरीर नश्वर है। अनादि काल से असख्य प्राणी इसे छोड़कर जाते

रहे हैं और भविष्य मे भी जाएँगे। किसी के साथ यह नही गया है और जाएगा भी नही। इसलिये इसका जितना भी अच्छा और अधिक से अधिक उपयोग तुम्हे करना हो करलो। भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखे बिना केवल इस शरीर की पुष्टि मे ही मत लगे रहो। इस शरीर को औरो का अपकारी और अपने भी कर्म बन्धन का कारण मत बनाओ, वरन नेक और भले कार्यों को करते हुए दोनो का भला हो, ऐसा उपाय करो।'

याद रखो।

हम यह देख चुके हैं कि परोपकार से हम अपना भी उपकार करते हैं। परोपकार का मूल प्रभाव अपने आपको अपनी आत्मा को पवित्र करना होता है। याद रखो कि किसी मनुष्य ने भले ही एक भी दर्शन-ग्रन्थ खोलकर न देखा हो, किसी भी सत का उपदेश न सुना हो, जीवन मे एक बार भी ईश्वर की उपासना करने न बैठा हो, किन्तु स्वार्थ त्याग, दया, उदारता, सहानुभूति, परोपकार आदि शुभ कार्यों के प्रताप से अगर वह उस अवस्था को प्राप्त हो गया है, जहाँ वह अपना तन, मन और धन सभी कुछ औरो के लिये अर्पित कर सकता है तो वह अपने उसी लक्ष्य तक पहुच गया समझो जहाँ ज्ञानी अपने अगाध ज्ञान द्वारा और भक्त अपनी प्रगाढ भक्ति के द्वारा पहुचता है। महाज्ञानी और परम भक्त की तुलना मे परोपकारी और नेक व्यक्ति रचमात्र भी कम नही ठहरता उलटे अधिक ही सावित होता है।

समय हो चुका है, फिर भी प्रसग वश आत्म त्याग और भलाई का एक उदाहरण आपके सामने रखता हू, जिससे आप भलीभाति समझ लेंगे कि पूजा-पाठ, हवन यज्ञ, देव-दर्शन तथा गगा-स्नान आदि सभी शुभ क्रियाओ की अपेक्षा दान, दया और परोपकार कितना उच्च स्थान प्राप्त करते हैं।

देह सोने की कहाँ हुई ?

महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने पर पाँडवो ने महान् राजसूय यज्ञ किया। उसमे गरीवो को अपार दान दिया, ढेरो वस्त्र और धन उनमे वितरण किया गया। लोगो की धारणा वन गई कि वैसा यज्ञ उससे पूर्व उन्होंने कभी नही देखा था।

यज्ञ के पश्चात् एक छोटा सा नेवला वहाँ आया जिसकी आधी देह सुनहरी और आधी भूरी थी। वह यज्ञ-भूमि पर काफी देर तक इधर-उधर लौटता रहा और उसके पश्चात् लोगो से वोला—"तुम सब लोग असत्य-भाषण कर रहे हो। यह यज्ञ भी कोई यज्ञ था ?"

लोग नेवले की वात सुनकर चकित रह गए, बोले—

"अरे ! तू क्षुद्र प्राणी क्या जाने ? तुझे मालूम नही है कि कितने अमूल्य रत्न, वेश कीमती वस्त्र और धन-धान्य यहाँ गरीवो को लुटाया गया है। यहाँ तक कि वे सब कगाल भी आज वैभवशाली वन बैठे हैं। ऐसा महान यज्ञ तो ससार मे आज तक हुआ ही नही है।"

पर नेवला दृढ शब्दो मे वोला—"अपनी वात का प्रमाण देता हू सुनो ! किसी गाँव मे एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्र वधू के साथ रहता था। बालको को विद्याध्ययन करा कर वह जो कुछ थोडा वहुत उपार्जन करता था, उससे वडी कठिनाईपूर्वक अपना गुजर-वसर कर पाता था।

किन्तु दुवले और दो असाढ वाली कहावत चरितार्थ हो गई। यानी एक वर्ष उस देश मे अकाल पड गया और ब्राह्मण परिवार दाने-दाने को तग हो गया। पाच दिन व्यतीत हो गए पर उन्हे अन्न का एक दाना भी नसीव नही हुआ। छठे दिन उस ब्राह्मण के घर जो कुछ आटा आया और उसकी रोटी वनी। ब्राह्मण ने चारो प्राणियो को रोटी के हिस्से कर दिये। पर ज्योही वे लोग खाने बैठे, किसी ने द्वार खट-खटाया। ब्राह्मण ने द्वार खोला तो देखा कि एक अतिथि दरवाजे पर खडा है।

भारतवर्ष मे अतिथि-सत्कार का वडा भारी महत्व माना जाता है। तथा उसका देवता के समान स्वागत और सत्कार किया जाता है। यहा तक कि शत्रु भी अगर द्वार पर आए तो उसका अभिन्न मित्र की तरह सत्कार किया जाय यह भारत का आदर्श सिद्धात रहा है। तभी उपनिषद् कहते है —

मातृ देवो भव ! पितृ देवो भव ! अतिथि देवो भव !

अतिथि का द्वार से निराश होकर लौट जाना सद्गृहस्थ के लिए महान दुख का कारण वनता है। क्योकि उसकी मान्यता है —

अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात् प्रतिनिवर्तते ॥
स दत्वा दुष्कृत तस्मै, पुण्यमादाय गच्छति ॥

आपस्तम्बधर्मसूत्र

अगर अतिथि किसी के घर से निराश होकर लौटता है तो वह अपने समस्त पाप गृहस्थ के सिर पर डाल कर उसके पुण्य अपने साथ ले जाता है।

तो मैं ब्राह्मण के विषय मे वता रहा था कि उसने द्वार पर अतिथि को देखा तो प्रसन्नता से वोला—'स्वागत है, आइये !"

ब्राह्मण ने आगन्तुक को ससम्मान आसन पर बैठाया और अपने हिस्से का भोजन उसके समक्ष रख दिया। अतिथि उसे खाकर बोला—"मैं बहुत भूखा हू। इस थोडे से अन्न ने तो मेरी भूख को और भी भडका दिया है।" यह सुनकर ब्राह्मणी ने कहा—"इन्हे मेरा हिस्सा भी दे दो।"

उसे खाकर भी अतिथि की भूख नही मिटी तो लडके ने सहर्ष अपना खाना भी उसे दे दिया और उसके पश्चात् भी जब उसने और मांगा तो पुत्र वधू ने भी अपना भाग्य सराहते हुए अपना हिस्सा अतिथि-सत्कार मे लगाया। सभी के हिस्से का अन्न खाकर अतिथि सन्तुष्ट हुआ और ब्राह्मण परिवार को आशीर्वाद देता हुआ चला गया। चारो प्राणी उदर से खाली किन्तु हृदय से तृप्त होकर सो गए।

नेवले ने आगे कहना जारी रखा—"उस भोजन के कुछ कण पृथ्वी पर गिर पडे थे और मैं जब उन पर लेटा तो मेरी आधी देह सोने की हो गई। उसी दिन से मे सारी पृथ्वी पर घूम रहा हू कि कही वैसा ही यज्ञ अन्य स्थान पर देखने को मिले तो मैं अपना सम्पूर्ण शरीर सोने का कर लू। पर इस यज्ञ भूमि पर इतना लोटने पर भी मेरी देह सोने की नही हो रही है, इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह यज्ञ कोई यज्ञ नही है।"

लोग नवेले की बात सुनकर वास्तविकता को समझ गए और महसूस करने लगे कि नेकी के समान दूसरा कोई यज्ञ और कोई भी शुभ-कार्य नही है।

दो बातें

बघुओ, आप मेरे कथन का साराश समझ गए होंगे। आज मुख्य रूप से दो बातें बताई गई हैं पहली है, इस शरीर को अधिकाधिक भौतिक सुख पहुचाने तथा इसे हृष्ट-पुष्ट बनाए रखने को ही इस जीवन का उद्देश्य नही मानना चाहिये। क्योकि जो व्यक्ति शरीर को ही अपना सब कुछ समझ लेते हैं, उनका आहार पर सयम नही रहता और शरीर की पुष्टि के लिये वे मास मदिरा आदि अभक्ष्य और निकृष्ट पदार्थों से भी परहेज नही रखते। वे इस बात को भूल जाते हैं कि—

जवणट्ठाए भुंजिज्जा,
न रसट्ठाए भुंजिज्जा।

भोजन केवल जीवन-यात्रा को सम्पन्न करने के लिये ही करना चाहिये, रसके आस्वादन की लोलुपता को लेकर नहीं।

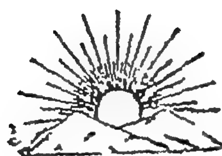
स्वाद की गृद्धता के कारण मानव को हिंसा आदि अनेक पापो का भागी बनना पडता है। परिणाम यह होता है कि जिस शरीर के लिये नाना प्रकार के पापो का उपार्जन किया जाता है, वह तो यही रह जाता है और केवल पापो का बोझ साथ चल देता है।

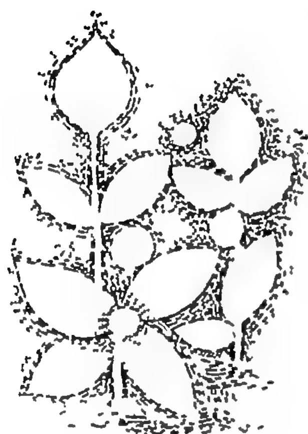
दूसरी बात है—"सदा पर-हित मे लगे रहना। अर्थात भलाई के कार्य करना। अभी मैंने आपको बताया था कि मनुष्य अपने असीम ज्ञान से और भक्त अपनी तन्मय भक्ति से जिस उद्देश्य की प्राप्ति करता है, नेक व्यक्ति केवल अपने त्याग और परोपकार के बल पर बिना कामना किये भी उस उद्देश्य को पा लेता है। कहा भी है -

"परोपकारेण भवेत् स्वर्गेऽक्षयोवास कीर्तिश्च धरणीतले।"

—परोपकार से स्वर्ग मे दीर्घ आयु प्राप्त होती है और पृथ्वी पर विस्तृत यश-कीर्ति फैलती है।

जो प्राणी इन दोनो बातो के महत्व को समझ लेते हैं, वे अपने इस दुर्लभ-जन्म और नर-देह का सच्चा सदुपयोग करते हुए एक दिन इस ससार कारागृह से अवश्यमेव मुक्त हो जाते हैं।





११
आत्मोन्नति का मूल : अनुशासन

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

धर्म-शास्त्र आत्मा की उन्नति के लिये मार्ग-दर्शन करते हैं। जब तक मनुष्य शास्त्र-श्रवण या उनका पठन न करे, वह अज्ञान के अन्धकार मे भटकता रहता है। कहा भी है—

सर्वस्य लोचन शास्त्रं, यस्य नास्त्यंध एव स ।

— हितोपदेश

—शास्त्र सब के लिये नेत्र के समान हैं, जिसे शास्त्र का ज्ञान नही वह अन्धा है।

अभिप्राय इसका यही है कि मानव जब तक शास्त्रो का पठन-पाठन न करे तब तक वह जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-सवर, बंध-मोक्ष या आत्मा-परमात्मा, किसी के विषय मे नही जान सकता तथा इनमे रही हुई विभिन्नता को नही समझ सकता। परिणाम यह होता है कि वह मनमानी करता है और ससार-मुक्त होने का मार्ग न पाने के कारण इसी मे भ्रमण करता रहता है। इसीलिये आवश्यक है कि प्रत्येक आत्मार्थी

शास्त्र-ज्ञान मे रुचि रखे और उनसे दी गई शिक्षाओ को आत्मसात् करके जीवन मे उतारने का प्रयत्न करे।

प्रथम शिक्षा

शास्त्र मनुष्य को पहली शिक्षा देते हैं—अनुशासन मे रहना। अनुशासन का अर्थ क्या होगा? शासन यानी आज्ञा और अनु का अर्थ है अनुसार चलना। तो अनुशासन मे रहना अर्थात् आज्ञा के अनुसार चलना या आज्ञा का पालन करना। सस्कृत मे एक धातु है—शासु अनुशिष्टौ। जैसी आज्ञा हो, उसके अनुसार चलना।

अनुशासन शब्द मे केवल पाँच अक्षर हैं, किन्तु ये अपने आप मे बडा महत्व छिपाये हुए हैं। समारनीति, राजनीति और धर्मनीति, सभी मे इनकी बडी भारी आवश्यकता रहती है। हम यह भी कह सकते हैं कि इनके विना कही भी काम नही चलता।

ससार नीति मे अगर पुत्र, माता-पिता व गुरुजनो की आज्ञा का पालन नही करता है तो वह कुपुत्र कहलाता है, राजनीति मे शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत काम करनेवाले कर्मचारी राजा अथवा सरकार की आज्ञा का पालन नही करते तो गद्दार कहलाते हैं तथा धर्म नीति मे वीतराग के वचनो का तथा धर्माचार्यों की आज्ञा का पालन न करने वाले नास्तिक या मिथ्यात्वी साबित होते है। और अन्त मे उनकी क्या दशा होती है—

जहा सुणी पुईकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील-पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १, गा० ४

जिस प्रकार सडे कान वाली कुतिया प्रत्येक स्थान से खदेड कर निकाल दी जाती है, उसी प्रकार अविनीत और अनुशासन मे न रहने वाले शिष्य भी सभी जगह से निकाल दिये जाते हैं।

जिज्ञासा होती है कि कुतिया के लिये उसके अन्य अगो को छोडकर केवल कान का ही उदाहरण क्यो दिया? कहा जाता है कि प्रत्येक प्राणी की जीभ मे ऐसा तत्व होता है, जो घावो पर मरहम का काम करता है। हम प्राय देखते भी हैं, गाय भैस आदि पशु तथा कुत्ते विल्ली वगैरह सभी जानवर अपने घावो को जीभ से चाटते रहते हैं और इस प्रकार उनकी जीभ दवा का काम करती है तथा घाव ठीक हो जाते हैं। कुतिया के लिये भी वही बात है, किन्तु उसकी जीभ जहाँ अन्य सब अगो तक पहुच जाती

है, कान तक नही पहुचती। परिणाम यह होता है कि उसका सडा हुआ कान ठीक नही हो पाता। अगर उसकी जीभ कान तक पहुचती होती तो कान की खरावी दूर हो जाती और उसका उदाहरण देने की आवश्यकता नही रहती।

तो मैं यह बता रहा था कि जो शिष्य गुरु द्वारा बताए गए आप्त-वचनो पर विश्वास नही करते, उनका पालन नही करते और गुरु की हितकारी भर्त्सना पर कुपित होते हैं वे सडे कानवाली कुतिया के समान ही अपमानित होकर प्रत्येक स्थान से निष्कासित कर दिये जाते हैं। अत आवश्यक है कि—

अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंति सेविज्ज पण्डिए।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १, गा० ६

गुरुजनो की आज्ञा को सुनकर कुपित न हो तथा क्षमा धारण करे। जो ऐसा करता है वही पडित है।

कथन का साराश यही है कि प्रत्येक मनुष्य मे इतना विवेक और बुद्धि तो होनी ही चाहिये कि वह गुरुजनो की आज्ञा को अपने लिये हितकारी माने और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करे। अन्यथा गुरु उन्हे क्या शिक्षा देंगे और शास्त्रो के वाचन का भी उन पर क्या प्रभाव पडेगा ?

हितोपदेश मे कहा भी है—

यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा, शास्त्र तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्या विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिस मनुष्य मे अपनी बुद्धि नही है, उसके लिये शास्त्र व्यर्थ हैं, जैसे दोनो आँखो से रहित अन्धे को दर्पण क्या करेगा ?

वस्तुत विवेकहीन व्यक्ति उच्च जाति, उच्च कुल, परिपूर्ण इन्द्रिया और सत्संगति पाकर भी उनसे लाभ नही उठा पाते। वे अपने मिथ्या ज्ञान के अभिमान मे चूर रहकर समस्त क्रियाएँ ऐसी करते हैं, जिनके कारण उनका ससार घटने के वजाय वढता जाता है तथा महान् कठिनाई से मिला हुआ मानव-जन्म निष्फल चला जाता है।

पडित पूज्यपाद मुनि अमीऋषिजी महाराज ने ऐसे व्यक्तियो के विषय मे ठीक ही कहा है—

धरम न जाण्यो सत करम न जाण्यो,
कछु मरम न जाण्यो मत जैन जिनवाणी को।

दानहु न दीनो ना शियल चित्त भीनो,
तप विधिसु न कीनो नहीं सेवे गुरु ज्ञानी को ।
कीनो नाहीं तत्त्व अनतत्त्व को विचार भूरि,
भावना न रुचि चित्त नेक अभिमानी को ।
कहे अमिरिख यथा मालती अरण्य मध्य,
त्योंही गयो अफल जन्म तिह प्राणी को ॥

कवि का कथन यथार्थ है—जिस अभिमानी व्यक्ति ने धर्म और सत्कर्मों के महत्व को नही समझा, जैन-मत और जिनवाणी के मर्म को नही जाना, दान, शील तप और भाव की आराधना नही की, तत्वो की पहचान भी नही की तथा अपने अज्ञान के नशे मे चूर रहकर सद्गुरु के उपदेशो पर अमल नही किया, उसका मनुष्य जन्म उसी प्रकार निष्फल गया है जिस प्रकार गहन और निर्जन वन मे मालती का फूलना व्यर्थ जाता है ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अगर अपने अमूल्य जीवन का लाभ उठाना है तो शास्त्र-श्रवण के साथ-साथ उसकी शिक्षाओ को भी ग्रहण करना चाहिये । अभी मैंने बताया कि शास्त्रो की सबसे पहली शिक्षा अनुशासन मे रहना या आज्ञा पालन करना है । अब हम देखेंगे कि किन गुणो को धारण करने वाला अनुशासन मे रह सकता है ?

अनुशासन मे वही व्यक्ति रह सकता है, जिसके हृदय मे श्रद्धा और विनय हो । इन दोनो के अभाव का अर्थ होता है अहकार का होना, और अहकारी व्यक्ति कभी अनुशासन मे नही रह सकता तथा गुरुजनो की आज्ञा का पालन नही कर सकता ।

—सद्धा परम दुल्लहा

आज का भारतीय जीवन जो इतना श्रीहीन शक्तिहीन, क्षीण और दलित हो गया है, इसका प्रधान कारण है मनुष्यो के हृदयो मे श्रद्धा का अभाव होना । अश्रद्धा और सन्देह से परिपूर्ण हृदय वाले व्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक किसी भी क्षेत्र मे प्रगति नही कर पाते । क्योकि वास्तविक शक्ति का स्रोत आत्मा है और श्रद्धा के अभाव मे आत्म-बल का कुछ भी उपयोग नही हो सकता ।

महात्मा गांधी का कथन है—

'To trust is a virtue It is weakness that begets distrust'

विश्वास करना एक गुण है । अविश्वास दुर्बलता की जननी है ।

तो श्रद्धा या विश्वास के अभाव मे व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उसमे कभी सफलता हासिल नही कर पाता। सन्देह का अन्धकार उसे पथभ्रष्ट कर देता है। तथा यह कहावत चरितार्थ हो जाती है—

दुविधा मे दोनो गये, माया मिली न राम।

श्रद्धा ही जीवन की रीढ है। रीढ के विना जिस प्रकार शरीर गति नही करता, उसी प्रकार श्रद्धा के अभाव मे जीवन गति नही करता। श्रद्धा ही मनुष्य मे मनुष्यता का सृजन करती है और वही उसे कल्याण के पथ पर अग्रसर करती है। जिस व्यक्ति के हृदय मे श्रद्धा नही होती, उसका मन पारे के समान चचल बना रहता है। उसके विचारो मे तथा क्रियाओ मे कभी स्थिरता और दृढता नही आ पाती। इस कारण वह एकनिष्ठ होकर किसी भी साधना मे नही लग पाता। कभी वह एक राह पर चलता है और कभी दूसरी पर। परिणाम यह होता है कि वह अपने किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नही कर पाता। सदा अपने अस्थिर और विभिन्न विचारो के लिये भटकता रहता है और भव-भ्रमण बढ़ाता है। इसके विपरीत जो श्रद्धावान् पुरुष होता है, वह अपने अटल विश्वास के द्वारा इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञान तत्पर सयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—भगवद्‌गीता

जिस व्यक्ति का अन्त करण श्रद्धा से पूर्ण होता है, वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही अक्षय शाति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी भी बन जाता है।

यह सारी करामात केवल श्रद्धा की है। वही प्राणी को पापो से परे रखती हुई आत्म-शुद्धि के मार्ग पर बढाती है। श्रद्धा के न होने पर मनुष्य कितनी भी विद्वत्ता क्यो न प्राप्त करले, उसका कोई लाभ नही होता। विद्वत्ता की शक्ति श्रद्धा मे निहित है। श्रद्धावान् विद्वान न होने पर भी अपने कर्म-नाश करके ससार-सागर को पार कर लेता है और श्रद्धान के विना विद्वान् उसमे गोते लगाता रहता है।

एक आचार्य ने लिखा है—

अश्रद्धा परम पापं, श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान्, सर्पो जीर्णमिव त्वचम् ॥

अश्रद्धा घोर पाप है और श्रद्धा समस्त पापो का नाश करने वाली है। श्रद्धालु पुरुष समस्त पापो का उसी प्रकार त्याग कर देता है, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को छोड देता है।

अभिप्राय कहने का यही है कि अगर मनुष्य अपने जीवन मे किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम श्रद्धावान् बनना चाहिये। श्रद्धा के विना उसमे दृढता, सकल्प, शक्ति और साहस कदापि उत्पन्न न होगा और इन सब के अभाव मे सिद्धि कोसो दूर रह जाएगी। क्योकि जो व्यक्ति शका और अविश्वास के चक्कर मे पडा रहेगा, वह प्रथम तो किसी पथ पर चलने का साहस ही नही करेगा और अगर चल दिया तो उसके कदम दृढ नही हो सकेंगे। अर्थात् अविश्वास की आधी के कारण वह डगमगाता रहेगा। इसीलिये ससार के सभी धर्म और धर्मग्रन्थ श्रद्धा पर वल देते हैं। महाभारत मे स्पष्ट कहा है—

श्रद्धामयोऽय पुरुष, यो यच्छ्रद्ध स एव सः।

यह आत्मा श्रद्धा का ही पुतला है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही वन जाता है।

सिक्ख धर्म कहता है —

निश्चल निश्चय नित चित जिन के।
वाहि गुरु सुखदायक तिन के॥

—वे ही मनुष्य सुख की प्राप्ति कर सकते है, जिनके हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हैं।

ईसाई धर्म भी यही मानता है —

A doubt minded man is unstable all his ways.

Games L. 8.

—एक श्रद्धाहीन मानव अपने समस्त कृत्यो मे चलायमान रहता है। उसके दिल या दिमाग किसी मे भी स्थिरता नही होती।

और हमारे जैन शास्त्र तो श्रद्धा को धर्म का मूल मानते ही हैं। वे कहते हैं —

सद्धा परम दुल्लहा।

—श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है, जिसने अतिशय पुण्यो का उपार्जन किया हो,

अर्थात् जो अतीव सौभाग्यशाली हो और जिसने पूर्व मे अत्यधिक साधना की हो उसी को श्रद्धा की प्राप्ति होती है। उसकी श्रद्धा इतनी दृढ होती है कि भयकर से भयकर आपत्तियाँ और शारीरिक कष्ट भी उन्हें अपनी साधना से विचलित नही कर पाते।

मुझसे नहीं होगा

कहा जाता है कि एक बार श्री रामकृष्ण परमहस के गले मे नासूर हो गया। बहुत इलाज करवाने पर भी वह ठीक नही हो रहा था। इसी बीच उनके एक भक्त ने आकर कहा—'अगर आप मन को एकाग्र करके निरतर कहते रहे, 'रोग चला जा ! रोग चला जा !' तो निश्चय ही आपका रोग जड से चला जाएगा।

परमहस बोले—"जो मन मुझे सच्चिदानन्दमयी माँ का स्मरण करने के लिये मिला है, उसे इस हाड-माँस के पिंजरे मे लगाऊँ ?"

तब शिष्य ने आग्रह किया—"अच्छा तो आप माँ से ही प्रार्थना करें कि वह आपके रोग को नष्ट कर दे।"

श्रद्धावान् रामकृष्ण ने उत्तर दिया—"माँ सर्वज्ञ है, समर्थ और दयालु हैं। मेरे शुभ के लिये उन्हें जो ठीक लगता है वे कर ही रही हैं। फिर उनकी व्यवस्था मे मैं क्यो गडवड करू ? यह छिछोरापन तो मुझसे नही हो सकेगा।"

उपासक दशाग सूत्र मे भी कामदेव श्रावक का वर्णन आया है। उसकी श्रद्धा कितनी प्रगाढ थी ? देवता ने उसे अपने धर्म से विचलित करने के लिये क्या नही किया ? नाना प्रकार की भयकर धमकियाँ दी और उन्हे फिर कार्य रूप मे परिणत भी किया। किन्तु कामदेव अपने सत्पथ या धर्म-पथ से रचमात्र भी च्युत नही हुआ। अगर उसके हृदय मे दृढ श्रद्धा का वास न होता तो वह अपने मार्ग से विचलित हो जाता। श्रद्धा ने ही उसके चित्त मे अजेय शक्ति और साहस का आविर्भाव किया।

किसी ने सत्य कहा है —

> **श्रद्धया साध्यते धर्मो, यद्भिर्नार्थराशिभि ।**
> **अकिञ्चना हि मुनय, श्रद्धावन्तो दिवंगता. ॥**

महान् पुरुष अपनी अटल श्रद्धा के बल पर ही धर्म की आराधना करते हैं। श्रद्धा के अलावा ससार की अन्य अमूल्य वस्तु या अपार धन राशि भी धर्म-साधना मे सहायक नही बनती। अगर ऐसा होता तो बडे-बड़े राजा

और चक्रवर्ती ही अपने वैभव का त्याग क्यो करते ? धन के द्वारा धर्म का क्रय-विक्रय नही हो सकता। मुनिजनो के पास कौनसा धन होता है ? वे तो एक पाई भी अपने पास नही रखते। अपनी समस्त भौतिक सम्पदा का त्याग करके ही मुनि बनते हैं। तथा अकिंचनता को अपनाते हैं। केवल अपनी श्रद्धा के द्वारा ही आत्म-साधना करके स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

पर आज कहाँ है ऐसी प्रगाढ श्रद्धा ? आज तो एक-एक पाई के लिये लोग धर्म को बेच देने के लिये तैयार हो जाते हैं। पैसे-पैसे के लिये भगवान की और धर्म की कसम खा जाते हैं। जरा सी बीमारी आगई तो न जाने कौन-कौन से देवताओ को मनाते है और बेटे या पोते की प्राप्ति के लिये भैरो भवानी, बालाजी और हनुमान जी के आगे मस्तक टेकते है। पर अत मे उनके हाथ क्या आता है ? कुछ भी नही, केवल पश्चात्ताप करते हुए यही कहना पडता है —

न खुदा ही मिला न विसाले-सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे॥

इस अध श्रद्धा का कारण यही है कि आज के मनुष्य मे श्रद्धा का सर्वथा अभाव है। उसे यह विश्वास नही है कि हमारा पूर्वजन्म था और अगला जन्म भी होगा। यदि पहले हमने जैसे कर्म किये थे उनके अनुसार इस जन्म मे सब कुछ मिला है और अब जैसे करेंगे, वैसा अगली बार प्राप्त होगा। वह यह भी नही मानता कि आत्मा अजर-अमर और अक्षय है। वास्तव मे इस सत्य की ओर किसी का ध्यान ही नही जाता। अज्ञानी पुरुष यही समझते हैं कि जो कुछ भी है, यही जीवन है और इसमे जितना सांसारिक सुख प्राप्त कर लिया जाय करना चाहिये। यह विचार करता हुआ मानव विषय-भोगो की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है, किन्तु उनसे उसे तृप्ति कभी नही मिल पाती, क्योकि तृष्णा या लालसा एक ऐसी कभी न बुझने वाली आग है, जो सदा जलती रहती है और जबतक जलती है जीव को शाति प्राप्त नही होती। एक उर्दू के कवि ने कहा भी हैं —

जिन्दगी की लज्जतों मे, जिस कदर आगे बढ़े।
दिलकशी के साथ रस्ता पुर खतर होता गया॥

ज्यो-ज्यो मनुष्य भोगो की ओर प्रवृत्त होता गया, उसका रास्ता और भी खतरनाक बनता चला गया। अर्थात् विषय-भोगो ने उसने जितना सुख

पाने का प्रयत्न किया, उतनी ही उसकी व्याकुलता अधिकाधिक सुख पाने के लिये वढती रही।

इसीलिये महापुरुष कहते हैं कि सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय भोग-तृष्णा का निरोध करना है। जो भव्य प्राणी इस वात को समझ लेते हैं वे तनिक सा निमित्त मिलते ही समस्त भौतिक सुखो को ठोकर मार देते हैं।

जैनाचार्य श्री उदयासागर जी महाराज जव गृहस्थावस्था मे थे, उनकी शादी का आयोजन किया गया। वारात वडी धूमधाम से जोधपुर शहर मे पहुची। तोरण के अवसर पर रिवाज के अनुसार सामने दूल्हे की नाक पकडने की कोशिश की और दूल्हे ने उसे वचाने की। इसी खीच-तान मे दूल्हे की पगडी सिर से गिर पडी।

'वर के मित्रो ने तुरन्त ही पगडी को उठाकर पुन उसके मस्तक पर रखना चाहा। किन्तु गिरी हुई पगडी को देखकर दूल्हे के मस्तिष्क मे विचार आया—'यह मेरे लिये वडा शुभ सकेत है। जिस प्रकार यह पगडी मेरे मस्तक से छूट गई है, उसी प्रकार कर्म-वधन के इन समस्त कारणो को भी मुझे छोड देना चाहिये।' और ऐसा विचार मन मे आ जाने पर उसने मित्रो के तथा समस्त सवधियो के लाख आग्रह करने पर भी पुन पगडी को मस्तक पर नही रखा और विना विवाह किये ही घर लौट कर आने के वाद, मुनि-धर्म अगीकार कर लिया।

जरा से निमित्त ने ही मुनि श्री के जीवन को आमूल परिवर्तित कर दिया। महापुरुषो के यही लक्षण होते हैं। भगवान नेमिनाथ स्वामी के विषय मे आप सव जानते ही हैं। और भी अनेकानेक भव्य आत्माए इसी प्रकार तनिक तनिक सी घटनाओ से सजग होकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर वढी है ऐसा हमारा इतिहास वताता है।

स्पष्ट है कि आत्म-शुद्धि के लिए पवित्र भावनाओ का तथा शास्त्र-वचनो पर निष्ठा का होना आवश्यक है। जो जीव विश्वास करता है, उसे ज्ञान हो जाता है कि मैं चिदानन्दमय हू और ससार के समस्त पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। इन सवसे मेरा तनिक भी सवन्ध नही है। क्योकि प्रतिपल साथ रहने वाला जव शरीर ही अपना नही है तो अन्य पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं? ऐसा विश्वास हो जाने पर वह ससार के समस्त पदार्थों पर राग-द्वेष की वृत्ति को हटा लेता है। परिणाम यह होता है कि उसे फिर किसी भी पदार्थ का सयोग होने पर हर्ष नही होता और किसी का वियोग होने पर शोक नही होता। उसके मानस मे निरन्तर समभाव वना रहता है और वह काम, क्रोध

राग, द्वेष आदि आन्तरिक रिपुओ के आक्रमण के सुदृढ कवच के समान बनकर जीव की रक्षा करता है।

समभाव का महत्त्व बताते हुए कहा गया है —

तस्मैवाविचल सौख्यं, तस्मैव पदमव्ययम् ।
तस्मैव बन्ध विश्लेष, समत्वं यस्य योगिन ॥

—जिस योगी के अन्त करण मे समभाव की अजस्र सुधा का स्रोत सतत प्रवाहित होता है, उसी को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है और वही अपने कर्म बधनो को काटकर फेंक सकता है।

इसलिए प्रत्येक प्राणी को समभाव रूपी अमूल्य आभूषण से अलकृत होकर भगवान महावीर के वताए हुए आत्मोन्नति के पथ पर निष्ठापूर्वक चलने का प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धा-सम्पन्न होने पर ही वह अपने पवित्र और उच्च जीवनोद्देश्य की प्राप्ति कर सकेगा।

विनय की महिमा....

अनुशासन का दूसरा अग है विनय। जैन शास्त्रो मे विनय की महिमा अद्वितीय बताई गई है। सक्षेप में यही कहा है —

'धम्मस्स विणओ मूल'

धर्म का मूल ही विनय है। साधना का प्रत्येक आचार-विचार विनय पर अवलम्बित होता है। जिस प्रकार मूल के कमजोर हो जाने अथवा उखड जाने पर वृक्ष नही टिक सकता, उसी प्रकार विनय के दूपित या लोप हो जाने पर धर्म नही रहता। विनय ही धर्म का प्राण है और एकमात्र सहायक है। कहा भी है—

विणओ सासणमूल, विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कुओ धम्मो कुओ तवो ॥१॥

—हारिभद्रीय आवश्यक निर्युक्ति १२-१६

अर्थात्—विनय जिनशासन का मूल है। विनीत पुरुष ही सयमवान होता है। जो विनय से हीन है उसमे धर्म कहाँ ? और तप कहाँ ?

वस्तुत विनय के अभाव मे अगर व्यक्ति धर्म को पाना चाहे तो वह आकाश कुसुमवत् सावित होगा। यद्यपि अन्य समस्त सद्गुण जीवन के आभूपण हैं किन्तु विनय के न होने पर वे प्रकाश मे नही आ सकते। विनय ही उन सवमे चमक लाता है। विनयवान व्यक्ति ही सर्वत्र सन्मान का पात्र वनता है तथा सवके चित्त को आकर्पित कर सकने की क्षमता रखता है।

मुहम्मद साहब ने अपनी एक हदीस मे लिखा भी है :—

मन या हरमुरिफको या हर मुल खैरे कुल्लिही ।

—जिसने विनय को अपना लिया उसने समस्त अन्य गुणों और भलाइयो को अपना लिया है ।

महात्मा आगस्टाइन से किसी ने पूछा—"धर्म का सर्वप्रथम लक्षण क्या है ? उन्होंने उत्तर दिया—

"धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा यहा तक कि सभी लक्षण एकमात्र विनय मे निहित हैं ।"

ज्ञान प्राप्ति के लिए विनय की अनिवार्य आवश्यकता होती है । अनुशासन एव विनय को प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :—

"चउव्विहा खलु विणयसमाही पण्णत्ता, तं जहा—

(१) अणुसासिज्जतो सुस्सूसइ, (२) सम्म सपडिवज्जइ, (३) वेयमाराहइ (४) न य भवई अत्तसपग्गहिए, चउत्थ पय भवइ ।"

अर्थात्—विनय समाधि चार प्रकार की है, तथा—(१) गुरु द्वारा शासित होकर, उनके सुभाषित वचनो को सुनने की इच्छा करे । (२) गुरु के वचनो को सम्यक् प्रकार से समझे । (३) श्रुत ज्ञान की पूर्णतया आराधना करे और (४) गर्व से आत्मप्रशसा न करे ।

वास्तव मे, जो शिष्य अपने गुरु से कल्याणकारी शिक्षा को प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है, शिक्षा प्राप्त करके जीवन मे उतारता है और उतने पर भी अपने ज्ञान का तनिक भी गर्व नही करता वही सच्चा आत्मार्थी या मोक्षार्थी कहला सकता है । ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक को सदैव विनय और उसके साथ विवेक को अपने हृदय मे जागृत रखना चाहिये ।

एक पाश्चात्य विद्वान 'पेन' ने विवेकी और विनयी पुरुष का महत्व बडे सुन्दर शब्दो मे बताया है । कहा है :—

"Sense shines a double lustre when it is set in humility An able and yet humble man is a jewel worth a kingdom."

—विनय के साथ विवेक दुगुने प्रकाश से चमकता है । योग्य और नम्र व्यक्ति किसी राज्य के समान बहुमूल्य रत्न है ।

अद्भुत शक्ति

विनय मे अदभुत शक्ति है । जो व्यक्ति विनय गुण से सम्पन्न है, वह

अपने क्रोधी से क्रोधी गुरु को, माता-पिता को या अन्य जो भी व्यक्ति सामने हो उसे झुका लेता है। और अविनीत व्यक्ति उलटा उन्हें कुपित करता है किन्तु परिणाम क्या होता है ? यही कि वह स्वय हानि मे रहता है। न वह अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त कर पाता है, न माता-पिता का स्नेह पात्र वनता है और न ही अन्य किसी के द्वारा प्रशसा सम्मान ही पाता है।

सत तुकाराम जी इसी वात को अन्य उदाहरण देकर समझाते हैं —

महापूरे झाडें जाती, तेथें लोहाले वाचती।

नदी के अन्दर जव वाढ आती है, तो पानी भयकर रूप से दोनो किनारो को भी उलाघ जाता है। उस समय किनारे पर खडे हुए वृक्ष अपनी ऊचाई के अहकार मे रहकर जल का स्वागत नही करते, तनिक भी नही झुकते। फलस्वरूप पानी क्रोधित होकर उनकी जडो मे रही हुई सारी मिट्टी को वहा देता है। मिट्टी न रहने पर जडें कमजोर हो जाती हैं और जल के दूसरे धक्के से ही वे विशाल वृक्ष धराशायी हो जाते हैं। यह उनकी नम्रता के अभाव और अभिमान के विद्यमान रहने के कारण होता है। जिस जल से वे फलते फूलते हैं, उसी के अनुशासन को न मानने का परिणाम उनका नाश कर देता है।

दूसरी ओर एक घास होती है जो नदी मे केवल कमर तक या छाती तक ही ऊची होती है। उसमे अत्यन्त नम्रता होती है। वह जल-प्रवाह के आते ही विनयपूर्वक झुक जाती है और अपना मस्तक नवा देती है। जल उसके विनय से प्रसन्न होकर ऊपर से निकल जाता है। उस वनस्पति को तनिक भी हानि नही पहुचाता।

तो नदी के पूर मे जहा वडे-वडे दरख्त अपने अहकार और धृष्टता के कारण टूट कर वह जाते हैं, वहा छोटी सी वनस्पति अपनी विनीतता के कारण सही सलामत रहती है और फलती-फूलती है।

इस विषय मे किसी कवि ने एक और भी वडी सुन्दर वात कही है —

नमे सो आमा आमली, नमे सो दाड़म दाख।
एरड विचारा क्या नमें, जिसकी ओछी साख॥

अर्थात् – आम, इमली, अनार और अगूर आदि मधुर फल देने वाले, या कि ऊची जाति के कहलाने वाले वृक्ष ही नम सकते हैं। ओछी साख या ओछी जाति का एरण्ड नही झुकता।

इस बात से स्पष्ट है कि विनय से केवल व्यक्ति का ही नही, अपितु वश का उत्कर्ष भी सिद्ध होता है। कहा भी है—

"विनयो वशमाख्याति।

विनय के द्वारा वश का भी अनुमान लगाया जाता है। व्यक्ति यदि विनीत है तो वह कुलीन माना जाता है, अविनीत है तो अकुलीन। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्यवहार, वाणी, आचार और विचार सभी उत्तम और विनयपूर्ण रखने चाहिये ताकि उसका वश बदनाम न हो।

भिखारी को अभिवादन :

एक बार फ्रान्स के सम्राट हेनरी चतुर्थ अपनी राजधानी पेरिस के किसी विशाल मार्ग से गुजर रहे थे। कुछ अगरक्षक भी उनकी गाडी के साथ थे।

उसी रास्ते पर एक भिखारी खडा था। उसने जब सम्राट को देखा तो अत्यन्त विनम्रता पूर्वक अपने मस्तक पर से टोप को उतारते हुए अभिवादन किया।

भिखारी को अभिवादन करते हुए सम्राट ने देखा तो उन्होंने भी उसी प्रकार हैट उतारकर प्रत्युत्तर दिया। उनके अगरक्षको को यह अच्छा नही लगा। अत. उनमे से एक ने कहा—

"सर ! आप इस देश के सम्राट होकर एक भिखमगे को नमस्कार करें यह हमे अच्छा नही लगता। क्या आपने यह कार्य उचित किया है ?"

"हाँ, मैंने बिलकुल ठीक कार्य किया है ! अगर मैं ऐसा नही करता तो जानते हो दुनिया मुझे क्या कहती ? वह कहती कि इतने बडे फ्रास देश के सम्राट मे उतनी भी सभ्यता नही है, जितनी एक भिखारी मे होती है।" सम्राट ने उत्तर दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट मालूम होता है कि उच्चवशीय तथा कुलीन व्यक्ति मे स्वभावत विनय और नम्रता होती है। इसीलिये वह सर्वत्र सन्मान प्राप्त करता है। जैसे स्वर्ण की सलाख चाहे जितनी मोटी हो, उसे मोडना चाहेंगे तो तुरत मुड जाएगी। किन्तु लोहे की कील चाहे कितनी भी पतली क्यो न हो लाख प्रयत्न करने पर भी नही मुडेगी। फल यह होगा कि स्वर्ण तोले के भाव से बिकेगा और लोग उसके आभूषण गौरव के साथ पहनेंगे। पर लोहे की कीलो को खिडकियो, दरवाजो तथा मेज कुर्सियो मे हथौडे से ठोका जाएगा।

ऐसा क्यो ? इसलिये कि स्वर्ण मे नम्रता है और कील मे कठोरता।

नम्रता को सम्मान मिला और कठोरता को तिरस्कार। तात्पर्य यही है कि जो अहकार और गरूर मे चूर रहकर अपने स्वाभाविक गुण विनय को खो देता है उसकी अत मे दुर्दशा होती है। जल का स्वभाव नीचे की ओर जाने का होता है किन्तु जब वह फव्वारे मे चढ जाता है तो उसे पुन पृथ्वी पर बुरी तरह से गिरना पडता है। कहा भी है —

सिर उठाकर गिर पडा फव्वारा आखिर सिरके बल।
झुक के चलना चाहिये यहाँ सिर उठाना है मना॥

मनुष्य को विचार करना चाहिये कि इस पृथ्वी पर एक से एक बढकर ज्ञानी, वैभवशाली, यशस्वी और तपस्वी मौजूद हैं। फिर वह अपनी कौनसी विशेपता के कारण अहकार करता है? भगवान महावीर ने एक स्थान पर कहा है —

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगई जहा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १-१५

—बुद्धिमान पुरुष वही है जो विनय का माहात्म्य समझकर विनम्र बनता है। विनम्र बनने से उसकी कीर्ति बढती है और वह सद्‌अनुष्ठानो का उसी प्रकार आधारभूत होता है, जैसे समस्त प्राणी भूतो के लिये पृथ्वी।

बधुओ! हमारा विषय चल रहा था कि प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति को शास्त्र-श्रवण व उनका पठन पाठन करना चाहिये तथा उनके द्वारा जो शिक्षाएँ मिलती हैं, उन्हे जीवन मे उतारना चाहिये। यह भी मैंने बताया था कि शास्त्र पहली शिक्षा मनुष्य को यही देते हैं कि वह अनुशासन मे रहे। जो व्यक्ति माता-पिता गुरु या अन्य गुरुजनो के अनुशासन मे रहता है वह सदैव सुखी होता है।

अनुशासन की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे होती है। चाहे वह क्षेत्र सामाजिक हो, राजनैतिक हो या धार्मिक हो। अनुशासन के महत्व को न मानने वाला व्यक्ति कही भी आदर सम्मान नही पाता और कही भी टिक नही सकता।

घर में रहकर अगर पुत्र माता-पिता और बडों की आज्ञा मे न रहे तो उसे अलग कर दिया जाता है। धार्मिक क्षेत्र मे अगर गुरु के अनुशासन मे न रहे तो अविनीत और उद्दड मानकर त्याग दिया जाता है तथा इसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे भी राज्य व सरकार के नियमो का पालन न

करे तो सजा का भागी बनता है। प्रसगवश मुझे एक घटना स्मरण आ गई है।

एक बार हमारा चातुर्मास नाथद्वारा मे था। वहाँ पर एक दिन हम सभी सत शाम को प्रतिक्रमण कर रहे थे। प्रतिक्रमण के समय सभी का मौन था और चौथे आवश्यक का पाठ खडे होकर करना होता है अत खडे भी थे।

उसी समय वहाँ के थानेदार आए। उनके साथ कई सिपाही भी थे। थानेदार ने आकर नमस्कार किया पर हमे तो बोलना नही था अत थानेदार भी खडे हो गए। और थानेदार जब तक खडे रहे सारे सिपाही भी नही बैठे, वे भी खडे रहे। यही अनुशासन है। हम बैठते तो थानेदार बैठते, और थानेदार बैठते तो सभी सैनिक बैठते। हम विचार कर सकते है कि थानेदार खडे रहते और सब सिपाही बैठ जाते तो, कैसा प्रतीत होता ? जरा भी अच्छा नही लगता। इसी का नाम विनम्रता और मर्यादा का पालन करना है, दूसरे शब्दो मे अनुशासन मे रहना है।

तो बधुओ, हमारा विषय अनुशासन मे रहना ही है। अगर हम अनुशासन के महत्त्व को समझ लेते हैं और अनुशासन के मुख्य लक्षण श्रद्धा व नम्रता को अपना लेते हैं तो वह दिन दूर नही है जब कि हम अपने जीवनोद्देश्य की प्राप्ति कर लेंगे तथा अपने जीवन को सफल बना सकेंगे।





१२

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आपको मालूम ही होगा कि 'नमोत्थुण' के पाठ मे 'लोगपईवाण' शब्द आता है। नमोत्थुण मे तीर्थंकर और सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। उस स्तुति का ही एक अग है 'लोगपईवाण'। जिसके द्वारा कहा गया है— 'आप लोक मे प्रदीप के समान हैं।

स्तुति किसलिये ?

अपने विषय को आगे बढाने से पहले हमे इस बात को भी समझ लेना चाहिये कि भगवान की स्तुति या प्रार्थना क्यो की जाती है ? इससे क्या लाभ होता है ?

प्रार्थना का मुख्य उद्देश्य उन महान आत्माओ को स्मरण करना है, जिन्होंने अपने आत्म-बल को चरम सीमा तक बढाकर कर्म-बन्धनो को छिन्न-भिन्न कर दिया तथा आत्मा को राग-द्वेषादि समस्त मलिनताओ से मुक्त कर के परमात्म-पद पर प्रतिष्ठित किया। उन वीतराग पुरुषो के स्मरण से हमे आत्म-शुद्धि की प्रेरणा मिलती है तथा मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है। प्रार्थना

का परिणाम हृदय के द्वारा आत्मा पर पडता है। मनुष्य के अतर मे शुभ और अशुभ दोनो तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं, किन्तु अन्तरतम मे केवल शुभ ही शुभ होता है और प्रार्थना के द्वारा उस अतरतम मे प्रवेश किया जा सकता है।

लॉर्ड टेनीसन ने तो प्रार्थना के महत्व को और भी अधिक बताया है। कहा है—

More things are werought by prayer than world thinbs of."

अर्थात् जितना ससार समझता है, प्रार्थना से उसमे कही अधिक कार्य होता है।

प्रार्थना अथवा स्तुति का एक दूसरा उद्देश्य भी है। वह यह कि मनुष्य प्रार्थना के द्वारा अपने दुर्गुणों का तथा दुर्बलताओ का चिन्तन करता है तथा किये हुए अपराधो के लिये पश्चात्ताप करता है। पश्चात्ताप करने पर प्रायश्चित की प्रेरणा मिलती है और प्रायश्चित करने से आत्मा निर्मल और विशुद्ध बनती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रार्थना मे अपूर्व शक्ति होती है और वह हीन से हीन व्यक्ति को भी महानता की ओर ले जाती है।

महात्मा गाँधी का प्रार्थना मे दृढ विश्वास था। वे कहते थे —

"मैं कोई कार्य प्रार्थना के बिना नही करता। मेरी आत्मा के लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य है जितना शरीर के लिये भोजन। अगर मैं प्रार्थना नही करता होता तो कभी का पागल हो गया होता। प्रार्थना याचना नही है, यह आत्म-शुद्धि का आह्वान है, दैनिक दुर्बलताओ की स्वीकृति है तथा हृदय मे चलने वाले अनुसधानो का नाम है। पर प्रार्थना तभी प्रार्थना है जब वह अपने आप हृदय से निकलती है।"

प्रार्थना कैसी हो ?

प्रार्थना का महत्व हमने समझा, किन्तु उसका लाभ तभी उठाया जा सकता है जबकि वह शुद्ध हृदय से निःसृत हो। दिखावे के लिये की जाने वाली अथवा तोते के समान केवल जबान से बोली जाने वाली प्रार्थना, प्रार्थना नही कहला सकती तथा उससे प्रार्थना का उद्देश्य पूरा नही हो सकता।

एक विद्वान ने कहा है —

"In prayer it is better to have a heart without words, than words without a heart"

—जान बनयन

अर्थात्-शब्द-रहित सहृदय प्रार्थना, हृदयहीन मुखर प्रार्थना से उत्तम है ।

अभिप्राय इसका यही है कि मनुष्य जबान से जोर-जोर से उच्चारण करते हुए प्रार्थना करता रहे, किन्तु उसके साथ उसका हृदय उन शब्दो की स्वीकृति न दे तो उस प्रार्थना से कोई लाभ नही हो सकता । वह व्यर्थ चली जाती है । इसके विपरीत एक व्यक्ति भले ही शब्दो का उच्चारण न करे पर हृदय से अपने दोषो का निवारण और सद्‌गुणो का आह्वान करने की इच्छा करे तो वह शब्द-हीन प्रार्थना सफल साबित होती है ।

महात्मा कबीर ने इसी बात को बडे सुन्दर ढग से कही है —

सुमिरन सुरत लगाइ के, मुख तें कछू न बोल ।
बाहर के पट देइ के, अंतर के पट खोल ॥

कितनी यथार्थ बात है ? प्राणी को शिक्षा दी गई है—'अगर तुझे परमात्मा से प्रार्थना करनी है, ईश-स्मरण करना है तो बाह्य ससार से अपनी दृष्टि हटाकर अपनी आत्मा मे झाक ! बाहरी जगत से नाता तोडकर अपने आतरिक वैभव को खोज !!"

वस्तुत ऐसी प्रार्थना और स्तुति ही मानव को निचाई से ऊँचाई की ओर अथवा हीनता से महानता की ओर ले जा सकती है । शासन के स्वामी जिनेन्द्र भगवान की स्तुति पूर्ण विश्वास, दृढ श्रद्धा और प्रगाढ भक्ति से की जाय तो शनै शनै आत्मा मे ऐसी अलौकिक शक्ति जागृत हो सकती है, जो उसे इस ससार-सागर से पार उतारने मे समर्थ होती है ।

प्रौढ कवि श्री अमीऋषि जी महाराज अपने मन को दृढ रहने के लिये कहते हैं —

तारे गौतमादि कुवचन के कहनहारे,
गोशालक जैसे अविनीत को उधारे हैं ।
चंडकोश अहि वेइ सम्यक् निहाल कियो,
सती चदना के सबै सकट विदारे हैं ॥
महा अपराधी के न आने अपराध उर,
शासन के स्वामी ऐसे दीन रखवारे हैं ।
कहे अमीरिख मन राख रे भरोसो दृढ़,
ऐसे ऐसे तारे फिर तोहि क्यो न तारे हैं ॥

कहा है—'अरे मन ! तू दृढ विश्वास रख, जिन-शासन के स्वामी भगवान महावीर ने तो गौतम और गोशालक जैसे अविनीत और कटुभाषियो का

उद्धार किया, महासती चदनबाला के सकट मिटाये तथा चडकौशिक जैसे विषधर सर्प को भी प्रतिबोधित किया। अर्थात् महान् अपराधियो के अपराधो पर भी ध्यान न देते हुए उन्हे मुक्ति का मार्ग सुझाया। फिर वे समस्त सासारिक प्राणियो के प्रति दया रखने वाले प्रभु तेरे सहायक क्यो नही बनेंगे ?

तो बधुओ, आप भी नमोत्थुण के पाठ मे भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वे लोक प्रदीप के समान हैं।

दीप और प्रदीप

मन मे जिज्ञासा होती है कि भगवान को प्रकाश करने वाला कहा गया तो केवल दीप की उपमा क्यो नही दी गई ? दीप भी तो प्रकाश करने वाला है और साधारणतया हम प्रकाश करने वाले को दीप या दीपक ही कहते हैं। फिर उन्हे लोक-प्रदीप क्यो कहा गया है ? इसमे भी गूढ अर्थ है।

दीप को केवल दीपक कहने से आभास होता है कि वह थोडा और थोडे दायरे मे प्रकाश करने वाला है। स्पष्ट है कि दीपक लघु होता है अत उसका प्रकाश अधिक दूर तक नही पहुच पाता। दीपक को जलाकर हम घर मे प्रकाश कर सकते हैं किन्तु अगर चाहे कि उससे पूरे गाव का या सम्पूर्ण शहर का अन्धकार दूर हो जाय तो यह नही हो सकता।

तीर्थंकरो के लिये भी अगर दीप शब्द का प्रयोग किया जाय तो उसका दायरा छोटा सा हो जाता है। ऐसा लगता है कि वे भी अज्ञान में अधेरे को थोडी दूर तक ही नष्ट कर सकते हैं। किन्तु ऐसा तो है नही, उनके ज्ञान का प्रकाश तो सम्पूर्ण लोक के अज्ञानाधकार को दूर करने वाला है इसीलिये उन्हे दीप कहने की बजाय प्रदीप कहा गया है। दीप मे 'प्र' उपसर्ग लगाया गया है। प्र का अर्थ है प्रकृष्ट रीति से और दीप का अर्थ है प्रकाशित करना। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक को प्रकृष्ट रीति से प्रकाशित करने वाला होने के कारण तीर्थंकर प्रभु को प्रदीप की सज्ञा दी गई है। सीधे शब्दो मे कहा जाय तो दीप केवल घर को प्रकाशित करता है और प्रदीप समग्र लोक को। एक अक्षर 'प्र' के लग जाने से ही कार्य-भार कितना बढ़ गया ? कितनी जवाबदारी आ गई ? और कितना महत्व साबित हो गया ? केवल क्षेत्र मे बढ जाने से ही यह परिवर्तन आया है।

अलभ्य क्या है ?

हम देखते हैं कि गाव मे कार्य करने के लिये पटेल और पटवारी होते हैं, तहसील का काम करने के लिये तहसीलदार जिले मे कलैक्टर और प्रान्त

के लिये गवर्नर। तो क्षेत्र जितना वढता जाता है, उसमे कार्य करने वाले का कार्य-भार, महत्त्व और दर्जा उतना ही वढता चला जाता है। अव आप ही वताइये कि गाँव, तहसील, जिला, प्रान्त और देश की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक कितना वडा है। उसका क्षेत्र कितना विशाल हैं? हम इसका अनुमान भी नही लगा पाते। तो जिस लोक की सीमा का अन्दाज नही लगता, उस असीम लोक में अज्ञानाधकारको दूर करने का कार्य करने वाली सिद्ध आत्माओ का महत्व और दर्जा कितना ऊँचा हुआ?

दूसरे, पटवारी, तहसीलदार, कलैक्टर और गवर्नरो से जवकि आप थोडा सा नम्र वनकर और थोडी सी उनकी प्रशसा करके ही अपने वडे-वडे सासारिक स्वार्थों की पूर्ति कर लेते हैं तो फिर सम्पूर्ण लोक के जिम्मेदार वीतराग प्रभु की स्तुति करके क्या नही प्राप्त कर सकते? आशय यही है कि अगर आपकी स्तुति मे तीव्र वल है तो आप अन्य वस्तुओ की तो वात ही क्या है, मुक्ति भी प्राप्ति कर सकते हैं जिसके पा लेने के वाद और कुछ पाना शेप नही रह जाता।

कल्याणमदिर स्तोत्र मे तो कहा गया है —

"आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! सस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।"

—सिद्धसेन दिवाकर

अत्यन्त महिमा वाली आपकी स्तुति तो दूर रहे, केवल आपका नाम ही ससार से रक्षा करने मे समर्थ है।

श्री मानतुगाचार्य ने भी यही कहा है —

"त्वन्नाममन्त्रमनिश मनुजा स्मरन्तः
सद्यः स्वय विगतवन्धभया भवन्ति।"

अर्थात्— हे प्रभु! आपके नाममन्त्र का निरतर स्मरण करने वाले मनुष्य शीघ्र ही अपने आप समस्त कर्मवन्धनो से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं।

तो आप समझ गए होगे कि जिनके नाम का स्मरण करने मे ही इतना वल है, तो फिर उनकी स्तुति मे कितनी शक्ति नही होगी? अर्थात् स्तुति करने से क्या प्राप्त नही हो सकेगा? इसीलिये मनुष्य मात्र को चाहिये कि वह अपनी अतरात्मा को एकाग्र करने ईश-चिन्तन करे तथा अपने पापो का नाश करने की शक्ति प्राप्त करे।

उद्धार किया, महासती चदनवाला के सकट मिटाये तथा चडकौशिक जैसे विषधर सर्प को भी प्रतिवोधित किया। अर्थात् महान् अपराधियो के अपराधो पर भी ध्यान न देते हुए उन्हे मुक्ति का मार्ग सुझाया। फिर वे समस्त सासारिक प्राणियो के प्रति दया रखने वाले प्रभु तेरे सहायक क्यो नही बनेंगे ?

तो वधुओ, आप भी नमोत्थुण के पाठ मे भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वे लोक प्रदीप के समान हैं।

दीप और प्रदीप

मन मे जिज्ञासा होती है कि भगवान को प्रकाश करने वाला कहा गया तो केवल दीप की उपमा क्यो नही दी गई ? दीप भी तो प्रकाश करने वाला है और साधारणतया हम प्रकाश करने वाले को दीप या दीपक ही कहते हैं। फिर उन्हे लोक-प्रदीप क्यो कहा गया है ? इसमे भी गूढ अर्थ है।

दीप को केवल दीपक कहने से आभास होता है कि वह थोडा और थोडे दायरे मे प्रकाश करने वाला है। स्पष्ट है कि दीपक लघु होता है अत उसका प्रकाश अधिक दूर तक नही पहुच पाता। दीपक को जलाकर हम घर मे प्रकाश कर सकते हैं किन्तु अगर चाहें कि उससे पूरे गाव का या सम्पूर्ण शहर का अन्धकार दूर हो जाय तो यह नही हो सकता।

तीर्थंकरो के लिये भी अगर दीप शब्द का प्रयोग किया जाय तो उसका दायरा छोटा सा हो जाता है। ऐसा लगता है कि वे भी अज्ञान में अधेरे को थोडी दूर तक ही नष्ट कर सकते हैं। किन्तु ऐसा तो है नही, उनके ज्ञान का प्रकाश तो सम्पूर्ण लोक के अज्ञानाधकार को दूर करने वाला है इसीलिये उन्हे दीप कहने की वजाय प्रदीप कहा गया है। दीप मे 'प्र' उपसर्ग लगाया गया है। प्र का अर्थ है प्रकृष्ट रीति से और दीप का अर्थ है प्रकाशित करना। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक को प्रकृष्ट रीति से प्रकाशित करने वाला होने के कारण तीर्थंकर प्रभु को प्रदीप की सज्ञा दी गई है। सीधे शब्दो मे कहा जाय तो दीप केवल घर को प्रकाशित करता है और प्रदीप समग्र लोक को। एक अक्षर 'प्र' के लग जाने से ही कार्य-भार कितना वढ गया ? कितनी जवावदारी आ गई ? और कितना महत्व सावित हो गया ? केवल क्षेत्र मे वढ जाने से ही यह परिवर्तन आया है।

अलभ्य क्या है ?

हम देखते है कि गाव में कार्य करने के लिये पटेल और पटवारी होते हैं, तहसील का काम करने के लिये तहसीलदार जिले मे कलैक्टर और प्रान्त

के लिये गवर्नर । तो क्षेत्र जितना वढता जाता है, उसमे कार्य करने वाले का कार्य-भार, महत्त्व और दर्जा उतना ही वढता चला जाता है। अव आप ही वताइये कि गाँव, तहसील, जिला, प्रान्त और देश की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक कितना वडा है। उसका क्षेत्र कितना विशाल हैं ? हम इसका अनुमान भी नही लगा पाते। तो जिस लोक की सीमा का अन्दाज नही लगता, उस असीम लोक मे अज्ञानाधकार को दूर करने का कार्य करने वाली सिद्ध आत्माओ का महत्व और दर्जा कितना ऊँचा हुगा ?

दूसरे, पटवारी, तहसीलदार, कलैक्टर और गवर्नरो से जवकि आप थोडा सा नम्र वनकर और थोडी सी उनकी प्रशसा करके ही अपने वडे-वडे सासारिक स्वार्थों की पूर्ति कर लेते हैं तो फिर सम्पूर्ण लोक के जिम्मेदार वीतराग प्रभु की स्तुति करके क्या नही प्राप्त कर सकते ? आशय यही है कि अगर आपकी स्तुति मे तीव्र वल है तो आप अन्य वस्तुओ की तो वात ही क्या है, मुक्ति भी प्राप्ति कर सकते हैं जिसके पा लेने के वाद और कुछ पाना शेप नही रह जाता।

कल्याणमदिर स्तोत्र मे तो कहा गया है :—

"आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! सस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।"

—सिद्धसेन दिवाकर

अत्यन्त महिमा वाली आपकी स्तुति तो दूर रहे, केवल आपका नाम ही ससार से रक्षा करने मे समर्थ है।

श्री मानतु गाचार्य ने भी यही कहा है :—

"त्वन्नाममत्रमनिश मनुजा स्मरन्तः
सद्य' स्वयं विगतवन्धभया भवन्ति ।"

अर्थात्—हे प्रभु ! आपके नाममन्त्र का निरतर स्मरण करने वाले मनुष्य शीघ्र ही अपने आप समस्त कर्मवन्धनो से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं।

तो आप समझ गए होंगे कि जिनके नाम का स्मरण करने मे ही इतना वल है, तो फिर उनकी स्तुति मे कितनी शक्ति नही होगी ? अर्थात् स्तुति करने से क्या प्राप्त नही हो सकेगा ? इसीलिये मनुष्य मात्र को चाहिये कि वह अपनी अतरात्मा को एकाग्र करने ईश-चिन्तन करे तथा अपने पापो का नाश करने की शक्ति प्राप्त करे।

एक पाश्चात्य विद्वान् सैमुएल जानसन के कहा भी है —

"The true art of memory is the art of attention"

स्मरण की सच्ची कला ध्यान की कला है।

स्मरण या स्तुति तभी अपना फल प्रदान करते हैं, जब कि मानव उसमे दत्तचित्त हो जाय। अभी मैंने आपको बताया था कि केवल जबान से स्तुति करने से कोई लाभ नही, जब तक मन उसके साथ न हो। स्तुति के स्वरो के साथ अगर अन्तरात्मा का भी स्वर नही है तो वह स्तुति नही कहला सकती। सच्चे भक्त अपना समग्र अस्तित्व ही अपने इष्ट को समर्पित कर देते हैं। वे यही कहते हैं —

मेरा मुझमे कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मोर?

—कबीर

ऐसी तन्मय भक्ति या स्तुति के बल पर ही सेठ सुदर्शन ने सूली को सिंहासन मे बदल दिया, सुभद्रा ने चालनी से पानी निकाल लिया और चन्दनबाला की हथकडियाँ टुकडे-टुकडे होकर बिखर गई। प्रगाढ भक्ति के कारण ही सती सीता के लिये अग्नि शीतल जल बनी तथा प्रह्लाद की रक्षा के लिये स्वय विष्णु भगवान को नृसिंह रूप धारण करके आना पडा।

कामना कैसी करनी चाहिये?

एक बात मैं और कहना चाहता हूं, वह यह कि मानव अपनी स्तुति के साथ कैसी कामना रखे? क्या वह भगवान से अपार धन-राशि और पुत्र-पुत्रो की माग करे? ससार मे अधिकतर प्राणी ऐसी ही कामना करते हुए दिखाई देते हैं। निर्धन व्यक्ति धन-प्राप्ति के लिये ईश्वर की पूजा, उपासना और प्रार्थना करता है, निस्सतान व्यक्ति सतान-प्राप्ति के लिये और कषाय-ग्रस्त प्राणी अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करने की भावना से भी अपने इष्ट से प्रार्थना करता है। पर यह तो वही बात हुई कि जो तीन लोक का राज्य तो क्या ससार से मुक्ति भी दिला सकता है, उससे रोटी के केवल एक टुकडे की माग की जाय। एक उदाहरण है —

घोर तपस्या और सिद्धि

एक साधक ने कई वर्षों तक घोर तपस्या की तथा उसके फलस्वरूप जल पर चलने की शक्ति को प्राप्त किया। फिर क्या था, मारे खुशी के उसके

पैर जमीन पर ही नही टिके। वह भागता हुआ अपने गुरु के पास आया। उसे अत्यधिक प्रसन्न देखकर गुरु ने पूछा—"क्या बात है ? बहुत प्रसन्न दिखाई दे रहे हो ?"

"हां गुरुदेव ! आज मुझे जल पर चलने की सिद्धि प्राप्त हो गई है।" शिष्य ने उत्तर दिया।

यह सुनकर गुरु ने तनिक फटकारते हुए कहा—

"बस ! इस सिद्धि के लिये ही क्या तुम चौदह वर्ष से तपस्या कर रहे थे ? यह काम तो दो पैसे लेकर एक मल्लाह ही कर देता। तपस्या आत्म-शुद्धि के लिये की जानी चाहिये। भौतिक-सिद्धि के लिये की जाने वाली इस तपस्या के बदले तो तुम कोई व्यापार कर लेते तो ज्यादा अच्छा था।"

साधक अत्यन्त लज्जित हुआ क्योकि उसे अपनी भूल महसूस हो गई थी।

तो बधुओ ! आप समझ गए होगे कि स्तुति किसलिये और किस प्रकार करनी चाहिये। हमे अपनी आत्मा की अलौकिक शक्ति को एक फूटी कौडी के बराबर भी महत्व न रखने वाली भौतिक वस्तुओ और भौतिक सुखो की प्राप्ति के लिये व्यर्थ न गँवा देना चाहिये।

महात्मा सुकरात की प्रार्थना थी —

"I pray, O God, that I may be beautiful within"

हे ईश्वर ! मेरी यही प्रार्थना है कि मैं अन्दर से सुन्दर बनूँ।

क्या याचना की है सुकरात ने ? केवल इतनी ही कि—"मैं अन्दर से सुन्दर बनूँ।' अर्थात् मेरी आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेषादि रूप मलिनता और कुरूपता को त्याग कर विशुद्ध बन जाय, अपने शुद्ध स्वरूप मे आ जाय। और उन्होंने कुछ भी नही मागा। किन्तु आज आपको भगवान अगर मनोवाछित इच्छाएँ पूरी करने का आश्वासन दे तो आप कितना धन-वैभव और पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का मुँह देख लेने की कामना करें ? कुछ सीमा नही ! शायद यही कहे कि ससार मे जितना भी सुख हो हमे मिल जाय। यह नही सोचें कि जब देवताओ को भी अपना युगो का आयुष्य पूरा करने पर स्वर्ग का अपार सुख त्यागना पडता है तो आखिर हम कितने दिन इस ससार के सुखो का उपभोग कर सकेंगे ? आखिर तो यह सब छोड़ना ही पडेगा।

ज्ञानी पुरुप इसीलिये सासारिक सुखो की कामना नही करता। वह अपनी स्तुति मे केवल परमात्मा से यही प्रार्थना करता है —

"असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृत गमय।"

—बृहदारण्यक उपनिषद्

असत्य से मुझे सत्य की ओर ले चलो, अधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से मुझे अमरता की ओर ले चलो।

ऐसी ही प्रार्थना और स्तुति आत्मा के लिये कल्याणकारी होती है। भौतिक वस्तुओ की कामना करके उनकी प्राप्ति कर लेना पूर्णतया निष्फल जाती है क्योकि वे सब वस्तुएँ नश्वर हैं और यही छूट जाने वाली हैं। उन्हें पाया तो क्या और नही पाया तो क्या? लाभ केवल उसी पाने से होता है जिससे आत्मा का भला हो तथा कर्म-बधनो की कुछ कडिया टूटे। और वह तभी हो सकता है जबकि मनुष्य उस परम पुरुष परमात्मा से यही प्रार्थना करे कि मुझे सत्पथ बताते हुए मिथ्यात्व और अज्ञानाधकार से सम्यक्ज्ञान के अमिट प्रकाश मे ले चलो। समस्त लोक को प्रकाशित करने वाले वीतराग देवो मे से हमे सहायता लेनी है तथा उनके किये हुए उज्ज्वलतम प्रकाश मे आत्म-मुक्ति का मार्ग खोजना है। तभी हमारा यह कहना सार्थक होगा—

"गम्यो न जातु मरुता चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसिनाथ! जगत्प्रकाशः।"

—मानतुगाचार्य

अर्थात्—बडे-बडे पर्वतो को कपायमान कर देने वाली भयकर पवन भी जिसके पास नही पहुच सकती, हे नाथ! तुम जगत् को प्रकाशित करने वाले ऐसे ही एक अलौकिक दीपक हो।

भावार्थ इसका यही है कि विषय-कषाय रूपी भयानक तूफान तुम्हारी निर्लिप्त और अडिग आत्मा को विचलित नही कर सकता तथा मिथ्यात्व और अज्ञान का घोर अधकार भी तुम्हारे अनत ज्ञान रूपी पूर्ण ज्योतिर्मय प्रकाश को मद नही कर पाता ऐसे तुम अलौकिक प्रदीप हो।

तो बधुओ, हमे उन महान् ज्योतिर्मय आत्माओ के समुज्ज्वल प्रकाश मे अपना सच्चा मार्ग खोजना है, जिन्होने अपने जीवन मे घोर उपसर्गों को तथा मरणातक कष्टो को सहकर भी अपने कल्याणकारी पथ को नही त्यागा तथा अत मे अजर-अमर अवस्था को प्राप्त किया है। वे ऐसी भव्य आत्माए थी जिन्होने समस्त भौतिक सुखो का त्याग करके जीवन के अत तक अपनी

आत्मा को तपाया है और सुवर्ण के समान उसे तपाकर अखड ज्योति प्राप्त की है।

दीपक को देखो !

हम देखते हैं कि एक छोटा सा दीपक भी जब प्रतिपल अपने आपको जलाता है, तभी औरो को रोशनी दे पाता है। देखिये ! एक कवि ने दीपक से ही उसके सतत जलने का कारण पूछा है। कहा है —

दीपक जरा बतादे, जलना क्यो काम तेरा ?
करता है दूर जबकि, ससार का अधेरा।
आसन जमाये बैठा, क्यो योगियो की भाति ?
किस ध्यान मे मगन तू डाले हुए है डेरा ?
करता है क्यो तपस्या, इस ढग से तू पगले,
पल-पल चमक रहा है, तेरा क्यों आज चेहरा ?
तेरे कदम पै चन्दन, परवाना क्यों फिदा है
निर्वाण पद क्यो पाता, होते ही तू सवेरा ?

कवि चन्दन मुनि दीपक से प्रश्न करते हैं - "अरे दीपक ! तू अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस जगत मे फैले हुए अधकार को मिटाने का उत्तम कार्य कर रहा है, फिर भी स्वय क्यो जल रहा है ? क्या शुभ कार्य करने का परिणाम ऐसा ही दु खदायी होता है ?"

"एक योगी जिस प्रकार एक आसन मे बैठकर ध्यान-मग्न हो जाता है तथा सारे ससार से विमुख होकर अपनी आत्मा से लौ लगाता है, उसी प्रकार तू बिना किसी की ओर ध्यान दिये तथा किसी की परवाह किये एकाग्रचित्त से किस प्रकार के ध्यान मे लीन है ? किस उद्देश्य को लेकर तूने यहा आसन जमाया है ?"

"अरे पगले ! तू इस प्रकार तपस्या क्यो कर रहा है, जिसमे प्रतिपल जलते रहना पडता है ? किन्तु फिर भी आश्चर्य की बात है कि सतत शरीर को जलाने पर भी तेरा चेहरा अधिकाधिक दमक रहा है। ससार के अन्य पदार्थ तो जलकर काले हो जाते हैं, किन्तु तेरा शरीर उलटा ज्योतिर्मय हो रहा है यह आश्चर्य की बात नही है क्या ?"

आगे कहा है—"ऐ दीपक ! मेरे अतिम प्रश्न का उत्तर और दे कि तुझ मे ऐसा क्या आकर्षण है जो असख्य परवाने तेरे ऊपर मडराते रहते हैं। और उनका मडराना भी कैसा है ? तेरे शरीर की तपन मे वे भुनन्न आते हैं,

जल जाते हैं फिर भी तुझे नही छोडते, तुझसे दूर नही जाते। और यह भी बता दीपक! कि तू इतना आकर्षक और प्रिय है कि परवाने मरते दम तक तेरा त्याग नही करते, तथा तू स्वय जलकर भी दूसरो को प्रकाश देता है, उनका मार्ग-दर्शन करता है यानी सदा पर-उपकार मे लगा रहता है पर फिर भी प्रात काल होते ही तू समाप्त क्यों हो जाता है? क्यो शात हो जाता है? इस सबका कारण क्या है?"

दीपक कवि के प्रश्नो को सुनकर मुस्कराता है तथा अपने थोडे से शब्दो मे सारे प्रश्नो का उत्तर देता हुआ कहता है —

कहने लगा यूँ दीपक, कुछ ध्यान तो लगाओ!
सेवा का पंथ ऐसा पड़ता है तन जलाना।
ससार मे भला वो, अमरत्व कैसे पाये,
सह-सह के कष्ट जिसने, सीखा न मुस्कुराना?

क्या कहता है दीपक? उसका कथन है— बधु! तुम पूछते हो कि जगत का अधेरा दूर करते हुए भी मैं जलता क्यो? इसका उत्तर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से भी मिल सकता है किन्तु मुझसे अगर पूछते हो तो मेरा यह उत्तर है कि मेरा कार्य एकमात्र सेवा है। और सेवा का पथ ही ऐसा है, जिस पर चलते हुए सेवा-व्रतधारी को परोपकार की वेदी पर अपना वलिदान करना पडता है। जैसा कि तुलसीदास जी ने कहा है—

सेवा धरम कठिन जग जाना।

परोपकार के मार्ग पर कही फूल नही खिलते। उस पर चलना असि-धारा पर चलने के समान कठिन होता है। जव तक कठिनाइयो और कष्टो का मुकावला नही किया जाता, सेवा कार्य करना भी सभव नही होता। सेवा-करने के लिये खून-पसीना एक करना पडता है केवल जवान से अपनी सेवा भावना व्यक्त करने से काम नही चलता।

मराठी भापा मे सन्त तुकाराम जी कहते भी हैं —

बोलाचीच कढी बोलाचाचि भात,
जेउनिया तृप्त कोण झाला?

मान लीजिये, भोजन करने के लिये पगत वैठी हुई है और एक व्यक्ति आकर कहे—"कढी लीजिये साहव कढी! भात भी लीजिये।" पर कहने के वाले के हाथ मे न कढी है और न भात अर्थात् चावल ही। तो कढी लीजिये चावल लीजिये, वोलने मात्र से ही खाने वालो का पेट भर जाएगा? नही,

जव तक कढी और चावल वास्तव मे ही परोसा नही जाएगा तव तक खाने वाले तृप्त नही हो सकेंगे।

इसी प्रकार सेवा का कार्य है। केवल 'सेवक हू, मेरा कार्य सेवा करना है, मेरे योग्य सेवा-कार्य वताइयेगा।' ये शब्द कहने मात्र से ही सेवा-कार्य नही सध जाता। उसके लिये शरीर को चलाना पडता है और कष्ट उठाने होते हैं। एक उदाहरण है—

अपना अपना कार्य

कोई महात्मा गगा मे स्नान कर रहे थे। कुछ ही दूरी पर उन्होंने एक विच्छू को पानी की धारा मे वहते हुए देखा। विच्छू जमीन पर रहने वाला प्राणी है अत वह बुरी तरह से छटपटा रहा था और मृत्यु के करीव जा रहा था।

महात्मा जी को वडी दया आई। उन्होंने उसे हाथ मे उठाकर वाहर निकाल देना चाहा। किन्तु ज्योही उन्होने उसे हाथ मे लेना चाहा, व्याकुलता के मारे विच्छू ने वडे जोर से डक मार दिया। हाथ हिल गया और विच्छू गिरकर पुन पानी मे वहने लगा। पर महात्मा सेवा-भावी थे, वे विच्छू की जान वचाने के लिये कटिवद्ध हो गए। परिणाम स्वरूप उन्होने कई वार उसे हाथ मे लेने की कोशिश की और हर वार विच्छू के डक मार देने से हाथ कापा और वह पानी मे जा पडा। किन्तु महात्मा जी ने हाथ मे असह्य दर्द होने पर भी अपना प्रयत्न नही छोडा।

महात्मा का यह कार्य उनके समीप ही स्नान करने वाला एक व्यक्ति देख रहा था। विच्छू पर क्रोधित होते हुए वह महात्मा जी से वोला—"जव यह विच्छू आपको वारवार डक मार रहा है तो आप छोड क्यो नही देते अपने प्रयत्न को। मरने दीजिये उसे पानी मे ही।"

शाति स हँसते हुए महात्मा वोले—"भाई! विच्छू का कार्य डक मारना ही है, और मनुष्य का कार्य है मरते हुए को वचाने का। जव यह अपना कार्य नही छोडता तो मैं मनुष्य होकर अपना कार्य क्यो छोडूं?"

आखिर कई वार और भी डक खाकर उन्होंने विच्छू को जल से वाहर निकाल ही दिया। हाथ की असह्य पीडा के वावजूद भी महात्मा का सेवा-कार्य देखकर समीपस्थ व्यक्ति अत्यत प्रभावित हुआ।

तो मेरे वधुओ! सच्ची सेवा करना इसी को कहते है। ऐसी जिसकी सेवा की जाय वही करने वाले को कष्ट देने मे परास्त करे और उसका

अपमान करने से भी नही चूके फिर भी कोई व्यक्ति अपना कार्य करता चला जाय तो उसे सेवाव्रती समझना चाहिये।

आज तो हम तनिक सा भी किसी का उपकार करने जाते हैं, तो यदि उससे मन को न भाने वाली कोई बात हो जाती है तो कुपित होकर फौरन अपना हाथ खींच लेते हैं। पर उससे कैसे कार्य चल सकता है?

अपनी कहानी

अपने सघ की बात ही लीजिये। सघ की जिम्मेदारी होने के कारण हमे भी कई तरह की बातें सुननी पडती हैं। श्रावक व सत जिसके जैसी समझ मे आती है कहते हैं। कई मुझसे कहते हैं—"श्रमण सघ मे आचार विचार विपयक शिथिलता आ रही है तो उस सबध मे आप उचित घोषणा क्यो नहीं करवा देते हैं?

मेरा उत्तर होता है—"घोषणा तो की है।" पुन प्रश्न होता है "तो फिर घोषणा के कार्यान्वित न होने पर आप कडा एक्शन क्यो नही लेते? कुछ न कुछ करना चाहिये आपको।"

अब मैं कैसे समझाऊँ कि मैं करता हू, सोया हुआ नही हूं किन्तु जब तक आप लोगो मे निष्पक्षता नही है, सत्य पर चलने का आग्रह नहीं है तथा उचित को ही ग्रहण करने की भावना नही है तो फिर किया कैसे जा सकता है? सोये हुए प्राणी को जगाना सरल है, पर जागे हुए को जगाना कैसे सभव है? नीद तो सहज ही उडाई जा सकती है पर वहाने को कैसे मिटाया जाय?

अकेले श्रावक कुछ नही कर सकते, यह मैं मानता हू पर आप सब कम से कम एक ही विचारधारा के तो बने जो सत्य और यथार्थ है। आप सुधार नही सकते किन्तु बिगाडने का श्रेय तो आपको ही है। वह कार्य आप क्यो करते हैं? कोई आकर कहता है, साधु के यहा पखे चलते हैं। पर पखे लगाए किसने? आपके भाइयों ने ही तो। अगर आप मानते हैं कि साधुओ के स्थान पर पखे नहो होने चाहिये तो फिर लगवाते क्यो हैं? लगवाने वाले आप ही हैं न? साधु स्वयं तो वह कार्य करते नही। अकेली कुल्हाडी क्या काम कर सकती है, जब तक उसके साथ डडा न हो? साधु कुल्हाडी हैं तो आप उनके पक्के सहयोगी डाडे है।

आप मे से अनेको ने लाखो रुपये खर्च किये। देश-विदेश मे घूमकर सतो को लाने के लिये। अपने गृहकार्यों का नुकसान करके सगठन किया, पर उसे

तोडने का काम भी आप ही कर रहे हैं। आपकी प्रेरणा से ही विभाजन की खाई हुई और वह निरतर वढती रही है। आज भी अनेक सत सगठन के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, काम करने मे तत्पर हैं तथा अनेक सतो की भावना जगाने मे समर्थ भी हुए है किन्तु उनके अनुयायी आकर भाजी मार देते हैं-—"महाराज! यह नही करना चाहिये।"

अव मैं क्या कहू? मैं जानता हू कि सत कदाचित विचार करते भी हैं पर आप लोग उन्हे दूसरा ही मार्ग सुझा देते हैं। इस प्रकार दखलवाजी करने पर कैसे कार्य हो सकता है? एक के सामने कुछ और दूसरे के सामने जाकर कुछ और इधर की वात उधर और उधर की इधर, इससे क्या होता है? खीचतान ही तो वढती हैं। इस प्रकार मनोमालिन्य वढाकर आप दूध के धोये के समान वनकर कहते हैं—'साधुओ का काम साधु जानें, या कि साधु कुछ करते नही।" अरे भाई! तुम जोड नही सकते तो कम से कम तोडो तो मत! दखलवाजी तो मत करो! पाच पच्चीस श्रावक इधर और पाच पच्चीस उधर होकर दोनो ओर से कम से कम खीचो तो मत! इससे क्या वनना है? हेठी सभी की नहीं होगी? जैन समाज मे सभी नहीं आते हैं क्या? अगर उस समाज का सुधार होगा, उसकी तरक्की होगी तो सवके सगठन से होगी। और उसमे भी श्रावक-सगठन पहले होगा तभी होगी। इस वात को नही भूलते हुए आज सभी को एक होकर सत्पथ पर चलना है, यही सघ की प्रगति का मार्ग है और उसके भविष्य को उज्ज्वल वनाने का तरीका है।

ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे मे श्रावको को साधुओ के माता-पिता के समान माना गया है। इससे भी स्पष्ट है कि उन्हे यह न कहकर कि साधुओ का काम साधु 'जाने।' स्वयं भी अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये तथा जो समस्त साधु-साध्वियो के लिये हितकर हो, वह कदम उठाना चाहिये। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारो को तीर्थ की सज्ञा दी गई है। कितना महत्व है चारों तीर्थों का? पर ये अलग-अलग वने रहे हो तो क्या वह महत्व और गौरव कायम रह सकेगा? नही एक उदाहरण है—

वल चौगुना हो जायगा

एक किसान था। उसके चार पुत्र थे। जव वह मरने लगा तो सभी पुत्र उसके नजदीक आकर बैठ गए और बोले—"पिताजी! हमे अपनी अतिम शिक्षा दीजिये।"

वृद्ध किसान ने कहा—"चार रस्सियाँ लाओ।" आज्ञा का तुरन्त पालन हुआ और उसके पुत्र भागकर रस्सियाँ ले आए। वे सोच रहे थे कि रस्सियो का क्या होगा ? पिताजी इनके द्वारा कैसे शिक्षा देंगे ? पर कोई भी बोला कुछ नही इस विषय मे।

किसान ने पुन आज्ञा दी—"एक-एक जने एक-एक रस्सी को तोडो।" पुत्र मेहनती और बलिष्ठ थे। सभी ने एक-एक रस्सी तडाक-तडाक तोड डाली।

अब किसान ने कहा—"इन चारो को बटकर एक करो।" वह भी कर दिया गया। चारो रस्सियाँ मिलकर एक रस्सी बन गई। अब पिता ने कहा—"चारो बारी-बारी से इस रस्से के टुकडे करो। पुत्र चकराए पर कोशिश करने लगे। नतीजा यह निकला कि प्रत्येक जोर लगाकर थक गया किन्तु रस्सा नही टूटा। यहाँ तक कि पिता के आज्ञा देने पर चारो ने एक साथ भी उसे तोडने का प्रयत्न किया पर रस्सा नही टूटा।

अब किसान ने मुद्दे की बात कही—'देखो ! चारो रस्सियाँ अलग-अलग रहने के कारण टूट गई पर सभी जब मिल गई तो उसे तुममे से कोई एक, और सब मिलकर भी नही तोड सके। मेरी अतिम और एकमात्र शिक्षा केवल यही है कि तुम लोग इन रस्सियो के समान अलग-अलग मत रहना वरन्, रस्से के समान एक होकर रहना ताकि कोई भी अन्य शक्ति तुम्हे हानि न पहुचा सके। मेल से और एकता से रहोगे तो तुम्हारा बल चौगुना हो जाएगा तथा किसी की भी दया और सहायता पर तुम्हे निर्भर नही रहना पडेगा।

बात किसान के पुत्रो की समझ मे आ गई और उन्होने उसी क्षण जीवन पर्यंत एक होकर रहने की शपथ अपने मरणासन्न पिता के आगे ले ली।

बधुओ ! क्या यही बात हम बार-बार आपसे नही कह रहे हैं ? किसान के पुत्रो ने क्षण भर मे पिता की सीख को अगीकार कर ली, किन्तु आप लोगो से हमने कितनी बार कहा है, कुछ ध्यान है ? नही, आप तो उलटा कहते हैं—

"महाराज ! आप कडा अनुशासन नही रखते।"

मैं पूछ लेता हू—मुझसे कोई व्यक्तिगत शिकायत है क्या ?

उत्तर मिलता है—"नही, आपके विषय मे रच-मात्र भी कोई बात नही है, पर औरो पर आपको कड़क अनुशासन रखना चाहिये।"

समझ मे नही आता कि कडा अनुशासन किस प्रकार रखा जाय ? आप कहना मानते नही, और आपसे बात मनवाने का कोई कानूनी उपाय नही। फिर क्या हो सकता है ? जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं आचार्य पद का भी त्याग कर सकता हू पर आप पहले अपने मत-भेद को तो त्यागो। मुझे पदवी की जरूरत नही है केवल चारो तीर्थों के सगठन की आकाक्षा है।

संगठित होकर देखो !

बधुओ, लगता है कुछ विपयातर हो गया। बात सेवा-कार्य की ही चल रही थी कि सेवाभावी किस प्रकार अपना सर्वस्व बलिदान करके भी अपनी भावना और अपने कर्तव्य का त्याग नही करता। इसी प्रसगवश मैंने भी आपसे अपील की है कि आप चारो तीर्थों की, जैन समाज की और जिन-शासन की सेवा की भावना हृदय मे रखते हुए थोडा थोडा अपने आपको झुकाएँ और सगठन की सुखद छाया मे गौरवान्वित होकर आश्रय लें। इसमे आपको न अधिक त्याग ही करना है और न किसी प्रकार का कष्ट ही उठाना है। केवल विचारों को परिष्कृत करना है तथा हृदय को विशाल बनाना है। अगर सच्चे अन्त करण से आप प्रयत्न करें तो सगठन होना तनिक भी असभव नही है। सगठन से ही शासन की उन्नति होगी, उसका गौरव बढेगा तथा महान् शक्ति हासिल होगी।

एक पश्चिमी विद्वान ने कहा है—

"By uniting we stand, by dividing we fall"

—जान डिकिन्सन

सगठन मे हमारा अस्तित्व कायम रहता है तथा विभाजन मे पतन होता है।

कितनी यथार्थ बात है ? एक सगठित समाज क्या नही कर सकता ? जबकि असगठित रहकर वह अपनी समस्त विशेपताओ और शक्तियो को खो बैठता है तथा निर्बल होकर ससार मे उपहास का पात्र बनता है। क्या हमे ऐसा ही करना है ? नही, हमे सगठित होकर चिरकाल से गौरवान्वित जिन-शासन के गौरव को अक्षुण्ण रखना है। तथा सगठन के बल पर जैन समाज को उन्नति के शिखर पर पहुचाना है।

पर यह तभी होगा जबकि हम दीपक से शिक्षा लेंगे। दीपक कह रहा है—भले ही मैं प्रतिपल जलता रहूँ किन्तु अपने सेवाव्रत से मुँह नही मोडूगा। मेरा एकमात्र ध्यान और तपस्या दूसरो को सुख पहुचाना ही है। मुझे इसीमे

अपार संतोष मिलता है और इस संतोष की चमक ही मेरे चेहरे पर दिखाई देती है।

वह आगे कहता है—"मैं निस्वार्थ भाव से संसार की सेवा करता हूं और इसी गुण के कारण परवाने मुझपर फिदा रहते हैं तथा मेरे पास आते है सौ बात की एक बात केवल यही है कि इस संसार मे जो व्यक्ति करुणा, दया सेवा और परोपकार रूपी सद्गुणो को अपनाकर सदा औरो की भलाई मे रत रहते हैं तथा इस मार्ग पर आनेवाली समस्त विघ्न-बाधाओ का मुकाबला करके भी हँसते रहते है वे मरकर भी अमर हो जाते हैं तथा भव-सागर का किनारा पा लेते हैं।"

प० मुनिश्री अमीऋषिजी महाराज ने भी दीपक के इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है :—

दया है धरम मूल जाणी अनुकूल प्राणी,
धारो चित्त मांही भव भव सुखकार है।
समुद्र में नाव भूला जन को मारगदाता,
प्यासा को शीतल जल भूखे को आहार है॥
पक्षी को गगन जैसे लाकड़ी है आंधले को,
तैसे भवि जीव ताको दया का आधार है।
अमीरिख कहे भवि, पालो चित्त भाव आणी,
दया से अनंत जीव पाम्या भवपार है॥

कहा है—'हे भव्य प्राणी! दया धर्म का मूल और जन्म-जन्म तक सुख प्रदान करने वाली है, इसलिये इसे अपने हृदय मे स्थापित करो।'

अधिक क्या कहा जाय, जिस प्रकार समुद्र मे बहने वाले को नाव का, मार्गभ्रष्ट को पथप्रदर्शक का, प्यासे व्यक्ति को शीतल जल का, क्षुधित व्यक्ति को आहार का, पक्षी को गगन का और नेत्रहीन व्यक्ति को लकडी का ही आधार होता है, उसी प्रकार जीव को केवल दया का आधार होता है। दया की भावना मनुष्य को सेवा-कार्य मे प्रवृत्त करती है और सेवा-कार्य के द्वारा वह अपने कर्मों की निर्जरा करता हुआ भव-सागर को पार करने मे समर्थ बनता है। इस संसार मे जन्म लेकर अनंत जीव अपनी दया की भावना से ही भव-सागर पार कर सके हैं, अतः तुम इसे धारण करो।

दया और सेवा की भावना मनुष्य मे क्यो होनी चाहिये? इस विषय मे शेखसादी कहते हैं —

बनी आदम आजाए यक दीगरन्द,
कि दर आफरीनश जियक जौहरन्द ।
चो उजवे बदर्द आवरद रोजगार,
दिगर उजवहारा नमानद करार ॥

अर्थात्—सभी मनुष्य परस्पर ऐसे सबधित हैं जैसे एक शरीर के अग, क्योकि उनकी उत्पत्ति एक ही जैसे तत्वो से हुई है। इसलिये जैसे शरीर के एक अग के पीडित होने पर दूसरे अग भी सुखी नही रह सकते, उसी प्रकार एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के दुख का अनुभव होना चाहिये तथा एक को दूसरे का सहायक बनना चाहिये ।

जो प्राणी इस बात को समझ लेता है, वही दीपक के समान स्वय कष्ट और मुसीबतें सहन करके भी सदा मुस्कराता रहता है तथा अपने जीवन को सतत परोपकार मे व्यतीत करके इसका सच्चा लाभ उठा लेता है। दीपक सायकाल को जलता है और प्रात काल होते ही निर्वाण को प्राप्त होता है, यही बात इस जीवन के लिये भी घटित होती है। आयु एक न एक दिन समाप्त होने वाली है अत जिस क्षण मे मनुष्य के हृदय मे सद्विचारो का आविर्भाव हो, उसी क्षण से उसे अपने जीवन को शुभ-कार्यों मे लगाने का सकल्प कर लेना चाहिये। 'जिन्दगी इतनी बीत गई।' यह विचारकर निराश होने की आवश्यकता नही है।

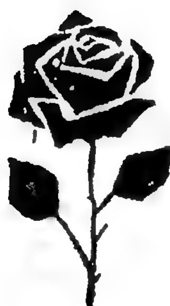
जब जागे तभी सवेरा !

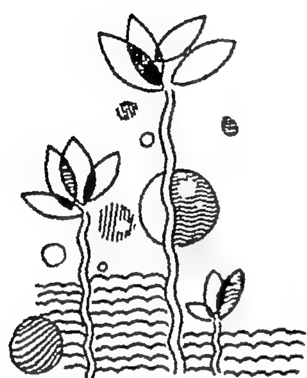
शेखसादी साहब ने चालीस वर्ष की उम्र मे पढना प्रारम्भ किया था। पहले वे इस विचार को कार्यान्वित करने मे हिचकिचाये कि इस उम्र मे अब क्या ज्ञानार्जन कर सकूँगा ? किन्तु एक बार उन्होंने एक चींटी को अनाज का दाना मुँह मे लेकर दीवाल पर चढने की कोशिश करते हुए देखा। उन्होंने देखा कि कुछ दूर चढते ही उसका दाना मुँह से छूट कर नीचे गिर गया और इसी प्रकार बार-बार हुआ। किन्तु चींटी ने हिम्मत नही हारी। वह पुन पुन उतरी और फिर उस दाने को लेकर चढने का प्रयत्न करती रही। आखिर कई बार की कोशिश और अपनी लगन के कारण वह अनाज के दाने को मुँह मे लेकर दीवाल पर चढ गई।

इससे प्रेरणा पाकर शेखसादी ने अविलम्ब पढना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय मे इतने आलिम फाजिल हो गए कि उनके लिखे हुए 'गुलिस्ता'

'वोस्ता' 'करिमा' आदि ग्रन्थो का फारसी के अच्छे अच्छे विद्वान भी अर्थ करने मे कठिनाई का अनुभव कर लगे।

तो वन्धुओ, 'जव जागे तभी सवेरा।' इस कहावत को यथार्थ मानते हुए हमे लोक-प्रदीप परमात्मा से यही प्रार्थना करनी है कि वह हमारे हृदय के अज्ञानाधकार को मिटाकर उसमे ज्ञान का समुज्ज्वल प्रकाश भर दे तथा हमे सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करे। तभी हमारा उनकी स्तुति करना और उन्हें स्मरण करना सार्थक हो सकेगा।





१३

सबसे हिल-मिल चालिए...

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो,

ठाणाग सूत्र के चोथे ठाणे मे चार प्रकार के ससार वताए गए है—

"चउव्विहे ससारे पण्णत्ते तजहा—णेरइय ससारे,
तिरिक्ख जोणिय ससारे, मणुय ससारे, देव संसारे।"

अर्थात् ससार चार प्रकार के हैं—नरक ससार, तिर्यंच ससार, मनुष्य ससार और देव ससार।

नरक गति मे जीव को कितने कष्ट उठाने पडते हैं, इसका वर्णन करना भी सभव नही है। रात और दिन वे दु खो के महासागर मे डूवते उतराते रहते हैं। एक श्वास लेने के जितने समय मे भी उन्हे शाति नसीव नही होती। जीवाभिगमसूत्र मे वताया भी है —

अच्छि निमीलियमेत्तं, नत्थि सुह दु खमेव अणुवद्ध
नरए नेरइयाण, अहोनिसं पच्चमाणाण॥

नरक के प्राणी रात और दिन महान् दुख मे पडे रहते हैं, एक वार आंख खोलकर कर पुन वद करने के जितना समय भी उनका सुख मे व्यतीत नही होता।

इसी प्रकार तिर्यंच गति मे भी जीव नाना प्रकार के कष्ट भोगता है तथा परतन्त्रता मे जीवन विताता है। कहा भी है —

निकल नरक से कभी जीव तिर्यंच योनि मे आता।
वध-बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिश पाता॥
एक श्वास मे बार अठारह जन्म मरण करता है,
आपस मे भी एक दूसरा प्राण हरण करता है॥

आशय यही है कि किसी तरह अगर जीव नरक से निकलकर तिर्यंच योनि मे आ जाय तब भी उसे चैन नही मिलती। वहाँ भी एक-एक श्वास मे अठारह बार तक जन्म और मृत्यु के कष्ट भोगता है। पशु बनकर अनेक बार मार डाला जाता है अथवा बन्धन मे पडा रहकर सामर्थ्य मे अनेक गुना अधिक भार ढोता हुआ दुखी होता है। अनेक बार तो अपने से अधिक शक्तिशाली प्राणियो के द्वारा मारा जाकर उनकी खुराक बन जाता है।

कभी-कभी पूर्वकृत पुण्यो के बल पर जीव स्वर्ग मे जा पहुँचता है। पर वहाँ भी अपनी करनी के अनुसार देव पद प्राप्त करता है। कोई आभियोगिक चाकर देव बनता है और कोई हुक्म प्रदान करने वाला इन्द्र। चाकर देवताओ को भी अपने से उच्च पद वालो की आज्ञा माननी पडती है तथा उनके अनुशासन मे रहना होता है। इसके अलावा जबतक उनके पुण्य कर्मों का उदय होता है तभी तक वे स्वर्गीय सुखो का उपभोग करते है और ज्योही वह पुण्य कोष रिक्त हुआ पुन जन्म-मरण के चक्कर मे पडते हैं।

साराश यही है कि नरक और तिर्यंच ससार से देव-ससार अच्छा है। नरक मे जहाँ चन्द्र, सूर्य, तारे तथा ग्रह-नक्षत्र आदि के न होने से भयानक अधकार व्याप्त रहता है, वहाँ स्वर्ग मे प्रकाश ही प्रकाश होता है। नरक मे जीव पाप-कर्मों के उदय के कारण असहनीय दुख भोगता है और स्वर्ग मे अपने सचित पुण्यो के बल पर सुखो का अनुभव करता है। किन्तु वे सुख अनित्य होते है तथा देव-पर्याय की सम्पत्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। उन सुखो मे जीव इतना तल्लीन हो जाता है कि स्थायी और शाश्वत सुख के बारे मे सोच ही नही पाता, न ही उनके लिये कुछ प्रयत्न ही कर सकता है। यह कार्य करता है मनुष्य-पर्याय मे आकर।

मनुष्य ससार नरक और देव ससार दोनो से भिन्न है। वहाँ अधेरा भी है और उजेला भी। दुख भी है और सुख भी। पाप भी यही है और पुण्य भी यही। यह वह चौराहा है जहाँ से जीव अपनी करनी के अनुसार नरक गति,

तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देवगति किसी को भी प्राप्त कर सकता है। कुसगति मे रहकर नरक और तिर्यंच मे होने वाले कष्टो को भोगता है तथा सत्सग की प्राप्ति होने पर अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ मोक्ष की प्राप्ति भी कर लेता है।

सत्सग और सहयोग

मानव जीवन मे सहयोग का बडा भारी महत्व है। बालक जन्म लेने के साथ ही सहयोग की अपेक्षा रखने लगता है। सर्वप्रथम वह अपने माता-पिता के सहयोग पर निर्भर होता है, और उसके पश्चात् सुशिक्षक पर। इसी प्रकार सुसस्कारो की वृद्धि एव सुगुणो की प्राप्ति वह सत जनो की सुसगति से करता है। इसी का नाम सहयोग है। सहयोग के अभाव मे मानव-जीवन कभी भी सम्यक् प्रकार से अपनी जीवन-यात्रा आगे नही बढा सकता।

मनुष्य तो क्या, देवता भी एक दूसरे के सहयोग के बिना अपने कार्य मे सफल नही हो सकते। सहयोग के बिना देव-समार भी निष्क्रिय होता है। शास्त्रो मे वर्णन आता है कि इन्द्र की आज्ञा हिरणगमेषी देवो को माननी पडती है और आभियोगिक देवता अपने से निम्नकोटि के देवताओ को हुक्म देते हैं। जो उन्हे मानना पडता है। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक का कार्य दूसरे के सहयोग से चलता है। इसीलिए सस्कृत के एक वाक्य मे कहा गया है—

"जीवो जीवस्य जीवनं।"

अर्थात् एक जीव का जीवन दूसरे जीव पर अवलबित है।

किन्तु इस वाक्य का अर्थ अनेक लोग बडा भयकर और उलटा लगाते हैं। वे कहते हैं—जीव जीव का जीवन है, इससे तात्पर्य है दूसरे जीव का भक्षण करके जीवन को टिकाया जाय।

उनकी युक्ति है—सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि बलवान जन्तु निर्बल को खा लेता है। जैसे मच्छर को मक्खी खा लेती है और मक्खी को मेढक खाता है। मेढक को सर्प खा जाता है और उसी प्रकार सर्प को नेवला। छोटी मछली को बडी मछली खाती है बडी मछली को मगर। ऐसी स्थिति मे मनुष्य जो समस्त प्राणियो से बलवान है, अत वह दूसरे सभी प्राणियो को खाने का अधिकारी है। और यही 'जीवो जीवस्य जीवन' का अर्थ है।

किन्तु उनकी युक्ति महाअज्ञान और भ्रम मे परिपूर्ण है। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य बुद्धि और विवेक से विभूषित प्राणी है तथा पशु-पक्षी एव कीट-पतग आदि अन्य समस्त जीव जन्तु बुद्धि हीन हैं। अतएव उसे बुद्धिहीन

जीवो का अनुकरण न करके अपने निर्मल विवेक और बुद्धि का ही अनुसरण करना चाहिए। अगर मनुष्य अपने से प्रत्येक निर्बल प्राणी और मनुष्य की हत्या करने लग जाय तो क्या सृष्टि का क्रम ही नही विगड जायगा ? मनुष्य को मनुष्य वनकर रहना है या पशु वनकर ? स्पष्ट है कि मनुष्य को मनुष्य वनकर रहना है न कि पशु वनकर।

जीव जीव का जीवन है इसका सही अर्थ यह है कि जीव जीव का सहायक है, सहारा है। उसे अन्य जीव का जीवन रखना है उसका नाश नही करना। इस अभिप्राय को लेकर जीव को जीव का जीवन कहा है, यह नही कहा गया है कि जीव जीव की मृत्यु है, मौत है। जीवन का अर्थ भक्षण नही है अन्यथा 'जीवो जीवस्य भक्षण' ही कहा जाता। ससार का कोई भी धर्म इस वात का समर्थन नही करता कि मानव किसी भी अन्य प्राणी का घात करे और अपना जीवन रखने के लिए उसे खा जाए। एक फारसी के कवि ने तो यहाँ तक कहा है —

> **हजार गजे कनायत, हजार गजे करम।**
> **हजार इताअत शवहा, हजार वेदारी॥**
> **हजार सिजदाव हर सिजदा हर हजार नमाज।**
> **कवूल नेस्त गर खातरे वयाजारी॥**

अर्थात्—चाहे मनुष्य अत्यन्त धैर्य वान हो, प्रतिदिन हजार खजाने दान करता हो और हजारो रात्रिया केवल ईश भक्ति मे व्यतीत करता हो और हजारो सिजदे अर्थात् प्रणाम करता हुआ एक-एक सिजदे के साथ हजार-हजार नमाज पढता हो, फिर भी उसकी समस्त शुभ-क्रियाएँ व्यर्थ चली जाएँगी, अगर वह किसी भी अन्य प्राणी को तनिक भी कष्ट देगा।

वन्धुओ ! आप समझ गये होगे कि किसी भी अन्य प्राणी को तनिक सा कष्ट देना भी जव गर्हित कार्य है तो फिर किसी का वध करना और उससे अपने जीवन को टिकाने का प्रयत्न करना तो कितना भयकर फल प्रदान करने वाला होगा। क्या ऐसा करने वाला व्यक्ति कभी अपनी मुक्ति की अभिलाषा को पूर्ण कर सकता है ? कभी नही।

इसलिये हमे तथा प्रत्येक मानव को शास्त्र की वाणी पर तथा सत-महापुरुषो के मार्ग-दर्शन पर विश्वास करते हुए अपने जीवन को निर्मल वनाने का प्रयत्न करना चाहिए। हम जो सोचते हैं और करते हैं, वही सत्य है ऐसा कदाग्रह करना विनाश को निमत्रण देना है। भारत भूषण शतावधानी

श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने अपने भावना-शतक के एक श्लोक मे कहा है —

मम सत्य मम सत्यं, वदन्ति सर्वे दुराग्रहा विष्टाः।
नैतद् वचसा मुह्येत्, किन्तु परीक्षा बुद्धिमता कार्या ॥

अर्थात्—मेरा कथन सत्य है, मेरा कथन सत्य है, ऐसा केवल दुराग्रही व्यक्ति ही कहते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति अपनी जवान से ऐसा नही कहते वरन् अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही किसी कार्य को करते हैं।

यही ठीक भी है। अज्ञानी जहाँ मेरा है वह सही है, यह कहता है, वहा ज्ञानी कहता है सच्चा है वह मेरा है। शब्दो में थोडा सा ही हेर-फेर है किन्तु उसके मूल मे कितना फर्क है? मेरा सो सच्चा कहने मे आग्रह और अहकार झलकता है तथा सच्चा है सो मेरा कहने पर पक्षपात रहितता और हृदय की निर्मलता झलकती है। ऐसा व्यक्ति ही सत्य को ग्रहण कर सकता है तथा सद्गुणो को अपना सकता है और कालान्तर मे अपनी आत्मा को ससार से मुक्त करने मे सफल हो सकता है।

इसलिये मोक्ष के अभिलाषी व्यक्ति को सर्वप्रथम कदाग्रह छोडकर जहा से भी गुण मिलें, जहाँ से भी सच्चाई हासिल हो, उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा औरो से सहयोग लेते हुए अपना सहयोग औरो को प्रदान करना चाहिये। देव-ससार हो या मानव-ससार, दोनो स्थानो पर सहयोग की परम आवश्यकता है। सहयोग के अभाव मे कही भी काम नही चलता। प्रत्येक प्राणी को किसी न किसी का सहयोग अपेक्षित होता है। बिना किसी के सहयोग के वह अपनी जीवन-यात्रा को एक कदम भी नही बढा सकता। उदाहरण स्वरूप मनुष्य जिस मकान मे रहता है उस मकान के निर्माण मे उसे अनेक मजदूरो का सहयोग लेना पडता है। जिस वस्त्र को वह पहनता है उसके बनने मे भी कई व्यक्तियो का हाथ रहता है। तथा जिस अन्न को उदरस्थ करके वह अपना जीवन कायम रखता है वह अन्न भी अनेक किसानो के कठिन परिश्रम और सहयोग से उपजाया हुआ होता है।

कहने का आशय यही है कि मानव किसी अन्य की सहायता और सहारे के बिना अपने जीवन का निर्वाह नही कर सकता। उसे पग-पग पर अन्य व्यक्तियो के सहयोग की अपेक्षा रहती है। अगर वह यह विचार करे कि मुझे किसी भी अन्य प्राणी के सहारे की आवश्यकता नही है तो उसका यह कथन

और अपने आप की शक्ति का अहकार करना व्यर्थ तथा गलत है। जन्म से लेकर मृत्यु तक भी उसे औरो पर निर्भर रहना पडता है और इसीलिये "जीवो जीवस्य जीवन" यानी जीव जीव का जीवन है यह वात कही गई है। कोई भी जीव अन्य जीवो के सहयोग के विना अपना जीवन कायम नही रख सकता।

इस हाथ दे, उस हाथ ले !

यह एक मुहावरा है, जिसके द्वारा स्पष्ट होता है कि मनुष्य परस्पर सहयोग से रहे। ईर्ष्या, द्वेप, कटुता, वैमनस्य तथा पारस्परिक कलह का त्याग करके अपने जीवन को सुचारु रूप से चलाए। उसके लिये आवश्यक ही नही, वरन अनिवार्य है कि वह केवल औरो को ही अपना जीवन न वनाए, वरन स्वय भी औरो का जीवन बने। यह तभी हो सकता है जवकि वह अन्य प्राणियो के प्राण नाश का कारण न वनकर उनके जीवन को सुरक्षित रखने मे सहायक वने तथा वदले मे उनके सहयोग से अपने जीवन को कायम रखे तथा उसे सुरक्षित वनाए। तभी 'जीवो जीवस्य जीवन' का सही अर्थ समझकर उसे अमल मे लाना कहा जा सकता है।

अहंकार व्यर्थ है

कोई भी व्यक्ति अगर इस वात का गर्व करे कि मुझे किसी भी दूसरे की सहायता अपेक्षित नही है, मैं स्वय ही अपनी जीवन-यात्रा को सम्यक् रूप से चला सकता हूँ, तो उसका यह अहकार व्यर्थ है। वह अकेला अपना एक भी कार्य सम्यक् नही कर सकता। किसी कवि ने वडे मनोरजक उदाहरण से इस वात को स्पष्ट किया है। उसने कागज, स्याही, कलम, चाकू और हाथ का उदाहरण देते हुए कहा है कि—

> **कागज घमंड से आ बोला - आलम से मुहब्बत करता हूँ।**
> **सुलतान भी मेरी चाह करे, दिल मे अभिमान भी रखता हूँ॥**

कवि अन्योक्ति अलकार के द्वारा मनुष्य के अहकार की व्यर्थता वताता है और कागज का उदाहरण देते हुए कहता है कि कागज एक वार गर्व से भर कर वोला—"मैं समस्त ससार के लिये अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य वस्तु हूँ। प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति से प्रेम रखता हूँ और उसके काम आता हू। यहाँ तक कि वडे-वडे राजा-महाराजा भी मेरी चाह रखते हैं, क्योकि मेरे विना उनका एक दिन भी काम नही चलता। अगर मैं न होऊँ

तो उनका सारा राज्य-कार्य अव्यवस्थित और उलझन भरा हो जाय। वे किस पर अपने लम्बे-चौटे हिसाबो को लिखें ?

मम सत्य—यानी मैं जो कुछ कहता हूँ एकमात्र सत्य है, कागज के इस दुराग्रह को देखकर स्याही उबल पडी और—

कहे रोशनाई जोश मे आकर, नाहक तू पत्र उछलता है।
जब तक नहीं मेरे अक पड़े, तब तक कुछ काम न चलता है॥

रोशनाई अर्थात् स्याही क्रोधित होकर बोली—

"अरे पत्र ! तू नाहक ही घमड मे आकर उछल-कूद मचा रहा है। आखिर तू एक कोरा कागज है और तेरी कीमत ही क्या है जब तक कि मेरे द्वारा तुझ पर कुछ अकित न किया जाय।"

वास्तव मे ही जब तक अक नही पडे कोरे कागज की क्या कीमत हो सकती है ? दो-चार पैसे मात्र ही तो। किन्तु उसी कागज पर जब स्याही से अक आ छप जाता है तो वह नोटों के रूप मे आकर सैकडो हजारो रुपयो की कीमत का बन जाता है। स्याही के द्वारा ही अक डालने और हस्ताक्षर कर देने पर वह हुण्डी बनता है और सैकडो-हजारो रुपयो के वारे-न्यारे करता है।

तो रोशनाई कहती है—"कीमत केवल मेरी है। मेरे अभाव मे तुम्हारा कोई मूल्य नही है।" परिणाम स्वरूप कागज और स्याही दोनो मे इसी बात पर झगडा हो गया। फल यह हुआ कि इस वाद-विवाद के कारण लेखनी की भी तन्द्रा टूट गई और उसे भी अपने महत्व का ध्यान आया तथा —

दोनो की बातें सुन करके, लेखनी एकदम बोल उठी।
मेरा मान सरकार करे, दोनो की पोल मैं खोल उठी॥

क्या कहती है कलम ? यही कि—"तुम दोनो क्या व्यर्थ की डीगे हाँक रहे हो ? भले ही तुम दोनों चिरकाल तक क्यो न विद्यमान रहो ? अगर मेरे द्वारा कुछ अकित नही किया जाएगा, कुछ लिखा नही जाएगा तो तुम्हारा रहना किस काम आएगा ? मुख्य चीज तो मैं हू, जिससे तुम्हारा महत्व बढता है।"

अब चाकू जो पास ही मे पड़ा था, वह क्यो चुप रहता ? देखिये—

लेखनी से चाकू यों बोला, जब तक न चलेगी धार मेरी।
तब तक न तुम्हारी कीमत है, रही बात श्रेष्ठ हर बार मेरी॥

मनुष्य लेखनी को हाथ मे लेने से पहले चाकू हाथ मे उठाएगा और उमसे लेखनी को छील-छालकर तव स्याही मे डुवोता हुआ कागज पर कुछ लिख सकेगा। अत चाकू लेखनी से कहता है—"तू किस बात का गर्व कर रही है ? मेरे विना तू कव कुछ लिखे जाने के योग्य बनती है ? मैं तुझे ठीक करूँगा तभी तो तेरी कुछ करामात कागज पर दिखाई देगी।"

लीजिये साहव ! अव कागज, रोशनाई, लेखनी और चाकू, चारो मे झगडा हो गया। और इस झगडे से परेशान होकर हाथ ने अपनी समझदारी से इस वाद-विवाद का अत करने का प्रयत्न किया .

सबकी सुनकर पंजा बोला—मेरे बिन काम न चलने का।
बस फक्त एक ही व्यक्ति से हर्गिज कुछ काम न बनने का॥

चारो की वात सुनकर हाथ के पजे ने कहा—"देखो ! तुम चारो अगर अपने-अपने महत्व का घमड करते हो, तव तो यह समझ लो कि मेरे विना तुम सवकी एक कोडी के वरावर भी कीमत नही है। क्योकि जव तक मैं तुम सबका उपयोग नही करूँगा, तुम सव कुछ भी नही कर पाओगे व्यर्थ ही पडे रहोगे। किन्तु मैं एक वात और भी तुम्हे वताता हू और वह यह है कि 'ससार मे केवल एक ही वस्तु से कोई कार्य सिद्ध नही होता। अनेक वस्तुओ के मेल और सहयोग से ही प्रत्येक काम वनता है। महत्व सभी वस्तुओ का होता है, कोई भी व्यर्थ नही होती। किन्तु कोई भी कार्य सम्पन्न तभी होता है जबकि सब चीजो का समान सहयोग और परिश्रम हो।"

कितनी सुन्दर और यथार्थ वात है। हमे इस सत्य को ग्रहण करके साबित करना चाहिये कि 'जो सच्चा है वह मेरा है।' यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

तीर्थों का बल

आज हमारे समाज मे साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका चारो तीर्थ विद्यमान हैं। चारो ही महान् शक्ति से विभूषित हैं। किसी का भी कार्य एक दूसरे के बिना नही चलता। अगर श्रावक-श्राविका न हो तो साधु-साध्वी आहार-वस्त्र किससे ग्रहण करके अपनी साधना को निरापद रीति से आगे वढाएँ, ? और अगर साधु-साध्वी तथा सत-महात्मा न हो तो श्रावक-श्राविकाएँ किससे मार्ग-दर्शन प्राप्त करके अपनी आत्मा को उस कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करें ? जो उन्हे मुक्ति की ओर ले जाता है ?

ये चारो तीर्थ एक ही समाज के भिन्न भिन्न अग हैं जो परस्पर सहयोग

के द्वारा समाज को उन्नत बनाते हैं तथा उसका गौरव बढाते हैं। अगर इनमे से एक भी अपने आपको अलग और सर्वशक्तिमान समझने लगे तो क्या होगा ? यही कि वह स्वय अपूर्ण रह जाएगा और समाज की शक्ति का भी ह्रास करेगा। दूसरे शब्दो मे दोनो की हानि होगी और जिस जैनत्व को दोनो ही चमकाना चाहते हैं, वह निस्तेज होकर रह जाएगा। प्राचीनकाल मे जैनत्व का डका सारे ससार मे क्यो बज रहा था ? इसीलिये कि उस समय हमारे चारो तीर्थ अपने सामूहिक बल के द्वारा उसका प्रचार और प्रसार करते रहे थे। किन्तु आज जैनत्व का प्रवाह भिन्न भिन्न सप्रदायो और वर्गों मे उलझकर अवरुद्ध-सा हो रहा है। लोग अपना समय उसको प्रकाशित करने मे न लगाकर आपसी मतभेदो को बढाने मे और एक-दूसरे पर व्यर्थ छीटाकसी करने मे नष्ट कर रहे हैं।

वे भूल रहे हैं कि हमारा सबका लक्ष्य केवल आत्मा को ससार-मुक्त करना है और प्रत्येक ज्ञानी पुरुष चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय और किसी भी वर्ग का क्यो न हो, हमारा मित्र और सहयोगी है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है —

"Life has no blessing like a hrudent friend."

ज्ञानी मित्र के सदृश जीवन मे कोई वरदान नही है।

—यूरीपिडीज

वास्तव मे ही सच्चा ज्ञानी आपसी वैमनस्य और अह से ऊपर उठकर सर्वधर्म समभाव को अपना लेता है तथा प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा का दर्शन करता है। ईर्ष्या, द्वेष तथा पारस्परिक कलह आदि सासारिक दुर्गुण जो कि आत्मा को कलुषित बनाते हैं उनसे परे रहकर वह केवल यही ध्यान रखता है कि आत्मा किस प्रकार कर्मों के भार से हलकी हो। और यह तभी हो सकता है जबकि प्राणी सम्यक् ज्ञान की ज्योति अपनी आत्मा मे जलाए और उसके प्रकाश मे कल्याणकारी पथ पर चले। गीता मे ज्ञान का महत्व बताते हुए कहा गया है —

'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।'

ज्ञान के समान इस ससार मे और कुछ पवित्र नही है।

तो मैं बता यह रहा था कि व्यक्ति को अपने विवेक बुद्धि और ज्ञान का सही उपयोग करते हुए ससार की वास्तविकता को समझना चाहिये तथा जीवन की क्षणभगुरता का ज्ञान करके उसे सार्थक बनाने के प्रयत्न मे लग जाना चाहिये। ईर्ष्या, द्वेष, झूठ और अहकार आदि मनुष्य के जीवन में विष

घोलते हैं, तथा उसे मार्ग-भ्रष्ट करके अधोगति की ओर अग्रसर कर देते हैं। इसीलिये कवि ने कागज, रोशनाई, कलम, चाकू और हाथ का उदाहरण देते हुए मानव को इन दुर्गुणो से बचने की शिक्षा दी है। कहा भी है —

"भूतेषु बद्ध वैरस्य न मन शान्तिमृच्छति।"

अर्थात्—प्राणियो पर वैर-भाव रखने वाले का मन कभी शाति का अनुभव नही किया करता।

जो व्यक्ति इस बात को समझ लेता है वह दूसरे का अहित करना तो दूर अपने अपकारी का भी उपकार करता है। एक उदाहरण है—

क्या मै वृक्ष से भी गया बीता हूँ ?

कहते हैं कि एक बार पजाबकेसरी महाराणा रणजीतसिंह अपने अगरक्षको के साथ कही जा रहे थे। अकस्मात् मिट्टी का एक ढेला किसी ओर से आकर उनके मस्तक मे बडे जोर से लगा।

यह देखते ही उनके अनुचर ढेला फेंकने वाले की खोज मे दौडे और एक बुढिया को महाराज के समक्ष पकडकर ले आए।

उसने अपना अपराध स्वीकार किया पर हाथ जोडकर महाराज से बोली—"हुजूर, मैं और मेरा बच्चा तीन दिन से भूखे थे। कुछ भी खाने को नही मिला था। बच्चे की भूख से व्याकुल होकर मैं किसी खाद्य वस्तु की खोज मे इधर-उधर भटक रही थी कि समीप के इस आम के पेड पर मेरी नजर पडी। पके हुए आम को देखकर मैंने सोचा – एक आम गिरालूँ तो बच्चे की भूख कुछ शात हो जाय।" इसीलिये मैंने एक ढेला वृक्ष की ओर फेका था। दुर्भाग्य से वह वृक्ष पर पके हुए फल मे न लगकर आपको लग गया। मैं निर्दोष हू सरकार ! ढेला मैंने आपको मारने के लिये नही फेंका था। मुझे क्षमा कीजिये।"

बुढिया की बात महाराज रणजीतसिंह ने बडे ध्यान मे सुनी और अपने सेवको से बोले—"खजाने से एक हजार रुपये और आज खाने के लिये तैयार खाना एक थाल मे रखकर इस माता के घर पहुचा दो।"

महाराज के अगरक्षक चकित होकर बोले– "हुजूर, यह क्या आज्ञा फरमा रहे है ? इस बुढिया ने आपको ढेला मारकर बडा भारी अपराध किया है। उसके लिये दड देने की बजाय आप पुरस्कार दिलवा रहे हैं ?"

रणजीतसिंह ने अत्यत गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—"जब यह बुद्धिहीन

वृक्ष भी ढेला मारने पर पका फल प्रदान करता है, तब मैं बुद्धि को रखने वाला प्राणी होकर भी ढेला मारने वाले को दण्ड दूँ ? क्या मैं इस बुद्धिहीन वृक्ष से भी गया बीता हू ?"

कहने का अभिप्राय यही है कि सज्जन पुरुष तो अपने अपकारी का भी अपकार नहीं करते,उसके प्रति भी वैर-भाव नही रखते, फिर वे अपनी विद्या, बुद्धि, बल के गर्व मे चूर होकर किसी से ईर्ष्या-द्वेष आदि रखते हुए उसका अपकार करेंगे ही क्यो ?

शत्रुता कभी मरती नहीं

आप जानते ही होगे कि मित्रता और शत्रुता इस मानव देह के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नही होती। जन्म-जन्मान्तर तक बनी रहती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष वैर-विरोध की भावनाओं को अपने समीप नही फटकने देते तथा उससे कोसो दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। उनका प्रयत्न सबसे मिलकर चलना और अपना सहयोग औरो को देते हुए उनसे भी बदले मे यही प्राप्त करना होता है।

जीने जीने मे अन्तर

यह जीवन एक यात्रा है,जिसे प्रत्येक प्राणी सम्पन्न करता है। किन्तु सभी के चलने मे बडा भारी अन्तर होता है। कुछ यात्री ऐसे होते हैं जो अपना मार्ग लडते-झगडते तथा कटुता और वैमनस्य बढाते हुए तय करते हैं, तथा कुछ ऐसे होते हैं जो कि सद्भावना और सहानुभूति के द्वारा अपने से अशक्त प्राणियो को सहारा देते हुए, तथा गिरते हुओ को उठाते हुए संतोष और शांतिपूर्वक अपनी मजिल की ओर बढते हैं।

ध्यान देने की बात है कि दोनो प्रकार के यात्री इस जीवन-यात्रा को सम्पूर्ण अवश्य करते हैं, क्योकि उन्हे ऐसा करना अनिवार्य होता है। किन्तु कटु-भाषी, कलहप्रिय और दुर्जन व्यक्ति जहाँ अपनी सम्पूर्ण यात्रा कषायो के तीव्र उद्रेक सहित अशांति और असंतोष से बिताते हुए कर्म-बन्धनो के कारण निम्न गति की ओर प्रस्थान करते हैं, वहाँ सज्जन व्यक्ति मैत्री और सहयोग का आदान-प्रदान करते हुए अत्यत शांति और संतोष सहित कर्मो का भार हलका करते हुए आत्मा को ऊँची उठाते हैं तथा अपने पुण्य कर्मो के संचय के फलस्वरूप शुभ-गति को प्राप्त करते हैं।

कितना अन्तर है दोनो प्रकार के यात्रियो मे ? दोनो ही चलते हैं किन्तु एक उसी पथपर चलकर नरक और निगोद मे जा पहुँचता है, और

दूसरा उसी मार्ग पर चलता हुआ स्वर्ग मोक्ष तक भी पहुँच जाता है। इसका कारण केवल यही है कि एक अन्य प्राणियो से असहयोग करता हुआ वैर-विरोध, कटुता और वैमनस्य के कारण नाना प्रकार के कर्मों का बधन कर लेता है जो उसे निचाई की ओर ले जाते हैं तथा दूसरा व्यक्ति सभी को सहयोग देता हुआ और उनसे सहयोग लेता हुआ अपनी आत्मा को कषायादि अवगुणो से परे रखता है तथा अपनी निर्मल भावनाओ के कारण पुण्य-सचय कर लेता है जो उसकी आत्मा को ऊँचा उठाते हैं।

इसलिए बन्धुओ, हमे मानव के रूप मे सर्व प्रथम मानवता को अपनाना है, जिसका चरण है मित्रता और सहयोग की भावना रखना तथा सबसे हिल-मिल कर चलना। जो व्यक्ति मानवता के इस प्रथम पाठ को सम्यक् रूप से पढ और समझ लेता है, वह अपने हृदय को सद्गुणो का भडार बनाने मे समर्थ हो जाता है।

आपके मन मे जिज्ञासा होगी कि ऐसा क्यो ? इसका कारण यही है कि अन्य व्यक्तियो के प्रति स्नेह और और सद्भावना रखने वाला व्यक्ति उनके दुर्गुणो की ओर दृष्टिपात नही करता, वरन सद्गुणो की सराहना करता हुआ उन्हें अपनाने का प्रयत्न करता है। किन्तु दुर्जन व्यक्ति उन्ही व्यक्तियो मे दुर्गुण खोजकर उनकी निन्दा, उपहास और अप्रशसा करता हुआ अपनी आत्मा को भी मलिन बना लेता है। यथा—एक बालक है, उसकी अपनी मा बच्चे मे रहे हुए अवगुणो को प्रेम-पूर्वक दूर करती हुई उसके गुणो की प्रशसा और सराहना करते हुए अपने हृदय मे अन्य बालको के प्रति भी वात्सल्य भाव को पैदा करती है तथा क्रोध और कषाय को पनपने नही देती। किन्तु अगर उसके मर जाने पर उसी बालक की सौतेली मा आ जाती है, तो वह उस बच्चे के एक भी गुण की ओर दृष्टि नही डालती। उलटे अवगुणो को खोज-खोजकर अपने आप मे क्रोध, कषाय, कपट तथा ईर्ष्या आदि के भावों को आमन्त्रित करती है। जरा विचार कीजिए कि बालक वही है पर उसके निमित्त से एक माता किस प्रकार अपने हृदय मे वात्सल्य का झरना प्रवाहित कर लेती है और दूसरी कषाय का तीव्र स्रोत।

मेरे कहने का अभिप्राय यही कि ससार वही है और ससार मे रहने वाले प्राणी भी वही हैं। किन्तु दुर्जन व्यक्ति जहाँ इनके सयोग से अपने हृदय की निकृष्टता के कारण आत्मा को अधिकाधिक बोझिल बनाता है वहा सज्जन पुरुष इन्ही के सहयोग से अधिकाधिक गुणो का चयन करता हुआ आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ता है।

गुण-ग्रहण की कला

गुणो को ग्रहण करना आसान कार्य नही है उसके लिये बडे त्याग और परिश्रम की आवश्यकता होती है। किसान जिस प्रकार अन्न की फसल को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम भूमि की शुद्धि करता है और फिर उसमे वीज वो देने पर भी रात-दिन सजग रहकर उनकी सुरक्षा वडी सावधानी और परिश्रम से करने के वाद ही अन्न को प्राप्त करता है। उसी प्रकार मनुष्य को गुणग्रहण करने के लिए कठिन साधना करनी पडती है।

किसान के समान ही उसे सर्वप्रथम अपने हृदय की भूमि को कषायादि के कचरे से रहित वनाकर सरलता रूपी खाद से गुण-रूपी फसल के उपजने योग्य वनाना पडता है। और तव उस शुद्ध हृदय मे सद्गुणो के अकुर डाल कर अत्यन्त सावधानी से उनकी रक्षा करनी पडती है। अगर ऐसा न किया जाय तो एक वार सद्गुणो को अपना लेने पर भी कुसगति से पुन उनके नष्ट हो जाने की सभावना रहती है। कहा भी है —

रहिमन उजली प्रकृति को, नहीं नीच का संग।
करिया वासन कर गहे, करिखा लागत अंग॥

कहते हैं—उजली प्रकृति वाले व्यक्ति को अर्थात् निष्पाप हृदय रखने वाले व्यक्ति को भी कलुषित हृदय वाले व्यक्तियो के साथ नही रहना चाहिये। अन्यथा साफ हाथ से कालौंच लगा हुआ वर्तन उठाने पर जिस प्रकार हाथ मे कालापन लगे विना नही रहता, उसी प्रकार दुर्गुणियो की सगति करने पर उनके दुर्गुण भी आए विना नही रहते।

एक श्लोक मे भी यही वात वताई गई है—

गुणागुणज्ञेषु गुणा भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोया प्रभवन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेया.॥

गुणज्ञो के पास गुण ही गुण होते हैं, किन्तु वे ही निर्गुणियो के पास रह कर दोषो मे वदल जाते हैं। जैसे नदियाँ स्वभावत. मधुर जल वाली होती हैं, किन्तु समुद्र के साथ मिल जाने से उनका जल भी खारा हो जाता है।

इसलिये मनुष्य को गुण ग्रहण करने के पश्चात् भी उन्हें सुरक्षित रखने के लिये पूर्ण सावधानी वरतनी चाहिये। अन्यथा वे सभी सद्गुण जो उसमे वडी

कठिनाई से उपलब्ध हुए है पुन लोप हो जाएँगे। अत आवश्यक है कि वह दुर्जनो की अथवा निर्गुणियो की सगति से बचता रहे।

तो मैं आपको बताने यह जा रहा था कि गुणग्रहण करने की कला कौनसी है ? जो व्यक्ति अपने हृदय मे सद्गुणो का सचय करने की अभिलाषा रखता है, उसे सर्व प्रथम गुण जहा भी प्राप्त हो, वहा से लेने का प्रयत्न करना चाहिये। गुण-प्राप्ति के लिये उसे धनी-निर्धन और शत्रु के भेदभाव को छोड देना चाहिये।

सस्कृत मे एक स्थान पर कहा गया है —

शत्रोरपि गुणावाच्याः

अपने कट्टर शत्रु मे भी अगर सद्गुण दिखाई दे, तो व्यक्ति को उसकी प्रशसा करनी चाहिये।

कहती क्या हो ?

कहा जाता है कि रावण जब नाना प्रकार के प्रयत्न करने पर भी सीता को अपनाने मे असफल हो गया तो उसकी महारानी मदोदरी ने पति की व्यग्रता से व्यथित होकर उसे सलाह दी— "अगर तुम्हें सीता को अपनी रानी बनाने की इतनी तीव्र इच्छा है तो उसके पास तुम राम का रूप धारण करके क्यो नही जाते ?"

"कहती क्या हो ?" रावण तमककर बोला। वह कहने लगा—"राम का पवित्र रूप धारण करके क्या मैं इन्द्रिय भोगो मे लिप्त हो सकता हूँ ? उनके दिव्य स्वरूप का ध्यान करके तो मैं ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द से ओत-प्रोत से जाता हू कि मुझे वैकुण्ठ भी तुच्छ दिखाई देने लगता है।"

कितनी सुन्दर भावना थी। राम को अपना कट्टर शत्रु मानने पर भी रावण ने उनके गुणो की किस प्रकार निष्कपटता से सराहना की ? यद्यपि पूर्वकृत भयकर और घोर कर्मों का भुगतान बाकी होने के कारण वह अपने आपको बदल नही सका। किन्तु उसने राम की महानता की सराहना करके अपने हृदय की निर्मलता का परिचय अवश्य दिया।

इसी प्रकार जो व्यक्ति शुद्ध हृदय से जिस किसी मे भी सद्गुण दिखाई देते हैं, उनकी प्रशसा और सराहना करता है तो निश्चय कभी न कभी उन्हे अपनाने मे सफल हो जाता है। नाली मे पडे हुए सोने के सिक्के को जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति बिना दुर्गन्ध की परवाह किये निकाल लेने का यत्न

करता है, उसी प्रकार गुणाग्राही पुरुष गुणो को प्रत्येक स्थान से प्राप्त करने की कोशिश करता है चाहे वह नीच से नीच व्यक्ति मे ही क्यो न हो।

गुणग्राही व्यक्ति की सबसे बडी विशेषता यही होती है कि वह किसी को भी हीन नही समझता। तथा किसी को भी नफरत की निगाह से नही देखता। वह 'आत्मवत सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को मानता हुआ अपनी आत्मा के समान ही सभी की आत्माओ को मानता है। उस व्यक्ति के द्वारा किसी भी व्यक्ति का कभी अहित नही होता क्योकि वह सभी से मित्रता रखता है और सभी को भरसक सहयोग देता है। गुणाग्रही व्यक्ति की प्रवृत्ति सभी से मिलकर चलने की तथा संगठित होकर अपनी जाति, समाज, और देश का गौरव बढाने की होती है।

जान डिकिन्सन नामक एक विद्वान ने कहा है —

"By uniting we stand, by dividing we fall"

सगठन मे हमारा अस्तित्व कायम रहता है और विभाजन मे हमारा पतन होता है।

वस्तुत सगठन के द्वारा बडे-बडे कार्य भी सरलतापूर्वक सम्पन्न कर लिये जाते हैं, जबकि फूट और भेद-भाव की भावना रखने पर छोटे-छोटे उद्देश्यो की भी पूर्ति नही हो पाती।

हितोपदेश मे बताया गया है—

अल्पानामपि वस्तूना सहति कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिन ॥

छोटी-छोटी वस्तुओ के सगठन से भी कार्य सिद्ध हो जाता है, जैसे घास की बटी हुई रस्सियो से मतवाले हाथी बांध लिये जाते हैं।

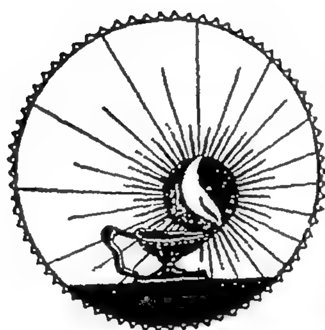
अग्रेजी भाषा मे एक कहावत भी है—

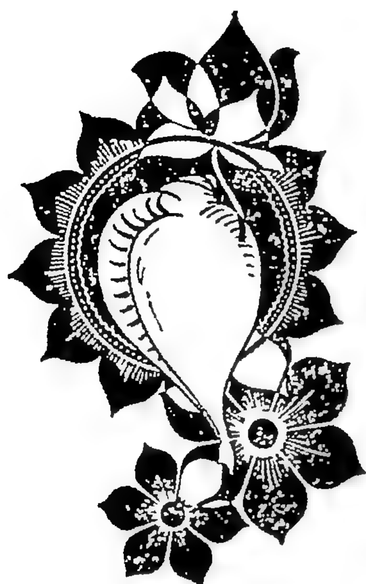
Union is Strength — सगठन ही शक्ति है।

तो बधुओ ! मेरे आज के कथन का सारांश आप समझ गए होंगे। वह यही है कि अगर मनुष्य अपने इस दुर्लभ मानवजन्म को सार्थक बनाना चाहता है तो उसे अपनी दृष्टि को दोष-दृष्टि न बनाकर गुण-दृष्टि बनानी चाहिये ताकि उसका हृदय सरलतापूर्वक सद्गुणो का सचय कर सके। जब तक हृदय मे सद्गुणो का आविर्भाव नही होगा, उसका विवेक और ज्ञान जागृत नहीं हो सकेगा तथा इनके अभाव मे वह नही जान पाएगा कि आत्मा के लिये

कल्याणकारी मार्ग कौनसा है ? और किस मार्ग पर चलकर वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि यह जीवन एक महायात्रा है। इसे सम्पन्न करने के लिये किसी न किसी के सहारे की, सहयोग की आवश्यकता है। और ये तभी मिल सकते हैं, जबकि मनुष्य किसी भी अन्य व्यक्ति के प्रति वैर-विरोध और भेद-भाव की भावना न रखे तथा सबसे हिल-मिल कर चले। मित्रता और सहयोग के आदान-प्रदान से ही वह इस कठिन यात्रा को सरल बनाता हुआ अपनी मंजिल को प्राप्ति कर सकता है तथा "जीवो जीवस्य जीवन" की सत्यता को सिद्ध कर सकता है।





१४

लाख रुपये का आदमी . . .

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एव बहनो !

अनादिकाल से इस ससार मे जन्म और मरण का प्रवाह चला आ रहा है। जन्म लेना और मरना, मरना और फिर जन्म लेना इस परम्परा को नष्ट करने के लिए अवतारी पुरुषो ने स्वय अथक प्रयत्न किया है और अन्य प्राणियो को भी वह रास्ता सुझाया है। जिस पर चलकर हम भी अपने जन्म-मरण के इस जाल से मुक्त हो सकते हैं।

'ठाणाग सूत्र' के दूसरे ठाणे मे भगवान महावीर प्रभु ने स्पष्ट बताया है कि अगर प्राणी को अपने जन्म-मरण की इस दुखदायी शृ खला को तोडना है तो उसे दो बाते अपनानी चाहिए। वे दो बाते हैं—

विज्जाए चेव, चरणेण चेव।

प्रथम विद्या का ज्ञान और दूसरी चारित्र या क्रिया।

इन दोनो का सम्यक् सुमेल जन्म-मरण के चक्र को नष्ट कर सकता है और चिरकाल से चली आ रही इस परम्परा को समाप्त कर सकता है इनके अभाव मे मानव कभी भी अपनी मोक्ष-प्राप्ति की कामना को फलीभूत नही बना सकता।

ज्ञान मन पावनम्

ज्ञान मन के समस्त विकारो को नष्ट करके उसे शुद्ध और पवित्र बनाता है ज्ञान अर्जित करना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। ध्यान मे रखने की बात है कि ज्ञान मानव मे स्वत विद्यमान है, और वह इसे अपने अन्दर से ही खोज कर निकालता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर मे ज्ञान का असीम कोष होता है, किन्तु अज्ञान और मिथ्यात्व का उस पर इतना भारी पर्दा पडा हुआ होता है कि पूर्ण प्रयत्न किये बिना उसका दर्शन नही हो पाता। सभी प्रकार के ज्ञान चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक। मनुष्य अन्त करण मे स्थित रहते हैं, केवल उन्हे जानने की पहचानने की आवश्यकता होती है। शिक्षक या गुरु तो सिर्फ मनुष्य को सकेत देते हैं, जिसे समझकर मनुष्य अपने अन्दर ही अध्ययन करता है और अपने आन्तरिक धन, ज्ञान को जानता और समझता है। किन्तु-बाह्य सकेत को पाकर भी अगर वह अपने अन्तरतम मे नही झाकता, उसमे खोज नही करता तो उसके ज्ञान पर पडा हुआ पर्दा सदा ही उस पर छाया रहता है। जिसके दिल और दिमाग पर से यह पर्दा हट जाता है वह ज्ञानी बन जाता है, और जिसके दिमाग पर से नही हटता, वह अज्ञानी बना रहता है। इस परदे का सम्पूर्ण रूप से हट जाना ही सर्वज्ञता कहलाती है।

आप जानते ही होगे कि ससार-प्रसिद्ध आकर्पण-शक्ति के सिद्धान्त को, न्यूटन ने खोजा था। किन्तु उस आकर्पण शक्ति को वह कही बाहर से लाया था क्या ? क्या उसे कही बाहर पडी हुई मिली थी ? नही,वह तो पृथ्वी के अन्दर ही थी। उसने केवल उसे जान लिया था। उसकी पहचान कर ली थी। उसने सेव को वृक्ष से नीचे गिरते हुए देखा। यह एक बाह्य सकेत था जिससे प्रेरित होकर उसने विचार करना प्रारम्भ किया कि कोई भी वस्तु फेंकी जाने पर, या गिरने पर पृथ्वी की ओर ही क्यो आती है ? ऊपर की तरफ क्यो नही जाती ? सोचते-सोचते स्वय उसके दिमाग मे ही आया कि पृथ्वी मे अकर्पण शक्ति है, और इसलिए प्रत्येक वस्तु इसकी ओर खिचती है, बस ? इसी प्रकार आकर्षण शक्ति के सिद्धात का जन्म हुआ। स्पष्ट है कि इस सिद्धात के ज्ञान को जो उसके अन्दर ही छिपा था, उसने जान लिया। बस इसी प्रकार जो व्यक्ति खोज करता है और पूरी लगन के साथ उसमे जुटा रहता है, वह ज्ञान के अपरिमित खजाने मे से कुछ न कुछ हासिल करता रहता है।

—अज्ञान का परदा हटे कैसे

प्रश्न है कि सच्चे ज्ञान और सत्य पर से अज्ञान का परदा किस प्रकार हटाया जाय ? दूसरे ज्ञान रूपी ताले को खोला कैसे जाय ? इसका एकमात्र उपाय और कु जी है एकाग्रता तथा आत्म-विश्वास ।

एकाग्रता का अद्‌भुत प्रभाव

मनुष्य चाहे धनी हो या निर्धन, उच्च जाति का हो या नीच जाति का तथा उच्च वर्ग का हो या निम्न वर्ग मे जन्म लिया हुआ । उसे ज्ञानार्जन करने के लिए और ज्ञान हासिल करने के लिए पूर्ण एकाग्रता की आवश्यकता होती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपनी सम्पूर्ण मन शक्तियो को एकाग्र करना पड़ेगा । एक हरिजन भी अगर एकाग्रचित से प्रयत्न करेगा तो अपने अन्दर विद्यमान ज्ञान के कोष को खोज निकाल लेगा ।

एकलव्य की कहानी आप मे से बहुतो ने पढी होगी। वह एक अति निर्धन और निम्न वर्ग का बालक था। उसकी इच्छा धनुर्विद्या प्राप्त करने की थी और इसीलिए वह आचार्य द्रोण के पास आया। किन्तु द्रोण ने इन्कार कर देने पर उसे निराश लौटना पडा। द्रोणाचार्य केवल क्षत्रियो को ही धनुर्विद्या अथवा अन्य प्रकार की शस्त्र-कला का ज्ञान कराया करते थे ।

द्रोणाचार्य ने भील बालक एक लव्य को शस्त्र-ज्ञान की शिक्षा देने से इन्कार कर दिया, किन्तु उसकी तीव्र लगन ने उसका साथ नही छोडा और उसके फलस्वरूप जगल मे ही उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाई और परम श्रद्धा-सहित उसे उच्च स्थान पर प्रस्थापित करने लगा ।

सच्ची लगन और एकाग्रता रखने वाले व्यक्ति कभी अपने प्रयत्न मे असफल नही होते । एकलव्य की जबर्दस्त एकाग्रचित्तता ने भी अपना-परिणाम दिखाना प्रारम्भ किया और ज्यो-ज्यो समय बीतता गया वह धनुर्विद्या मे पारगत होता गया ।

अत मे एक दिन ऐसा आया कि द्रोणाचार्य को भी विद्या को देखकर दाँतो तले अगुलि दबानी पडी । अपने अर्जुन आदि अनेक शिष्यो के साथ जब वे उस निर्जनवन मे आए तो उन्होंने एकलव्य का अद्‌भुत कौशल देखा और पूछा —"तुम्हे यह विद्या किसने सिखलाई ?"

एकलव्य श्रद्धा और भक्ति के आधिक्य सहित द्रोण के चरणो पर गिर पडा और बोला – "आपने ही सिखाई है गुरुदेव ! आपकी कृपा से ही मैंने थोड़ा बहुत ज्ञान हासिल किया है ।"

आचार्य समझ गये कि एकलव्य की लगन और एकाग्रचित्तता का ही यह परिणाम है। मुग्ध होकर वे कभी अपनी मिट्टी की मूर्ति की ओर देखते तथा कभी एकलव्य की ओर।

बधुओ, विनय, भक्ति और मुख्यत एकाग्रता का इतना महान उदाहरण जल्दी से मिल सकता है क्या ? श्रद्धा और भक्ति होने पर भी अगर एकलव्य मे अटूट एकाग्रता नही होती तो वह बिना गुरु की सहायता के ऐसी अद्वितीय कुशलता धनुर्विद्या मे प्राप्त कर सकता था क्या ? नही। स्पष्ट हो जाता है कि एकाग्रता ने ही उसे अपनी कामना मे सफल होने की शक्ति प्रदान की। इस उदाहरण मे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिना गुरुप्रदत्त बाह्यज्ञान के भी उसने अपनी एकाग्रता के कारण अपने अन्तर्निहित ज्ञान को खोल लिया और उसे प्राप्त कर लिया। इसी से हम जान सकते है कि जिसमे जितनी अधिक एकाग्रता शक्ति होगी, वह उतना ही अधिक ज्ञान अर्जित कर सकेगा। एकाग्रता ही एक ऐसी अद्‌भुत कुजी हैं जिसके द्वारा मनुष्य के ज्ञान रूपी खजाने पर लगे हुए अज्ञान के ताले खुले जाते है। यही ऐसा एकमात्र मार्ग है जिस पर चलकर वह अपने प्रत्येक प्रकार के उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है।

मुनि हरिकेशि ने श्वपाक (चडाल) कुल मे जन्म लिया था। किन्तु बचपन मे ही अपने उद्धत स्वभाव के कारण सभी से तिरस्कृत होकर उन्होने गृह-त्याग कर दिया और मन की प्रवृत्तियो को शुभ की ओर मोडकर एकाग्रता पूर्वक आत्म-साधना मे लग गए। परिणाम यह हुआ कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति करके समस्त कर्मों से आत्मा को मुक्त कर लिया। मनुष्य के मन की एकाग्रता या अस्थिरता ही बता देती है कि उसे अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त होगी या नही। कुछ भी है —

सिद्धि र्वा यदि वाऽसिद्धि चित्तोत्साहो निवेदयेत् ॥

—कार्य मे सफलता प्राप्त होगी अथवा असफलता मिलेगी, इसकी पूर्व सूचना चित्त मे पाये जाने वाले उत्साह या एकाग्रता से ही प्राप्त हो जाया करती है।

वस्तुत एकग्रता मनकी निराशा को दूर करती हुई-चिन्तन-शक्ति और अभ्यास को वलवान बनाती है तथा उसके द्वारा अनतज्ञान एव शक्ति के भडार की प्राप्ति होती है। मनुष्य-मनुष्य मे अन्तर एकाग्रता की कमी-वेशी से ही पडता है, उसके जन्म की उच्चता या निम्नता से नही। उच्चकुल मे जन्म लेने वाला भी चित्त की अस्थिरता के कारण अपने उद्देश्य मे असफल

हो जाता है, जबकि निम्न कुल मे पैदा हुआ व्यक्ति अपनी एकाग्रता के कारण प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति मे सफल होता है ।

यूनान के निवासियो ने अपनी एकाग्रता के कारण ही साहित्य और भिन्न-भिन्न कलाओ का ज्ञान प्राप्त किया तथा भारतवासियो ने आध्यात्मिक या आत्मिक ज्ञान को हासिल किया था । अस्थिरता और चपलता किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति मे रोडा बनती हैं ।

उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति चौराहे पर से किसी एक पथ पर रवाना होता है, किन्तु कुछ दूर जाकर लौट जाता है । तथा दूसरे मार्ग पर चल देता है । उस पर भी कुछ दूर जाकर पुन लौटता है और इसी प्रकार अन्य मार्गों के लिए भी करता है । तो बताइये ! वह किसी गाव या शहर मे पहुच सकेगा ? कभी नही । इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति मे अस्थिरता रखने वाला व्यक्ति कभी सम्यक् ज्ञान हासिल नही कर सकता ।

आत्मविश्वास एक महानशक्ति

ज्ञान प्राप्ति मे एकाग्रता के साथ-साथ आत्म-विश्वास का होना भी अनिवार्य है । दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो किसी प्रकार के ज्ञान को हासिल करने मे एकाग्रता तभी आती है जबकि आत्म-विश्वास होता है । आत्म-विश्वास के अभाव मे मन मे ऊहापोह बनी रहती है तथा करनी के फल मे सदेह और आशका की भावना बार-बार अपना मस्तक उठाती है, परिणाम यह होता है कि मनुष्य का उत्साह शिथिल हो जाता है तथा प्रयत्न की गति धीमी पड जाती है ।

विश्व के इतिहास मे आज तक जितने महापुरुष हुए हैं, वे इसीलिए महान बन सके हैं कि उनमे, अटूट आत्म-विश्वास था । विश्वास ही महान कृतियो का जनक है, योग्यता को बढाने वाला है, बलको द्विगुण करने वाला तथा समस्त मानसिक शक्तियो का पोषण करने वाला है ।

महात्मा टॉल्सटाय ने भी कहा है—

"Faith is the forse of life"

—विश्वास जीवन की शक्ति है ।

वास्तव मे, विश्वास मनुष्य को अपनी मजिल तक पहुचाने का मार्ग बताता है तथा समस्त बाधाओ से मुठभेड करने का साहस प्रदान करता हुआ उसे ईश्वर तक पहुँचाने मे भी पूर्णतया सफल होता है ।

महात्मा गाधी ने तो आत्म-विश्वास की महत्ता बताते हुए यहाँ तक कहा है—

"विश्वास तूफानी सागर मे हमको खेता है, पर्वतो को डिगा देता है, सागर लघा देता है। विश्वास एक कोमल पुष्प नही है जो साधारण वायु के झोके मे कुम्हला जाय। यह हिमाचल के सदृश अडिग है।"

हमारा धर्म बताता है कि ईश्वर मे विश्वास न करने वाला नास्तिक होता है किन्तु आज के महापुरुष इसी बात को दूसरे शब्दो मे कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने आप मे विश्वास नही करता वह नास्तिक है। दोनो ही बातें सत्य हैं और एक ही अर्थ को बताती हैं। इसलिए आत्माभिलापी व्यक्ति को पूर्ण एकाग्रता और आत्म-विश्वास के साथ ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अपने चिन्तन मे यही विचार करना चाहिए :—

ऐसी आत्मा हो बलवान मेरा मन कदे भी डोले ना।
निज पर हो ऐसा विश्वास, किसेदा आसरा टोले ना॥
रखे तेरे ते विश्वास, होवे कदे भी न निराश।
कभी बन्न सवरदा लाल किसे था जाके खोलेना ॥ऐसी॥

अपनी आत्म-शक्ति को इस प्रकार दृढ बनाने वाला तथा अपने आप पर इतना भरोसा रखने वाला व्यक्ति ही सर्वोत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है तथा नर से नारायण पद को पाने मे भी सफल हो सकता है।

माता के वचनों पर विश्वास

हजरत गौसुल एक महान सत हुए हैं। बचपन मे वे ज्ञान प्राप्ति के बडे इच्छुक थे। उस समय बगदाद शहर अनेक विद्याओ और कलाओ का केन्द्र था, अत बालक गौसुल ने अपनी माता से बगदाद जाने की आज्ञा मागी।

माता ने पुत्र के विद्या-प्रेम को देखकर बगदाद की ओर जाने वाले एक काफिले के साथ उसे जाने की इजाजत दे दी। साथ ही खर्च के लिए चालीस मोहरें उसने गौसुल के कुर्ते मे अन्दर की ओर सावधानी से सीकर रख दी तथा कहा—

बेटा! ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखना तथा सदा सत्य बोलना। अगर तुम ईश्वर को नही भूलोगे तो तुम्हारा कभी बाल भी बाका नही होगा।

गौसुल काफिले के साथ रवाना हो गए। पर दुर्भाग्य से डाकुओ के एक गिरोह ने काफिले को रास्ते मे लूट लिया। एक डाकू गौसुल के पास भी आया और पूछने लगा—"ऐ लड़के तेरे पास क्या है ?"

गौसुल को उसी समय मा की सीख याद आई और उसने ईश्वर को स्मरण करते हुए कहा—"मेरे पास चालीस अशर्फिया हैं ।" डाकू को लडके की वात पर विश्वास नही हुआ कि क्या कोई इतनी सरलता से अपने पास रहे हुए धन के विषय मे वता सकता है ! अत उसने दुवारा पूछा —"कहाँ हैं ?"

"कुरते मे अन्दर की तरफ सिली हुई है ।" पुन गौसुल ने सत्य वोला ।

डाकू भौचक्का सा होकर उसे अपने सरदार के पास ले आया और सारी वात वताई ।

डाकुओ के सरदार ने जव लडके के कथनानुसार चालीस अशर्फिया उसके कुरते मे सिली हुई पाई तो वह भी हैरत से वोला—"वडा अजीव लडका है तू ! तूने डाकुओ को भी अपना धन वता दिया जिसे अगर चाहता तो तू छिपाये रख सकता था ।"

हजरत गौसुल ने उत्तर दिया—"सरदार ! मेरी माता ने घर से चलते वक्त मुझे कहा था—'ईश्वर पर पूर्ण भरोसा रखना और सच वोलना ! इससे तेरा वाल भी वाका नहीं होगा । अपनी माता के वचनो पर विश्वास होने के कारण ही मैंने सच वात आपको वताई है ।"

डाकुओ के सरदार पर वालक की सत्यता और उसके अपनी माता और ईश्वर पर विश्वास का वडा असर हुआ । फलस्वरूप उसने गौसुल की अशर्फिया वापिस करदी तथा अपनी ओर से भी वहुत सा धन देकर उसे विदा किया । स्वय भी लूट-मार त्याग दी और नेक रास्ते पर चलने की प्रतिज्ञा की ।

यह विश्वास का ही फल था और ऐसा विश्वास होने पर ही मनुष्य अपने ध्येय की प्राप्ति कर सकता है । ज्ञान प्राप्त करना वडा पवित्र और उच्चतम उद्देश्य होता है अत उसके साधन भी उच्च होने आवश्यक हैं । झूठ, कपट, अविनय और अविश्वास जैसे हीन साधनो के द्वारा उच्च ध्येय की प्राप्ति हो भी कैसे सकती है ? इसलिये प्रत्येक ज्ञानार्थी को पूर्ण एकाग्रता और आत्म-विश्वास पूर्वक सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । 2

एक और जानने की वात है कि ज्ञान के पीछे 'सम्यक्' शब्द क्यो लगाया जाता है ? वह इसलिये कि वही ज्ञान मनुष्य को भव-भ्रमण से मुक्त कर सकता है जो सच्चा हो, उल्टा या मिथ्या ज्ञान इस कार्य मे कदापि सहायक नही हो पाता । आप कहेंगे—'यह कैसी वात है ? ज्ञान होते हुए भी वह गलत कैसे हो सकता है ?' पर ऐसा होता है । नदी के अन्दर

सीप होती है, उसे चाँदी कहना गलत ज्ञान है। सोने का और पीतल का रग एकसा होता है, अत सोने को पीतल समझना और पीतल को सोना मान लेना भी गलत ज्ञान है। गलत ज्ञान के कारण ही जैसा कि मैंने आपको बताया था 'जीवो जीवस्य जीवन' का लोगो ने कितना उलटा अर्थ लगाया ? जबकि इमका सही अर्थ जीव-जीव का जीवन अर्थात् सहायक और रक्षक है, अनेकानेक व्यक्तियो ने जीव को जीव का भक्षक है यह मान लिया। यही उलटा और मिथ्या ज्ञान कहलाता है। इसी को अंग्रेजी भाषा मे 'Rong knowledge' कहते हैं। ऐसा ज्ञान कभी भी आत्मा का तारक नही बन सकता, उसे भव-सागर मे डुबोने वाला साबित होता है।

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को सबसे पहले सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करना चाहिये और उसके पश्चात् उसे अपने चारित्र मे उतारना चाहिये। अगर ज्ञान को चारित्र मे नही लाया गया तो उसका प्राप्त करना न करना समान हो जाता है, तिजोरी मे ही सदा बन्द रहने वाले धन के समान। वह धन, जो व्यक्ति के न खाने और पहिनने के काम आता है और न ही उसकी वृद्धि के लिये पूँजी के रूप मे लगाया जाता है व्यर्थ ही साबित होता है। सदा ही तिजोरी मे पडा रहने वाला धन आखिर किस काम आया ?

इसी प्रकार ज्ञान भी अगर चारित्र को सुदृढ बनाने के काम न आया, उसकी सहायता से आत्म-साधना नही की गई तो उसका क्या उपयोग हुआ ? कुछ भी नही। तभी कहा गया है —

"ज्ञान भार क्रिया बिना।"

—हितोपदेश

सच्चारित्र के बिना ज्ञान केवल भारस्वरूप ही है।

आचार परमोधर्म

आचार अर्थात् चारित्र ही प्राणीमात्र के लिये उत्कृष्ट धर्म है। इसके अभाव मे जीवन सारहीन और व्यर्थ है। मनुष्य कितना भी ज्ञान क्यो न प्राप्त करले, विविध शास्त्रो मे क्यो न प्रवीण हो जाय तथा अनेकानेक मोटे-मोटे ग्रन्थो को भी कण्ठस्थ क्यो न करले पर अगर उसका चारित्र उत्तम नही है, हृदय मे विवेक नही है और उसकी सहायता के बिना कल्याण के मार्ग पर नही चलता तो उसका ज्ञानवान होना निरर्थक है। और इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने अगाध पांडित्य प्राप्त नही किया है, पर वह विवेकवान है, सहज और सत्चारित्र से जो विभूषित है तथा वीतराग की वाणी

पर अचल श्रद्धा रखता है, वह ज्ञानी की कोटि मे आकर अपने जीवन को सफल बना लेता है तथा मानव-जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करता है।

चारित्र का निर्माण :

प्रश्न उठता है कि चारित्र का निर्माण कैसे होता है और चारित्र क्या है ?

चारित्र वास्तव मे मनुष्य की भावनाओ और उसकी मन प्रवृत्तियो का एक सामूहिक रूप है। मन एक विशाल सागर के समान है, जिसमे शुभ और अशुभ भावनाओ की अगणित लहरें प्रतिपल उठा करती हैं तथा उठकर पुन बैठ जाती हैं। किन्तु वे पूर्णतया लुप्त नही हो जातीं, उनका कुछ न कुछ असर या उनकी कुछ न कुछ छाप मन पर अकित हो जाती है। यद्यपि वह असर प्रत्यक्ष मे दिखाई नही देता पर अप्रत्यक्ष रूप मे अपना कार्य अवश्य करता है। वह असर अगर अधिक मात्रा मे उत्तम होता है तो व्यक्ति का चरित्र उत्तम बनने लगता है और अगर अशुभ या हीन होता है तो चरित्र भी उसी के अनुसार निम्न कोटि का बन जाता है। दूसरे शब्दों मे यदि शुभ सस्कार मुख्य रहे तो व्यक्ति का चरित्र अच्छा बनता है और अशुभ सस्कार मुख्य रहे तो बुरा बन जाता है। स्पष्ट है कि मन मे निरतर उठने वाली लहरो का असर ही सस्कार कहलाता है, जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है।

मन मे निरतर कुछ न कुछ सस्कार इकट्ठे होते रहते हैं। उनका शुभ या अशुभ होना बाह्य वातावरण पर भी काफी मात्रा मे निर्भर होता है। जैसे कोई व्यक्ति असस्कारी कुल मे जन्म ले और प्रारम्भ से ही अपशब्द सुनता रहे तो वह बडा होने पर गन्दे विचारो मे घिरा रहता है तथा बुरे कामो मे प्रवृत्त होता है। और इसके विपरीत अगर कोई व्यक्ति ऐसे कुल मे जन्म ले, जिसमे अन्य सभी व्यक्ति सदाचारी, धर्मपरायण और सस्कारी हो, तो उनके चरित्र की छाप बालक के मन पर अप्रत्यक्ष रूप मे ही अकित होती जाती है तथा आगे जाकर वही उसे सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती है। उत्तम सस्कारो की प्रबलता होने पर अगर वह व्यक्ति बुरे कर्म करना भी चाहे तो उसकी अन्तरात्मा उसे ऐसा करने से रोक देती है।

किन्तु एकान्त रूप मे यह भी नहीं सोचना चाहिये कि अच्छे और सस्कारयुक्त वातावरण मे पला हुआ व्यक्ति बाद मे कभी बिगड नही सकता और बुरे वातावरण मे रहा हुआ व्यक्ति कभी सुधर नही पाता। सगति का असर भी बडा जबर्दस्त होता है। अच्छा व्यक्ति भी अगर कुसगति मे पड

जाय तो विगडता हुआ देखा जाता है, और बुरा व्यक्ति सत्सगति के कारण एकदम वदल कर सज्जन और यहाँ तक कि महापुरुष वन जाता है।

डाकू अगुलिमाल जो कि अत्यन्त निर्दयता से प्रतिदिन अनेक व्यक्तियो की अगुलियाँ काटकर उनकी माला गूथता और गले मे पहनता था, वह महात्मा वुद्ध की अल्प सगति से ही एकदम वदलकर वौद्ध-भिक्षु वन गया। अर्जुनमाली, जिसके सिर पर खून सवार था और इसी कारण वह प्रतिदिन छ प्राणियो की हत्या कर दिया करता था, सेठ सुदर्शन की कुछ मिनिटो की सगति से ही परिवर्तित होकर साधु वन गया और आत्म-कल्याण मे जुट गया। एक और भी ऐतिहासिक घटना है—

कहाँ मरना है ?

चित्तोड की महारानी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये अलाउद्दीन खिलजी कटिवद्ध हो गया। और इसके लिये उसने सर्वप्रथम रतनसिंह को धोखे से कैद करवा लिया।

यह देखकर चित्तौड के नवयुवको का खून खौल उठा और उन्होने महाराज रतनसिंह को छुडाने के लिये जाने का निश्चय किया। चित्तौड दुर्ग मे अधिक से अधिक व्यक्ति एकत्रित होने लगे।

इतिहास प्रसिद्ध वीर जयमल और पत्ता भी इसी उद्देश्य से चल पडे। किन्तु रास्ते मे चोरो की एक पल्ली पडी और पल्ली के सरदार ने उन्हे लूटने के लिये उनपर आक्रमण कर दिया। वीरवर पत्ता ने यह देखते ही आक्रमणकारियो का मुकावला करने के लिये अपने तरकश से तीर निकाल धनुष पर चढाया। पर धनुष की प्रत्यचा को उसने खीचा ही था कि एक विचार उसके मन मे आया और उसने पीछे मुडकर जयमल से साकेतिक शब्दो मे पूछा 'भाई! इत या उत ?

जयमल ने उत्तर दिया—"इत नही उत।"

यह सुनते ही पत्ता ने चढाया हुआ वाण उतारा और धनुष को चोरो के सरदार के पैरो के पास डाल दिया।

सरदार ने जव यह सव देखा तो वडा चकित हुआ और वोला—"यह क्या वात है ? तुम लोगो ने आपस मे क्या कहा और सुना है ?

पत्ता ने उत्तर दिया—"हम लोग महारानी पद्मिनी की शील-रक्षा के लिये वादशाह अलाउद्दीन खिलजी से टक्कर लेने जा रहे हैं। इसलिये मैंने पूछा था कि यहाँ मरना ठीक है या वहाँ ? क्योकि यह तो निश्चित है कि

हम दो भाई तुम्हारा मुकाबला करके कितनी भी बहादुरी से लड़े पर जीवित नही रह सकेंगे, मरना तो पड़ेगा ही। और उधर बादशाह की विशाल सेना के साथ लड़कर भी जीतना मुश्किल है अर्थात् मृत्यु वहाँ भी तैयार है। अत मैंने अपने भाई से सिर्फ यह पूछा था कि यहाँ पर लड़कर मरने की अपेक्षा क्या वहाँ पर वीरतापूर्वक लड़ना अच्छा नही है? उत्तर मे मेरे भाई ने यही कहा है—

"चोरो से लड़कर मरने की अपेक्षा वीरो के हाथ से युद्ध क्षेत्र मे मरना ही बेहतर है।"

पत्ता की निर्भीकता पूर्वक कही गई बात का चोरो के सरदार के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उसने विचार किया—ये कितने बहादुर नव युवक है, जो एक पराई स्त्री की शील-रक्षा के लिये अपनी जान हथेली पर लिये हुए घूम रहे हैं। और एक हम हैं जो ऐसे परोपकारी प्राणियो का भी बुरा विचारते हैं।"

ऐसा सोचते-सोचते सरदार का हृदय अपने जघन्य कार्य से विमुख हो गया और उसने अपने वर्षों से किये जाने वाले डाकूपन को त्याग दिया। वह भी अपने साथियो को साथ लेकर वीर जयमल और पत्ता के साथ बादशाह का मुकाबला करने के लिये रवाना हो गया।

ऐसी घटनाएँ हमे बताती हैं कि अनेक बार दानव-दिल भी सत्सगति से क्षण मात्र मे बदल जाते हैं। बुरी आदतें अच्छी आदतो मे बदली जा सकती है तथा प्रयत्न करने पर नीच सस्कार भी दूर किये जा सकते हैं। इसलिये यह कहना उचित नही है कि अमुक व्यक्ति इतना गिर चुका है, और अब उसका सुधार हो ही नही सकता।

आत्मा का जागृत हो जाना कोई बड़ी बात नही है। क्योंकि वह स्वयमेव प्रकाश का पुज है और वह हमारे अन्दर हमेशा विद्यमान रहती है। किन्तु हम अपनी भूलो और दोषो का उसके चारो तरफ जाल सा बुन लेते हैं तथा बधन-बधन चिल्लाते हैं। ठीक रेशम के कीड़े की तरह, जो कि स्वय ही सूत निकाल-निकालकर अपने चारो ओर जाल बना लेता है, तथा खुद ही उसमे फँस जाता है। हमारी आत्मा भी सुसंस्कारो या कुसस्कारो के जाल मे फंसी रहती है और सस्कारों का यह जाल ही चरित्र कहलाता है। सस्कार अगर उत्तम हुए तो चरित्र सच्चरित्र कहलाता है और अगर वे हीन हुए तो दुश्चरित्र कहलाने लगता है।

तो सारा महत्व संस्कारो का है, जिनका ताना-वाना मनुष्य स्वय ही वुनता है। और अगर वह संस्कारो का जाल उत्तम नही हुआ और उसके दु खदायी परिणाम सामने आए तो रोता है, चीखता और चिल्लाता है। पर उससे लाभ क्या होता है? कुछ नही, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि एक व्यक्ति किसी अधेरे कमरे मे स्वय ही प्रविष्ट हो जाए और फिर घोर अन्धकार है, घोर अन्धकार है, कहकर चीखता रहे। क्या उसके पास चीखने-चिल्लाने से अँधेरा दूर हो जायगा? नही, अन्धकार को दूर भागने का तरीका तो यह है कि कमरे मे दीपक जलाया जाय।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति जीवन पर्यन्त शोक ही करता रहे, मैं वहुत नीच हू, कुकर्मी हू, मैंने वहुत दोप किये हैं तो उससे कोई लाभ नही होगा। उसे अपनी आत्मा पर छाये हुए अज्ञानाधकार को दूर करने के लिये ज्ञान की पवित्र ज्योति जलानी होगी और उसके प्रकाश मे कल्याण का मार्ग खोजना होगा। पर ध्यान मे रहे कि केवल मार्ग प्राप्त कर लेने से, अथवा उसकी जानकारी कर लेने से ही काम नही चलेगा, उस पर चलना भी पडेगा। इसी का नाम क्रिया है। ज्ञान मार्ग दर्शन करता है और क्रिया गति। दोनो एक दूसरे की सहायता से आत्मा को कर्म-वन्धनो से मुक्त करते हैं। इनमे से अकेला कोई भी अपने कार्य मे सफल नही हो सकता। श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

"हतं ज्ञान क्रिया-शून्यं, हता चाज्ञानिन क्रिया।"

चारित्र अथवा क्रिया से रहित व्यक्ति का ज्ञान निरर्थक होने से फल-शून्य होता है और सम्यक्ज्ञान से रहित पुरुप की क्रियाएँ भी भार-भूत होने से व्यर्थ साबित होती हैं।

दोनो का सुमेल

सम्यक् ज्ञान और सम्यक् क्रिया के मेल से ही आत्म-साधना की गाडी चलती है। हम देखते ही हैं कि इस पृथ्वी पर रेलगाडी, वैलगाडी या मोटर गाडी आदि सभी गाडियाँ दो पहियो से चलती हैं। दोनो मे से अगर एक भी पहिया टूट जाय या छोटा वडा हो जाय तो गाडी तुरन्त रुक जाती है। आकाश मे पक्षी उडते हैं तो वे अपने दोनो पैरो की सहायता से ही गगन-चुम्बी उडान भरते हैं। उनका एक पर अगर कट जाय तो वे कदापि उडने मे समर्थ नही हो पाते।

हमारी आत्मा भी एक पक्षी के समान है। और इसे भी ऊपर की ओर

यानी उच्च गति की ओर उठना है या उडना है। पर यह कैसे उड सकती है? तभी, जबकि इसके ज्ञान और क्रिया रूपी दोनो पख बराबर काम करते रहें। अगर इनमे से एक भी निष्क्रिय हो गया तो काम नही चलेगा।

मैंने शास्त्रो मे पढा है, आपने भी पढा होगा कि एक अन्धा आदमी वन मे आग लग जाने के कारण उससे बाहर निकल जाने के लिये छटपटाता है, पर अन्धा होने के कारण मार्ग नही खोज पाता और अपनी इच्छा को सफल नही कर पाता।

उसी वन मे एक लगडा व्यक्ति भी है। वह भी वन मे लगी हुई भयकर आग से घबराकर भागना चाहता है, किन्तु पगु होने के कारण चल नही सकता, भागना तो दूर रहा।

भाग्यवशात् दोनो व्यक्तियों का मिलन हो जाता है। अन्धा कहता है—"क्या करूँ, मुझे जगल मे बाहर जाना है पर देख नही सकने के कारण असमर्थ हू।" पगु कहता है "मुझे दिखाई तो देता है किन्तु लगडा हूँ अत वन से बाहर नही जा सकता।

दोनो विचार मे पड गए पर अकस्मात् ही उन्हें एक उपाय सूझा। अधा बोला—"भाई! तुम मेरे कधे पर बैठ जाओ, रास्ता बताते जाना और मैं चला चलूँगा।"

पगु ने उत्तर दिया—"रास्ता तो मैं भली-भाँति बता दूँगा, पर तुम्हें मेरा बोझ उठाना पडेगा।"

"कोई बात नही, बोझ मैं उठा लूँगा तुम मेरे कन्धे पर बैठ जाओ।" अन्धे ने उत्तर दिया और वे दोनो ही एक दूसरे की सहायता से जगल को पार कर गए।

बन्धुओ, यह संसार भी एक वन के समान है, जिसमे जन्म-मरण और नाना प्रकार के दुखो का दावानल सुलग रहा है। जीवात्मा इस ससार से भागकर मुक्तावस्था को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु उसके पास ज्ञान पगु है और क्रिया अन्धी है। जब तक दोनो का मेल नही हो जाता, अर्थात् ज्ञान मार्ग-दर्शन नही करता और क्रिया गति नही करती, तब तक उसकी इच्छा पूर्ण नही हो सकती। ज्ञान और क्रिया, दोनो मे से अकेला कोई भी, आत्मा को इस ससार रूपी भयानक अटवी से बाहर नही ले जा सकता।

धर्म-ग्रन्थ हमें बताते हैं—'व्यक्ति भले ही मन भर ज्ञान सीख ले किन्तु कण भर भी उसको जीवन मे नही उतारे तो उसका सम्पूर्ण ज्ञान व्यर्थ है।

उदाहरण बडा मनोरंजक है कि चालीस सेर के वजन जितना ज्ञान हासिल कर लिया अर्थात् उतने वजन की किताबो को पढ लिया, रट डाली और कण्ठस्थ भी कर ली, किन्तु एक कण के बराबर भी अगर उसके अनुसार न चले तो ज्ञान-प्राप्त करने का कोई सार नही निकलता। वह तो कढाई मे घूमने वाले उस चम्मच के समान ही है, जो खीर मे, हलुए मे और अन्य इसी प्रकार के मधुर पकवानो मे खूब फिरता है किन्तु उन मिष्टानो की तनिक भी मधुरता ग्रहण नही कर पाता, उसका कोई लाभ नही उठाता। सदा कोरा का कोरा ही रहता है।

मराठी भाषा मे कहा भी है —

एक पोथी पुराण वाचिती, वरि वरि अर्थ करुनि दाविली,
नाहीं आत्मस्वरूप ओलखितो, ही तरी वट वट रे—
वा वट वट रे।'

मराठी जवान मे कहा जाने से इसका अर्थ आपको वरावर समझ मे नही आया होगा। इसमे वताया गया है—एक विद्वान भिन्न-भिन्न पोथी पुराणो को पढता है और नाना प्रकार से उनका अर्थ करके समीप बैठे हुए व्यक्तियो को समझा देता है। लोग उसकी विद्वत्ता पर आश्चर्य और प्रसन्नता भी प्रकट करते हैं। किन्तु वही विद्वान् अपने आत्म-स्वरूप की सच्ची पहचान नही कर पाता तथा आत्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न नही करता तो उसका पुराण और पोथिया पढना क्या लाभ प्रदान कर सकता है ? क्योकि—

'उपदेष्टु च वक्तु च, जन सर्वोऽपि पंडित'

—उपदेश देने मे और भाषण देने मे तो हर कोई पडित बनने को तैयार हो जाता है। परन्तु सच्चा पडित वही है जो क्रिया शील भी है।

वस्तुत ज्ञान प्राप्त करने का सार तभी निकाला जा सकता है जब कि व्यक्ति केवल वाक्चातुर्य मे ही उलझा न रहे, वरन अपने आचरण मे भी उसे उतारे, तथा ज्ञान का लाभ लेते हुये अपने पुरुषार्थ के वल पर अपनी आत्मा के कषाय-रूप प्रवल शत्रुओ से लोहा ले।

महाकवि माघ ने भी कहा है —

नालम्वते दैष्टिकतां, न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥

—शिशुपाल वध

—विद्वान पुरुष न तो दैव के भरोसे रहता है और न केवल पुरुषार्थ

पर ही आश्रित रहता है, किन्तु वह शब्द और अर्थ दोनो की अपेक्षा रखने वाले सुकवि की भांति दैव और पुरुषार्थ दोनो की अपेक्षा करता है।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को न केवल ज्ञान और न केवल क्रिया के भरोसे पर ही आत्मिक उत्थान की कामना करनी चाहिये। अपितु उसे इन दोनो को काम मे लाते हुए आत्म-शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिए तथा इन दोनो हथियारो से आत्मा के राग-द्वेषादि कट्टर शत्रुओ का मुकाबला करना चाहिए।

आत्मिक गुणो को नष्ट करने वाले इन कषायो के विषय में दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट बताया गया है —

कोहो य माणो य अणिग्गहीया—
माया य लोभे य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिचंति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय जन्म-मरण रूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करते हैं। जिस प्रकार मूल को सींचने से वृक्ष फलता—फूलता है उसी प्रकार मूल का सिंचन करने से भव-परम्परा भी बढती जाती है।

इसलिए ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान को आचरण मे अर्थात् चारित्र मे उतार कर भव-परम्परा के मूल को सुखाने का प्रयत्न करता है। वह भली-भाति जानता है कि चारित्र के अभाव मे कोरे ज्ञान का कोई मूल्य नही है। कोरा ज्ञान केवल एक बोझ है। जैसे —

यथा खरश्चंदन भारवाही, भारस्य भागी न तु चदनस्य।

जैसे चदन का बोझा लादने वाला गधा अपने ऊपर रहे हुए बोझ का अनुभव तो करता है, परन्तु चदन की सुगध से कुछ भी सबध नही रखता, उसी प्रकार चरित्र-हीन पुरुष ज्ञान का बोझा ढोने वाला ही कहा जाता है।

मुख्य स्तम्भ :

एक बात मैं आपको और बताना चाहता हूं, वह यह कि चरित्र का सर्वोच्च लक्षण या मुख्य स्तंभ कौनसा है? चरित्र रूपी विशाल छत का मुख्य आधार है ब्रह्मचर्य। चारित्र के अन्दर ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। आत्मा मे अनन्त शक्ति छिपी हुई। उस शक्ति का अनुकूल दिशा मे

प्रयोग करे तो वह इन्द्रियो का दमन कर सकता है तथा मन रूपी चचल अश्व की नकेल अपने हाथो मे रखते हुए उसे अपनी इच्छानुसार चला सकता है। जिन्होने ऐसा किया है, वे समस्त प्रकार के काम-विकारो पर विजय प्राप्त कर पूर्ण ब्रह्मचारी बने हैं और उनके पवित्र चरणो पर सभी ने अपना मस्तक झुकाया है।

भगवान महावीर का कथन है —

देव दाणवगधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बभयारीं नमसंति, दुक्करं जे करंति ते॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १६ गा० १६

जो पूर्ण ब्रह्मचारी पुरुष होते हैं, उनके चरणो मे देव, दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी अपना मस्तक झुकाते हैं।

वास्तव मे, ब्रह्मचारी पुरुष मे अत्यन्त दिव्य, विस्मयजक एव असाधारण शक्तियाँ होती हैं। क्योकि ब्रह्मचर्य ऐसा ही महान् व्रत है जो धारण करने वाले को अलौकिक शक्ति प्रदान करता है।

ब्रह्मचर्य के लिये भी दो रास्ते बताए गए हैं। प्रथम है एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन करना और दूसरा सर्वदेशीय ब्रह्मचर्य को अपनाना।

एक देशीय ब्रह्मचर्य गृहस्थ या श्रावक के लिये हैं जिसके अनुसार पुरुष परस्त्री मे तथा स्त्री पर पुरुष से कोई भी सबध न रखे। और सर्वदेशीय ब्रह्मचर्य साधु-साध्वी के लिये हैं, जिनके अनुसार वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें। उनके लिये कही भी, किसी भी प्रकार की छूट नही है।

ध्यान मे रखने की बात है कि हमारे यहाँ आत्मोत्थान को दृष्टि मे रखते हुए महाव्रत और अणुव्रत के रूप मे कुछ नियम बनाए गए हैं। जिनमे से महाव्रत का पालन करने वाले साधु-साध्वियो के लिये तो उनका पूर्ण रूप से पालन करने का विधान है, किन्तु गृहस्थ जो कि उनका सम्पूर्ण रूप से पालन नही कर सकते, उनके लिये इन नियमो मे काफी सरलता रखी गई है। यथा—मनुष्य पूर्णतया सत्य को न अपना सके तो कम से कम इतना झूठ तो न वोले कि जिसके कारण किसी प्रकार का अनर्थ हो जाय, चोरी का भी सम्पूर्ण रूप से त्याग न करे तो भी किसी के ताले आदि तोडकर तो वस्तुएँ या रुपया-पैसा न निकाले, धन-वैभव आदि की वढोतरी की लालसा का दमन न कर सके तो कम से कम उसकी कोई सीमा तो बनाले कि मुझे हजार दो हजार, लाख, दस लाख या इससे भी वडी किसी सख्या से अधिक परिग्रह नही रखना है।

लेकिन साहब ! आप लोगो के लिये तो नियमों मे कितनी ही ढिलाई और छूट क्यो न दी जाय, आपको कभी सतोप होता नही। आपके लिये तो एक अश मे भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन करना बडा कठिन है। आपके हिसाव से तो कही भी कोई सीमा नही होनी चाहिये। आपको तो जीवन का लुत्फ ही तव आता है जवकि दिन हो या रात इच्छा हुई तभी खाना खाया, कमाई करते समय ईमानदारी को ताक मे रखकर सच को झूठ और झूठ को सच वताया, रात-दिन धन को येन केन प्रकारेण अधिकाधिक वढाने की लालसा मे आत्मा-परमात्मा तथा पुण्य और पाप को भूले रहे तथा बाकी जो समय वच गया, उसमे नाटक सिनेमा देखा और फिल्मी गीत सुने। इस प्रकार मन और इन्द्रियो की तृप्ति होती रहे तभी आपको अपना मनुष्य जन्म सार्थक हुआ जान पडता है।

पर याद रखो ! अनादि काल से चली आ रही इस भव-परम्परा मे मनुष्य जीवन एक पानी के बुलबुले से अधिक महत्व नही रखता और अगर इसे भी केवल इन्द्रियो की तृप्ति मे खो दिया तो इस नश्वर देह के साथ ही ये तो समाप्त हो ही जाएँगी पर जन्म-मरण का चक्र न जाने कितनी वार और चल पडेगा तथा पुन इस जीवन का प्राप्त होना कठिन हो जाएगा।

इसलिये गृहस्थो के लिये जो सहज ही पालन हो सकते है ऐसे नियमो का पालन तो आपको करना ही चाहिये। इन्हें पालन करना कोई कठिन कार्य नही है। थोडी सी सावधानी और सयम से ही ये निभ जाते हैं। साथ ही आपके किसी भी गार्हस्थिक कार्य मे भी रुकावट नही आती। सुखपूर्वक और मनोरजक तरीके से जीवन विताते हुए भी आप इनका पालन कर सकते हैं।

एकदेशीय ब्रह्मचर्य भी इन्ही नियमो मे से एक है। आप जानते हैं कि इसके पालन मे भी कोई वडी भारी कठिनाई नही है। केवल परस्त्री और परपुरुष गमन का ही निषेध है। किन्तु इसके पालन का महत्व कितना अधिक है ? सेठ सुदर्शन ने यद्यपि अपनी पत्नी का त्याग नही किया था केवल पराई स्त्री का ही उनके लिये त्याग था। पर इसी का पालन करके भी उन्होने सूली को सिंहासन बना लेने की अलौकिक शक्ति अर्जित कर ली थी।

अनेक शास्त्रो और पुराणो मे भी ब्रह्मचर्य की महिमा का अपार यश गाया गया है। एक स्थान पर कहा गया है :—

शील प्राणभृता कुलोदयकरं शील वपुर्भूषणम्।
शील शौचकरं विपद् भयहर दौर्गत्यदुःखापहम्॥

शीलं दुर्भगतादिकन्द दहन चिन्तामणि प्रार्थिते।
व्याघ्र-व्याल जलानलादिशमन स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥

अर्थात् शील मनुष्यो के कुल की कीर्ति तथा प्रतिष्ठा बढाता है और श्री वृद्धि करता है शील मनुष्य के शरीर का शृगार है क्योकि इसका पालन करने से शरीर तेजस्वी, ओजस्वी तथा प्रभावपूर्ण बनता है। शील से अन्त करण पवित्र बनता है तथा इसके प्रभाव से विपत्ति और भय का अभाव हो जाता है।

शील दुर्गति के दु खो को नष्ट करने वाला है तथा चिन्तामणि के समान इच्छित पदार्थों की प्राप्ति करने वाला है। सक्षेप मे शीलवान के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं उसे कभी असफलता का सामना नही करना पडता। इसकी महिमा का दर्शन कहाँ तक किया जाय, इसके प्रखर प्रताप से व्याघ्र, सर्प, जल एव अग्नि आदि की समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं। इतना ही नही इसके प्रभाव से स्वर्ग और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

वास्तव मे ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्त करण प्रशस्त गम्भीर और स्थिर हो जाता है। इसीलिये सत्पुरुष ब्रह्मचर्य का आचरण करते है। ब्रह्मचर्य ही निर्मल सिद्धिगति का स्थान है, शाश्वत और अव्याबाध है तथा जन्म-मरण का निरोध करने वाला है। वह सुख स्वरूप और शिवरूप है तथा अन्य सभी व्रतो का धारण करने वाला है। इसका भग होने पर तत्काल ही अन्य सभी व्रत, शील, विनय, तप नियम और सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

लाखीणा मनुष्य

आप व्यवहार भाषा मे कभी-कभी मनुष्य को 'लाखीणा पुरुष' कहते है। वह क्यो ? इसलिये कि वह जीवन के अनेक सद्गुणो का आधार रूप ब्रह्मचर्य का पालन करता है। लाखीणा अर्थात् एक लाख रुपयो की कीमत वाला मनुष्य क्यो कहलाता है जबकि उसकी देह एक कौडी की भी कीमत नही रखती। पशुओ के अग-प्रत्यग व चमडी आदि तो फिर भी बहुत काम आते हैं तथा मँहगे मोल पर बिकते हैं। किन्तु नर-देह तो सिवाय भस्म कर देने के अन्य किसी काम नही आती। फिर भी किसी-किसी को लाखीणा कहा जाता है। प्रतापगढ स्थित प्राचीन हस्त लिखित शास्त्र भडार मे एक पन्ना देखने मे आया, उसमे इस विषय मे किसी कवि ने कहा है—

लाखीणो तो मानव बाजे, जोतां, हसता, बात—
स्पर्श, कुचेष्टा, मूल सेवता, क्रम सूखट लो पात रे ॥मैं वर्जूं॥

बन्धुओ, एक लाख मे कितने अक्षर हैं ? एक, दो शत सहस्र, दससहस्र और लाख। इस प्रकार अंक हुए तब लाख हो पाए। तथा मनुष्य जब लाखीणा कहलाया तो समझो कि इसने शून्य से बढते बढते छः अंक प्राप्त कर लिये। किन्तु अगर वह अपने नियम पर दृढ नही रहा तो किस प्रकार उसका एक एक अंक मिटता जाता है यही बात पद्य मे बताई गई है।

पहली बात इसमे यह है कि ब्रह्मचर्य धारण करने के पश्चात् अर्थात् लखीणा कहलाने के बाद भी अगर वह पराई स्त्री की ओर देखता है तो लाख की एक बिंदी लोप हो जाती है और वह दस हजार की कीमत का रह जाता है।

रामायण मे आपने पढा होगा कि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जब वन मे थे, सीता का हरण हो गया। उसकी खोज मे घूमते-घूमते जब कुछ आभूषण प्राप्त हुए तो राम ने लक्ष्मण पूछा—"ये कुण्डल आदि क्या सीता के ही है ?"

इस पर लक्ष्मण ने क्या उत्तर दिया ? यह कि—मैं अपनी मातृवत् भाभी के केवल चरणो मे नमस्कार करता था अतः उनके पैरों के नूपुरों को ही पहचानता हूँ। उनके कर्णफूल, बाजूबन्द आदि अन्य किसी गहने को नही।"

लक्ष्मण के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वह सीता की ओर दृष्टि उठाकर देखते भी नही थे। ऐसे व्यक्ति ही लाखीणे बने रहते है।

अब जैसा कि पद्य मे बताया गया है, अगर ब्रह्मचारी पुरुष किसी की ओर देखता है तो एक बिन्दी का लोप होता है और देखने के पश्चात हसता या मुस्कराता है तो दो बिन्दियो का लोप हो जाता है और व्यक्ति का मोल केवल एक हजार पर जा पहुंचता है।

हसने के पश्चात् नबर आता है, बात चीत करने का। पराई स्त्री के साथ हँसी-मजाक और बात चीत करना जहाँ प्रारम्भ किया, समझो कि एक बिन्दी और गई। कितनी आश्चर्य जनक बात है कि पहली बिन्दी गई थी तो नब्बे हजार का नुकसान हुआ, दूसरी गई तो नौ हजार गए और अब तीसरी गई तो नौ सौ फिर कम हो गए। अब रह गए केवल सौ।

इतना घाटा हो गया फिर भी एक बार मन मलिन हो जाने पर मनुष्य सभल नहीं पाता तथा हसी-मजाक और बातचीत के पश्चात स्पर्श पर उतर आता है। परिणाम यह होता है कि सौ मे से भी नब्बे कम हो जाते है और रह जाते हैं केवल दस।

पर जो इतना नीचे उतर आता है, वह कुचेष्टाओ से बाज नही आ सकता और दस मे से फिर नौ कम हो जाते हैं। बचता है एक। वह भी सबध होने पर समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार एक लाखीणा व्यक्ति परस्त्री से सबंध स्थापित करने का प्रयत्न करते ही अपना मोल घटाना प्रारम्भ कर देता है। पर इसका दुष्परिणाम कहा तक जाता है इस विषय मे एक कवि का कथन है —

ज्ञानी हू को ज्ञान जाय, ध्यानी हू को ध्यान जाय,
मानी हू को मान जाय, सूरा जाय जग ते।
जोगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिधाई जाय,
बडे की बड़ाई जाय, रूप जाय अंग ते।
घर की तो प्रीति जाय लोकों मे प्रतीत जाय,
त्याग बुद्धि मीत जाय विकल होय ढग ते।
सजम का सिहार जाय हानि का उपचार जाय,
जन्म सब हार जाय काम के प्रसग ते।

कितना भयकर है यह काम-विकार रूपी पिशाच, जो कि ज्ञानी के ज्ञान को, ध्यानी के ध्यान को और सम्मानित पुरुष के मान को नष्ट कर देता है। शूरवीर को सग्राम से विरक्त करता है और योगियो की जीवन भर की कमाइ पर पानी फेर देता है। सिद्ध पुरुषो की सिद्धता को तथा महापुरुषो की महानता को धूल मे मिला देता है। शरीर के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है तथा परिवार के व्यक्तियो की घृणा का पात्र बनाता है। भोगी व्यक्ति की बुद्धि और उसके समस्त स्नेही-स्वजन उसका साथ छोड देते हैं। वह इन्द्रिय संयम, ज्ञान तथा अन्य समस्त सद्गुणो से वचित हो जाता है। अधिक क्या कहा जाय, ऐसे व्यक्ति का समग्र जीवन ही बर्बाद हो जाता है।

इसलिये आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को चारित्रधर्म के मुख्य अग ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिये। क्योकि हमारे धर्मग्रन्थ स्पष्ट कहते हैं—

समुद्र तरणेयद्वदुपायो, नौ प्रकीर्तिता।
संसार तरणे तद्वत्, ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्॥

जैसे — समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है, उसी प्रकार ससार को पार करने का उपाय ब्रह्मचर्य है।

तो बधुओ! मेरे कहने का साराश यही है कि मुमुक्ष प्राणी को पूर्ण

श्रद्धा, जिसका दूसरा नाम ही दर्शन है, इसके साथ सम्यक् ज्ञान की आराधना करनी चाहिये और उसकी सहायता से अपने चरित्र-बल को सुदृढ और निष्कटक रखते हुए आत्मोन्नति का प्रयत्न करना चाहिये। तभी कर्मों का नाश हो सकता है तथा आत्मा मुक्तावस्था को प्राप्त हो सकती है।

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ मे यही कहा गया है—

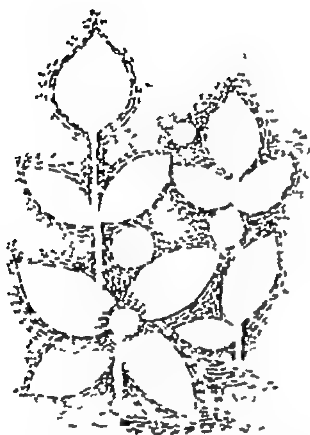
"सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग.।"

सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष प्राप्ति के मार्ग हैं।

जो व्यक्ति इनके महत्व को समझ लेता है वह किसी भी क्षण यह नही भूलता कि आत्मा अपने निज स्वभाव से चिदानन्दमय तथा अनन्त और अखड चेतना का पु ज है किन्तु राग और द्वेप जो कि समस्त कर्मों के बीज हैं, इन्ही दो दोषो के कारण यह अपने स्वरूप से पतित हो गया है। तथा इन्ही के कारण इसे पुन पुन जन्म और मरण के भयानक कष्ट भुगतने पड रहे हैं।

इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप ज्ञानी-पुरुष इस ससार की किसी भी वस्तु पर आसक्ति नही रखता और किसी भी प्राणी पर मोह नही रहने देता है। दूसरे शब्दो मे उसके लिये इस ससार मे कुछ भी प्रिय और कुछ भी अप्रिय नही होता। इष्ट और अनिष्ट की कोटि से निकल जाने पर उसकी वृत्ति समभाव से परिपूर्ण हो जाती है और वह शुद्ध हृदय मे आत्म-कल्याण के पथ पर बढता हुआ अत मे परमात्म-पद की प्राप्ति कर लेता है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, और चारित्र उसे सासारिक प्रलोभनो से बचाते हैं तथा राग-द्वेष की भयानक प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त कराते हुए शाश्वत एव अव्याबाध सुख की प्राप्ति मे सहायक बनते हैं।





१५

कर्म-बन्धन से बचाव

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आज हमे देखना है कि कर्मों का वन्धन कैसे होता है ? हमारे धर्म-शास्त्रो मे तीन प्रकार के योग वताए गए हैं। मनयोग, वचन योग और काययोग।

इन तीनो योगो मे से किसी भी योग का कषाय के साथ सम्वन्ध होने से कर्म-वन्धन होता है। कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारो मे से किसी भी एक या एक से अधिक कषाय के साथ मन, वचन और काया के योग जुडेंगे तभी कर्मों का वन्ध होगा अकेले कषाय या अकेले योग से कर्म नही बधते। कषाय अगर नही हैं तो तीनो योगो के विद्यमान रहते हुए भी कुछ नही होगा और तीनो योगो का संवध न होने पर कषाय कर्मों का वन्धन आत्मा के साथ करेंगे भी कैसे ? आशय यही है कि कर्म-वन्धन तभी होगा, जव कषायो का और योगो का आपस मे सवध होगा।

कर्म-वधनों से कौन नहीं वँधता ?

हमारे तीर्थंकर भगवान जो विदेही हैं और जिन्होंने केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त कर लिया है, उनके मन, वचन और काया, इन तीनो

योगो के रहते हुए कर्म-बध नही होता। उन्हे पाप नही लगता। ऐसा क्यो ? इसलिये कि उनके योग हैं पर कषाय नही हैं। अगर कषाय होते, और मोहनीय कर्म भी जीता नही जाता तो उन्हें केवल ज्ञान नही हो सकता था। समस्त कर्मों के शिरोमणि मोह-कर्म को जीत लेने के कारण ही उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई और इसके कारण उनके पाप-कर्मों का वधन होना रुक गया।

एक बात मैं यहाँ यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि शास्त्रो मे उन तीर्थंकर अवतारी पुरुषो को भी पाप लगता है ऐसा उल्लेख है। उन्हे भी ईर्या पथिकी क्रिया लगती है। सिद्धात मे यह वात है इसे मैं मानता हू। किन्तु उनके कर्म-वध कितना होता है ? पहले समय मे वँधता है, दूसरे समय मे वेदता है तथा तीसरे समय मे उसकी निर्जरा हो जाती है।

आप सभवत जानते होगे कि एक समय का काल कितना होता है। अन्यथा समझ लीजिये कि हमारी आँख मुँदी हुई है और हम उसे खोलते हैं। वस, एक पलक उघाडने मे जितना टाइम लगता है उसमे असख्यात समय काल व्यतीत हो जाता है। अब उस पलक खोलने के असख्यात समय मे भी मात्र एक समय मे कर्म वध हुआ, और दूसरे मे वेदा और तीसरे मे तो झड भी गया। तो ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि से काल का परिमाण कहा अवश्य जाता है किन्तु अपनी दृष्टि से तो वह नही के बराबर ही होता है। इसीलिये कहा जाता है कि तीर्थंकर अवतारी और उन विदेही पुरुषो को पाप कर्म का वध नही होता।

विदेह शब्द का प्रयोग क्यों ?

हम प्राय महापुरुषो के लिये विदेह शब्द का प्रयोग देखते हैं। राजा जनक को विदेही कहा जाता था। बडे-बडे योगी भी उनके पास ज्ञान-प्राप्ति के हेतु आते थे। वैष्णव धर्म ग्रन्थो मे पाया जाता है कि शुकदेव जो कि जन्म से ही महाज्ञानी थे और जन्म लेते ही वन मे चले गये थे, वे भी जनक के समीप ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये आए थे।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय मे राजकुमार मृगा पुत्र के लिये कहा गया है—'जुअराया दमीसरे।'

जुवराया यानी युवराज और दमीसरे का अर्थ है, इन्द्रियो का तथा मनका दमन करने वाला। दो विरोधी शब्दों का कितना आश्चर्यजनक मेल है ? भविष्य मे जो राजा बनने वाला है, उस युवराज को दमीसरे कहा गया। पढकर आश्चर्य होता है कि युवराज की पदवी के साथ इन्द्रिय-दमन

की पदवी भी चल सकती है क्या? एक युवराज या राजा अपनी इन्द्रियो को वश मे रख सकता है ? क्या एक ही व्यक्ति राजा और योगी दोनो के योग्य कर्तव्यो का समीचीन रूप से निर्वाह कर सकता है।

साधारण दृष्टि से देखा जाय तो ऐसा होना सभव नही लगता। क्योकि एक का प्रवृत्ति मार्ग है और दूसरे का निवृत्ति मार्ग। दोनो मिलकर छत्तीस का अक बनाते हैं। मेल त्रेसठ के अक का हो सकता है छत्तीस के अकों का नही। दूसरे शब्दो मे प्रवृत्ति और निवृत्ति एक साथ कैसे चल सकती हैं ? प्रवृत्ति सासारिक उलझनो मे फसाती है और निवृत्ति त्याग की ओर बढाती है। किन्तु मृगापुत्र के लिये दोनो को साथ ही रखा गया है। और शास्त्र का कथन असत्य नही हो सकता। अत हमे बारीकी से इसमे रहे हुए रहस्य को समझना है।

यह इस तरह जाना जा सकता है कि विदेह विशेषण उन महामानवो के लिये प्रयुक्त किया जाता है जो ससार मे रहकर भी अपने अतर मे ससार को नही रहने देते। लीजिये ? समस्या और भी उलझ गई कि अपने अन्दर ससार को नही रहने देने का अर्थ क्या है ?

बधुओ विचारणीय विषय है कि ससार क्या है ? ससार है आत्मा मे रहे हुए क्रोध, मान, माया लोभ, राग तथा द्वेष आदि का मूर्तिमान रूप, जन्म-मरण की शृखला या भव-परम्परा हमारे अतर मे रहे हुए कषायादि के सयोग मे हमारे ही मन, वचन या काय योगो के कारण बढती है अत स्पष्ट है कि जो कुछ भी होता है हमारे अतर की वृत्तियो के द्वारा ही होता है। जिसे हम ससार कहते हैं, वह हमारे अन्तर्मानस की उपज ही है। अगर हमारे हृदय मे कषाय या राग-द्वेष न हो, अगर हमारा हृदय इन दोषो से रहित हो तो बाह्य ससार से हमारा कोई सम्बन्ध ही न रह जाए। इसीलिये कहा जाता है कि ससार को अपने अन्दर मत रहने दो।'

जो महामानव ऐसा करने में समर्थ बन जाते हैं, अर्थात् ससार को अपने अन्दर नही रहने देते, वे बाह्य ससार मे रहकर भी उससे अलिप्त रहते हैं तथा विदेह कहलाते हैं। संसार मे रहकर भी ससार से अलिप्त किस प्रकार रहा जाता है इसे सत तुकाराम जी अन्य उदाहरणो से समझाते हैं। वे बताते हैं—

मिष्टान्ना चा स्वाद, जिह्वेच्या अगरी,
मसक भरल्यावरी, स्वाद नेणे ॥१॥

अर्थात्—खाद्य पकवानो की मधुरता का स्वाद केवल वह जिह्वा के

अग्रभाग पर रहता है, तभी तक महसूस होता है।,उसके आगे जाते ही समाप्त हो जाता है। एक कहावत भी है—'उतरिया घाटी, हुआ माटी।' यानी कितने भी स्वादिष्ट और मधुर पकवान क्यो न हो, गले से उतरते ही मिट्टी के समान स्वाद रहित हो जाते हैं। तो जिह्वा नाना प्रकार के रसमय पदार्थों का आस्वादन करते हुए भी सदा कोरी की कोरी, स्वाद रहित रहती है, उसी प्रकार विदेही व्यक्ति ससार मे रहते हुए भी सांसारिक पदार्थों मे ममत्व नही रखते, उससे अछूते बने रहते हैं।

कवि ने दूसरे चरण मे एक और उदाहरण दिया है :—

सत्यवादी करी ससार सफल,
अलिप्त कमल जली जसे ॥२॥

—सत्यवादी पुरुष जो कि वस्तु-तत्त्व की सही जानकारी कर लेता है, सासारिक पदार्थों की अनित्यता को सही मायने मे समझ लेता है, वह उनसे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है जिस प्रकार जल मे कमल।

कमल कीचड मे जन्म लेता है, तथा जल से पुष्ट होता है, किन्तु फिर भी वह जल से अपने आपको भिन्न मानता है। वह पुन उस जल मे डूबता नही और अपने समीप ही रहे हुए कीचड मे फँसता नही।

इसी प्रकार विदेही व्यक्ति इसी ससार मे जन्म लेते हैं, इसी मे रहकर अपने शरीर, मन तथा मस्तिष्क आदि सभी को पुष्ट करते हैं, सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को अपनाते हैं किन्तु फिर भी अपने आपको इससे भिन्न समझते हैं। वे समस्त सासारिक कार्यों और कर्तव्यो को सम्पन्न करते हुए भी ससार मे अपनी आसक्ति, मोह की गृद्धता नही रखते। अर्थात् वे बाह्य ससार को बाहर ही रहने देते हैं, अपने अन्दर नही आने देते और इसी का नाम विदेह होकर रहना है।

राजा जनक, महाराजा भरत और युवराज मृगापुत्र जैसे अनेक महापुरुषों के उदाहरण हमे ग्रन्थो मे पढने को मिलते हैं जो असीम ऐश्वर्य के स्वामी होते हुए, और उसका उपभोग करते हुए भी उससे अलिप्त कमल-कीचड वत् रहते थे। पढकर आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हो सकता है? धन का उपयोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त और समग्त इन्द्रियो के सुखो को भोगते हुए भी उनसे किसी व्यक्ति को विरक्त कैसे माना जा सकता है? अगर ऐसा है तब तो ससार के सारे ही प्राणी ससार से विरक्त माने जाने चाहिये! क्योंकि सभी तो इन पाँच इन्द्रियो के सुखो को भोगते है। बल्कि

राजा, महाराजा और चक्रवर्ती अगर अपार सम्पदा का उपयोग करते हुए भी विरक्त माने जाते हैं, तो ससार के निर्धन व्यक्ति तो अपने सीमित और थोडे से धन का भोग करने के कारण और अधिक विरक्त माने जाने चाहियें।

क्यो साहब ! ऐसा ही लगता है न आपको ? पर सारा रहस्य यही है, और आपकी इस जिज्ञासा के उत्तर मे ही है। वास्तविकता यह है कि पाप-कर्मों के बधन का असली कारण मनोयोग है, अर्थात् मन की प्रवृत्तियो मे ही कर्मों का बधना और उनका झडना सभव है। कहा भी है —

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध-मोक्षयो ।
बन्धाय विषयासक्त, मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥

ब्रह्मविन्दु उपनिषद् १-२०

अर्थात्—यह मन ही मनुष्यो के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयो मे आसक्त होता है, वह बन्धन मे जकड़ता है और जो विषयो से विमुख हो जाता है, वह मोक्ष का कारण होता है।

अधिक धन या परिग्रह पाप का कारण नही होता। पाप का कारण होता है उसमे गृद्धता का होना। भले ही एक निर्धन के पास पाच रुपये हैं और दूसरे के पास तीन खड का राज्य। पर निर्धन अपने पाँच रुपयो मे अत्यधिक आसक्ति रखता है तो पाप-कर्म का बधन करता है, तथा चक्रवर्ती सम्राट् अपने अपार-वैभव मे तनिक भी ममत्व नही रखता तो वह कर्म-भार के बढ़ने से बच जाता है। दूसरी तरफ अगर वही निर्धन व्यक्ति केवल रुपये रखता है, किन्तु उनमे भी उसका जरा भी ममत्व नही होता तो वह उस चक्रवर्ती से श्रेष्ठ माना जाता है जो अपने वैभव मे आसक्ति रखता है तथा इन्द्रिय-जनित सुखो मे गोते लगाता है।

स्पष्ट है कि पापो का मूल मन है। अगर मन मे पाप है तो मनुष्य पापी है और मन मे पाप नही है तो वह निष्पाप है। एक उदाहरण मे यह बात और भी समझ मे आ जाएगी। वह इस प्रकार है —

मनसैव कृतं पापं, न शरीर कृतं कृतम् ।
येनैवालिङ्गिता कान्ता, तेनैवालिङ्गिता सुता ॥

—पाप शरीरकृत नही, मनसाकृत ही होता है। जिस शरीर से रमणी का आलिङ्गन किया जाता है, उसी शरीर से पुत्री का भी। किन्तु दोनो मे कितना अतर है ? एक मे मलिन वासना की प्रधानता है और दूसरे मे

निर्मल वात्सल्य-भाव की। यह अन्तर कैसे हुआ ? केवल मन की अशुद्ध और शुद्ध भावना के कारण ही हुआ।

हम देखते है कि एक डाकू डाके डाल-डालकर अपार धन इकट्ठा कर लेता हे और उसकी नाग के समान सावधानी से रक्षा करता है। किन्तु एक अन्य व्यक्ति उस डाकू की अपेक्षा अनेक गुनी सपत्ति अपने पास रखते हुए भी उसकी परवाह नही करता तथा उसके बढने-घटने की चिन्ता नही रखता। ऐसी स्थिति मे अपार धन रखने वाला डाकू जहा परिग्रह के पाप का भागी बनेगा वहाँ दूसरा उससे अधिक धन रहते हुए भी कर्म-बध से बचा रहेगा।

यह मेरी पत्नी नहीं है !

रामशास्त्री पेशवा महाराज माधवराव के गुरु थे, राज्य के प्रधान मत्री तथा प्रधान सेनापति भी वही थे। असीम धन-वैभव उनके चारों ओर बिखरा हुआ था तथा भोग-विलास के समस्त साधन उनके यहाँ मौजूद थे। किन्तु वे और उनकी पत्नी एकदम सादगी से रहते थे तथा सादा पहनते और सादा खाते थे।

एक बार किसी त्यौहार पर उनकी पत्नी राजमहल में गई। उसकी साधारण वेश-भूषा देखकर रानी चकित रह गई और उसने रामशास्त्री पेशवा की पत्नी के लाख मना करने पर भी वेशकीमती वस्त्र और रत्न-जटित आभूषण पहनाए तथा पालकी मे घर भेज दिया।

पालकी रामशास्त्री के घर पहुँची और कहारो ने दरवाजा खटखटाया। दरवाजा स्वय पेशवा ने खोला किन्तु आश्चर्य कि उन्होने एक निगाह बाहर डालते ही पुन बद कर लिया। कहार बोले – हुजूर ! आपकी धर्मपत्नी आई हैं, इन्हें अन्दर तो आने दीजिये ! पर शास्त्री जी ने अन्दर से ही उत्तर दिया —

"वस्त्राभूषणो से सजी हुई यह कोई और ही महिला है, मेरी पत्नी इनमे तनिक भी रुचि नही रखती। तुम लोग भूल से यहाँ पर आ गए हो ?"

शास्त्री जी की पत्नी ने कहारो को तुरन्त लौट चलने के लिये कहा और राजमहल मे आकर महारानी से बोली—

"आपके वस्त्र और आभूषणो ने तो मेरे घर का द्वार ही मेरे लिये बन्द करवा दिया। मैंने आपसे पहले ही कहा था कि शास्त्री जी जितना है,

उसी धन वैभव को विडम्बना का कारण समझते हैं फिर इतना और बढ जाना वे कब पसन्द करेंगे ?"

वास्तव मे, अगर और कोई व्यक्ति होता तो सहज ही इतने बहुमूल्य वस्त्राभरणो को घर मे आते देखकर उसकी बाँछें खिल उठती पर जो इन सबसे निरासक्त हो उसे क्या खुशी हो सकती है ? उसकी भावना तो सदा यही रहती है—

कोई बुरा कहे या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखो वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही, भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे।

तो बधुओ जो व्यक्ति प्रशसा-अप्रशसा की, लक्ष्मी के आने या जाने की, किसी की प्रकार के भय लालच की तथा मृत्यु के आतंक की भी परवाह नही करता वही कल्याण के सत्पथ पर विदेह होकर चल सकता है। और वही व्यक्ति अपने मन पर संयम रखने में समर्थ होता है।

मन वडा चचल होता है और इसे वश रखना वडा कठिन है जैसा कि एक श्लोक मे कहा गया है—

य स्वभावो भवेद्यस्य, , स तेन खलु दुस्त्यज ।
न हि शिक्षा शतेनापि, कपिर्मुच्यति चापलम् ॥

जिसका जैसा स्वभाव वन जाता है, उसका छूटना अत्यत कठिन होता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि सैकडो शिक्षाएँ देने पर भी वन्दर अपनी चचलता नही छोडता।

मन को भी वन्दर की उपमा दी गई है। लाख बार समझाने पर भी वन्दर एक स्थान पर वैठा नही रह सकता, उछल-कूद मचाता ही रहता है, इसी प्रकार चिन्तन, ध्यान आदि के द्वारा स्थिर करने का प्रयत्न करने पर भी मन की भाग-दौड वन्द नही होती।

एक महात्मा से उसके शिष्य ने कहा -"भगवन् ! मन को काबू में कैसे करूँ ?"

गुरु ने उत्तर दिया—"एकाग्र होकर वैठ जाओ, इसे इधर-उधर मत जाने दो।"

शिष्य – "मन तो रुकता ही नही।"

"अच्छा, यह सामने आम का पेड है, केवल इस पर ध्यान रखो, वगीचे के अन्य वृक्षो की ओर ध्यान मत जाने दो !"

लेकिन हुआ क्या ? शिष्य का मन आम के पेड को छोडकर वगीचे के सारे वृक्षो पर घूमता रहा ।

ऐसा ही होता है । मन को जिस वात के लिये रोका जाय, वह उसी की तरफ जाता है । मान लीजिये—आपके यहाँ कोई एक गठरी रख गया । साधारणतया उसकी ओर आपका ध्यान नही जाता । किन्तु अगर गठरी रखने वाला यह कह जाय—"देखो । इस गठरी को खोलना मत, तथा और भी किसी को मत खोलने देना ।" तो आपका ध्यान अवश्य ही वार-वार उस गठरी की ओर जायेगा कि इसके अन्दर क्या है ?

भगवद् गीता मे उल्लेख है कि अर्जुन मन की इस चचलता से परेशान होकर श्रीकृष्ण से कहते हैं—"हे वासुदेव ! यह मन अत्यन्त चपल और प्रमथन स्वभाव वाला है । अत्यन्त वलवान और दृढ़ है । मुझे तो ऐसा लगता है कि इसे वश मे करना वायु को वश मे करने के समान दुश्कर है । कैसे इस पर संयम किया जाय ?"

इसके उत्तर मे श्रीकृष्ण ने कहा—

असंशय महावाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—"हे महावाहो ! निस्सदेह यह मन अत्यन्त चचल है और कठिनता से वश मे आने वाला है, किन्तु अभ्यास से अर्थात् वार-वार प्रयत्न करने से और वैराग्य से इसे वश मे अवश्य किया जा सकता है ।"

कवि वृन्द के एक दोहे मे भी यही वात कही गई है—

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात ते, सिल पर करत निशान ॥

कहा है कि पत्थर कितना कडा होता है ? परन्तु उस पर भी प्रतिदिन रस्सी के आने जाने से गहरा निशान जिस प्रकार हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त जड बुद्धि वाला व्यक्ति भी अगर अभ्यास करता रहे तो ज्ञानवान वन सकता है ।

मन के लिये भी ठीक यही वात है कि अगर पूरा प्रयत्न किया जाय और वार-वार उस प्रयत्न को दुहरा कर मनुष्य उसका अभ्यास करता रहे तो मन को स्थिर और सयमित वनाने मे सफल हो सकता है ।

अभी मैंने आपको बताया था - ससार मे पाप कर्मों का बधन मन, वचन और काया से होता है। कभी मन से पाप लगता है, कभी वचन से और कभी काया से लगता है। कभी मन और वचन दोनो से लगता है और कभी मन, वचन और काया, इन तीनो से ही।

पर यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि इन योगो से पाप जिस प्रकार लगता है, उसी प्रकार छूटता भी है। यह नही कि ये केवल पाप-कर्मों का बध करने मे ही काम आते हैं। अगर ये बधन मे डालते हैं तो छुडाते भी ये ही हैं। जैसे—आपके किसी दुश्मन का किसी प्रकार से अनिष्ट हुआ और आपके मन मे इस बात की खुशी हुई। आपने सोचा—"बहुत अच्छा हुआ जो इसके व्यापार मे घाटा आया या इसका कोई सम्बन्धी मरा, इतना ही नही, और भी इसे दुख उठाने पडें तो अच्छा।'

अब यह विचार केवल आपके मन मे है, आपके वचन या शरीर से उसका कुछ भी नही बिगाडा है, फिर भी आपके कर्मों का बधन हो जाएगा। किन्तु अगर उसी समय आपके मन मे सुबुद्धि आ जाए और आपका विवेक जाग्रत हो उठे, तथा अपनी दुर्बलता के लिये गहरा पश्चात्ताप करते हुए आप विचार करने लगें—"अरे मैं कितना नीच हूँ जो किसी अन्य प्राणी का अनिष्ट-चिंतन कर रहा हूँ, मेरा मन कितने हीन विचारों से भरा हुआ है आदि आदि ।" तो उसी मनोयोग के द्वारा, जिससे कि कुछ क्षण पहले आपके कर्म बधें थे, उनकी निर्जरा होनी भी प्रारम्भ हो जायगी। किन्तु आवश्यक यही है कि आपका पश्चात्ताप हार्दिक हो, उसमे बनावट न हो।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का उदाहरण इस बात को पूर्णतया सत्य साबित करता है। उनके विषय मे आप जानते होगे और मैंने भी एक दिन बताया था पर प्रसगवश पुन आपके सामने रखता हू।

एक बार राजा श्रेणिक भगवान महावीर के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने राजर्षि को ध्यान मग्न देखा, और भगवान के समीप पहुँचने पर उनसे पूछा—"भगवन् ! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र अगर इस समय शरीर त्याग करें तो किस गति मे जाएँ ?'

भगवान ने उत्तर दिया—"सातवें नरक मे।"

श्रेणिक सुनकर हैरान रह गए। बोले—"प्रभो ! ऐसे महायोगी और उत्कृष्ट ध्यानी सातवें नरक मे क्यो जाएँगे ?"

भगवान ने अब कहा—"अगर वे इस समय काल करें तो सर्वार्थ सिद्ध विमान मे उत्पन्न होंगे।"

श्रेणिक और भी चक्कर मे पड गया। पूछने लगे—

"भगवन, यह क्या ? अभी तो वह सातवें नरक मे जाने के योग्य थे और अभी सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग सर्वार्थसिद्ध विमान मे जाने के लायक कैसे हो गये ?"

श्रेणिक इस प्रकार प्रश्न कर ही रहे थे कि देवदुन्दुभी बजने लगी। उन्होंने भगवान की ओर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा। भगवान ने उसी समय बताया—"प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है।"

राजा श्रेणिक हतबुद्धि से रह गए। फिर बोले—"प्रभो ! कृपा करके मुझे इस उलझन से निकालिये तथा इस सबका मर्म समझाइये।"

तब भगवान ने फरमाया—"तुम्हारी सेना के आगे दो आदमी चल रहे थे, उन्होंने राजर्षि को देखकर आपस मे कहा—ये मुनि अपने नादान बालक को कर्मचारियो के भरोसे पर छोडकर साधु बन गए थे। पर अब कर्मचारियो की नीयत बिगड गई है, और वे आपस में मिलकर इनके बालक की हत्या करने का षड्यन्त्र रच रहे हैं।"

'दोनो मनुष्यो का वार्तालाप राजर्षि के कानो मे पड गया और वे आगबबूला होकर मन ही मन अपने उन कर्मचारियो का सहार करने लगे। ठीक उसी समय तुमने मुझसे उनके बारे में पहला प्रश्न किया था। साधु होकर भी शत्रुओ का मन ही मन सहार करने के कारण उनकी उस समय सातवें नरक की स्थिति बन रही थी। पर क्रोध के आवेश मे उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुँचा और उनके मन मे विचार आया—"अरे, मैं तो ससार के जजाल को त्याग चुका हूँ तथा पूर्णरूप मे हिंसा का परित्याग कर चुका हू। फिर यह प्रपच कैसा ?"

"यह विचार आते ही उनके मन की भावना बदल गई और क्रमश उच्च तथा उच्चतर भूमिका को स्पर्श करती हुई चरम सीमा पर जा पहुँची।" इसीलिये मेरे कथन मे तुम्हें भिन्नता दिखाई दी थी।

बधुओ,इस उदाहरण से आपको मन की चचलता और प्रबलता का ज्ञान हो गया होगा। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ने न केवल जिह्वा से किसी को दुर्वचन कहा था और न शरीर से ही किसी का सहार किया था। केवल उनके मन का ही सब कारनामा था और उसी के कारण कहाँ सातवाँ नरक, कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और कहाँ केवल ज्ञान ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न गतियो का बध किया। इसीलिये कहा गया है —

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते।
य सप्तमी क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ॥

—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मत मे मनोयोग को इतना बलशाली बताया गया है कि वह आधे क्षण मे सातवें नरक मे और आधे क्षण मे मोक्ष मे पहुचा देता है।

तो मैं बता यह रहा था कि मन से जिस जिस प्रकार कर्म बध होता है, उसी प्रकार कर्मों से छुटकारा भी मिलता है। यही बात वचन के लिये भी है। मान लीजिये—किसी ने अन्य किसी व्यक्ति को क्रोधावेश मे आकर दुर्वचन कह दिये, किन्तु वही व्यक्ति उस दूसरे व्यक्ति से, जिसे दुर्वचन कहे गए थे, जाकर कहे—"मैंने कटुवचन कहकर आपके हृदय को दुखाया है, मुझे कतई ऐसा नही कहना चाहिये था। मेरी गलती हुई और इसके लिये आप मुझे क्षमा प्रदान करें !" तो ऐसे पश्चात्ताप पूर्ण वचनो के कहने पर उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

अब रहा शरीर योग। शरीर से किया हुआ पाप भी शरीर के द्वारा छूट भी जाता है। उदाहरण स्वरूप आप चल रहे हैं। मार्ग मे आपकी असावधानी से किसी को ठोकर लग गई। व्यक्ति जख्मी था और ठोकर लगते ही कराह उठा। अब अगर आप ठोकर लगाकर भी सीधे चले जाते हैं तो जख्मी व्यक्ति आपको गालियो की बख्शीश देगा और आपके पुरखो तक को पानी पिलायेगा। किन्तु अगर ठोकर लगते ही आप उसके समक्ष हाथ जोडकर खडे हो गये और माफी माग ली और उसकी सेवा करदी तो वह पिघल जाएगा और आपको माफ कर देगा। साराश यही है कि, पैर से ठोकर मारकर आपने हाथो से क्षमा माग ली सेवा करदी तो शरीर से लगा हुआ पाप शरीर से ही छूट भी गया।

तो स्पष्ट हो गया कि मन, वचन और काया, इन तीनो योगो का कषायो के साथ सम्बन्ध होने पर पाप-कर्मों का बन्धन होता है और मन वचन एव काया से ही पाप-कर्मों की निर्जरा भी होती है।

अब हमे प्रयत्न यह करना चाहिये कि प्रथम तो हमारे तीनो योगो का कषायो से सम्बन्ध ही न होने पाए। और अगर असावधानी, प्रमाद या आवेश के कारण ऐसा हो जाए तो तुरन्त ही सच्चे पाश्चात्ताप सहित हम उस पाप से छूट जाने का उपाय करलें।

अगर हम ऐसा कर सकें, अर्थात् कषायो से तथा मोह से अपने आपको बचा सकें तो हमारी आत्मोन्नति का मार्ग निष्कटक बन जाय। मोह कर्म

सभी अन्य कर्मों की उपेक्षा बलशाली होता है, वह बारहवें गुणस्थान तक भी आत्मा का पीछा नही छोडता और कभी-कभी तो बहुत ऊँचाई से भी नीचे लाकर उसे पुन भव-परम्परा मे डाल देता है। मोह मे पडा हुआ प्राणी क्या नही करता ? अर्थात् सभी कुछ उचित अनुचित कर गुजरता है। मोह के वशीभूत होकर वह अपनी आत्मा के कल्याण और अकल्याण का भी खयाल नही रखता।

बधन कौनसा था ?

एक बार उदयपुर शहर के राजदरबार मे किसी पहलवान ने आकर चुनौती दी— "महाराज, कोई भी पहलवान मेरा मुकाबला नही कर सकता, प्रमाण के लिये अगर आपके शहर मे कोई पहलवान हो तो उसे बुलाकर मेरे सामने खडा कीजिये ! मैं निश्चय ही उसे दो-तीन मिनिट के अन्दर चित्त कर दूँगा।'

उदयपुर महाराणा ने यह सुनते ही सम्पूर्ण नगर मे डोडी पिटवादी कि जो भी व्यक्ति इस शहर से आए हुए पहलवान को कुश्ती मे पछाडकर इसका गर्व चूर करेगा उसे राज-कोप से उतनी ही स्वर्ण-मुद्राएँ दे दी जाएँगी, जितनी वह उठा सकेगा। किन्तु वह स्वय अगर हार जाएगा तो उसे प्राण-दड भोगना पडेगा।"

नगरवासियो ने इस ढिढोरे को सुना किन्तु पराजित होने पर प्राण-दड की घोपणा होने से किसी की भी हिम्मत उस चुनौती को स्वीकार करने की नही हुई।

पर एक कैदी पहलवान के कानो मे जब इस घोषणा की बात गई तो वह उस विदेशी पहलवान से कुश्ती लडने के लिये तैयार हो गया। जेलर ने उस कैदी को महाराणा के सम्मुख उपस्थित किया। कैदी के अत्यन्त सुदृढ शरीर को देखकर राजा को आशा बध गई कि यह अवश्य विदेशी पहलवान को जीत लेगा।

जेलर को आदेश दिया गया कि तुरन्त इस कैदी की हथकडी बेडी तोड दी जायँ। जेलर जब उन्हें तोडने के लिये औजार लाने के लिये जाने लगा, तभी उस कैदी ने कहा —

"महाराज ! हथकडी और बेडी के लिये कोई औजार लाने की आवश्यकता नही है, इन्हे तो यो ही तोड डालता हूँ। यह लीजिये !" कहते हुए कैदी ने एक-दो झटको मे ही अपनी हथकडी-बेडी तोड दी और वे झनझनाती हुई फर्श पर जा गिरी।

यह देखकर महाराणा अत्यत चकित हुए और अपने आपको न रोक सकने पर कुतूहलवश पूछ बैठे—"जब तुम्हारे शरीर मे इतनी शक्ति थी तब इतने दिनो तक तुम कैद मे कैसे रहे ? बन्धन तोडकर भागने की कोशिश क्यो नही की ?"

प्रत्युत्तर मे कैदी गद्गद् होकर बोला—"हुजूर ! आपकी बात सत्य है मैं चाहता तो किसी भी क्षण इन लोहे की शृखलाओ को टुकडे-टुकडे करके भाग सकता था, किन्तु इस आशका से मैंने ऐसा नही किया कि अगर मैं इस प्रकार भाग जाऊँगा तो राज-कर्मचारी मेरे परिवार को कष्ट देंगे। अपने परिवार के प्रति मोह होने के कारण ही मैं ऐसा नही कर सका।"

कैदी का उत्तर सुनकर महाराजा विचार करने लगे—

"परिवार का मोह भी कितना प्रबल होता है ? जिसके वशीभूत होकर एक महान् शक्तिशाली पहलवान भी इतने दिनो तक हथकडी-बेडी के बधन मे बधा रहा, तथा आगे भी बँधा रहना अगर आज इसे मुक्त नही किया जाता। इसे केवल मोह ने ही बाध रखा था हथकडी-बेडियो ने नही।"

तो बधुओ, मोह-कर्म की शक्ति वास्तव मे ही अत्यत प्रबल होती है, अत बडे प्रयत्न और अभ्यास से कषायो के साथ-साथ इसे जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। जब तक ये सब मन पर छाये रहते है, वह स्थिर नही रह पाता। जिस प्रकार सागर मे एक के बाद एक लहर आती जाती रहती है, उसी प्रकार इस मन रूपी सागर मे भी कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ और इसी प्रकार राग, द्वेष तथा मोह आदि की भावना-रूपी तरगें उठती रहती हैं और उनके कारण मन डोलता रहता है। अत जो मुमुक्षु अपने मन को स्थिर और सयमित करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम इन समस्त दोषों को दूर करना पडेगा। और यह अभ्यास से ही हो सकता है। जैसा कि श्री कृष्ण ने कहा है—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।"

श्रीकृष्ण ने मन को वश मे करने के दो उपाय बताये हैं एक अभ्यास और दूसरा वैराग्य। अभ्यास के विषय मे अभी-अभी हमने बहुत कुछ विचार किया है, अब हमारे सामने है वैराग्य।

वैराग्य की आवश्यकता क्यो ?

सहज ही जिज्ञासा होती है कि वैराग्य की आवश्यकता किसलिये पडती है। इसका समाधान यही है कि किसी भी दोष का नाश उसके विरोधी

गुण को ग्रहण करने से हो सकता है। तदनुसार कषाय व राग-द्वेष का विरोधी वैराग्य है अत इन्हे नष्ट करने के लिये वैराग्य को ग्रहण करना चाहिये।

ज्ञानी पुरुषो ने वैराग्य भाव के रूप मे जीवन को सम्यक् मोड देने वाली एक महिमामयी कला का आविष्कार किया है। यह कला हमारी आत्मा के लिए अत्यत हितकर है। जब तक मानव के हृदय मे राग-द्वेष रूपी विकार विद्यमान रहते हैं, तब तक वह वैराग्य परिणति का विकास नही कर पाता। परिणाम यह होता है कि वह सच्चे सुख का अनुभव नही कर सकता और दुखो से छुटकारा नही पा सकता। क्योकि राग और द्वेष की विद्यमानता वह किसी को अपना स्नेही और किसी को अपना शत्रु अवश्य मानता रहेगा। और जिसे शत्रु मानेगा, उससे किसी न किसी प्रकार का भय भी बना रहेगा। किन्तु वैराग्य मे यह बात नही है, आत्मा मे विरक्त भावना के होने पर उसे कोई भी अपना शत्रु दिखाई नही देता और इसके कारण भय की भावना उसके समीप भी नही फटकेगी।

इसीलिये भर्तृहरि ने कहा है —

सर्ववस्तु भयान्वितं भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम्।

वैराग्य से विभूषित पुरुष इसी लोक मे अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं, क्योकि ससार के किसी भी प्राणी के प्रति राग और किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न होने से उनका हृदय निराकुलता से परिपूर्ण रहता है। सासारिक पदार्थों के लिये अन्तःकरण मे तृष्णा और किसी प्रकार की कामना का न होना ही वास्तविक वैराग्य का लक्षण है। एक फारसी के विद्वान कहते हैं —

जोहदो तकवा चीस्त ऐ मर्दे फकीर।
ला तमा बूदन जि सुलतानों अमीर॥

किसी का प्रश्न है—"हे सत्पुरुष! मुझे यह बताओ कि सच्चा त्याग और तपस्या क्या है?" उत्तर दिया गया है—"राजा-महाराजा आदि सब की ओर से कामना हीन हो जाना।" अर्थात् राज्य के अतुल वैभव और सम्राट या बादशाह की उच्च पदवी आदि सभी से उदासीन हो जाना, स्वप्न मे भी उनकी कामना नही करना ही सच्चा तप-त्याग है।

जब तक हृदय मे कामनाएँ विद्यमान रहती है, यह आत्मा नाना प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे और कष्टो तथा वेदनाओ मे फसी रहती है। कामनाएँ

ही मनुष्य को दीन, हीन, निर्बल और क्षुद्र बनाती हैं। इनको धिक्कारते हुए कवि ने ठीक ही कहा है —

आं शि शेरां रा कुन्द रोबाह मिजाज।
एह तियाजस्त, एहतियाजस्त, एहतियाजस्त ॥

अर्थात्—जो वस्तु शेर के समान निर्भय और बलशाली व्यक्ति को भी लोमडी के समान डरपोक और कायर बना देती है, वह उसकी कामना ही है, कामना ही है, कामना ही है।

इसलिये, आत्म-कल्याण के अभिलाषी व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी कामनाओ पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये तथा अनन्त बलशाली आत्मा को दीन-हीन और निर्बल बना देने वाली समस्त आकाक्षाओ का त्याग करके सच्चा विरक्ति-भाव अपनाना चाहिये। जो ऐसा करने मे समर्थ हो जाता है वही सच्चा मुनि तथा वीर कहलाने का अधिकारी होता है।

सिक्खो के धर्म-ग्रन्थ मे गुरु अर्जुन देव ने लिखा —

जो हस मारे सोई शूरा, जो हस मारे सोई पूरा।
जो हस मारे तिसहि बड़ाई, हस मारे तिस का दुख जाई।
जो हस मारे सोई जती, जो हस मारे पावे गती,
हस मारे बिन थाप न परै, कोटि कर्म तप जाप करे।

—गोडी महल्ला, ५

कहा गया है कि वही पुरुष सच्चे अर्थों मे शूर-वीर परिपूर्ण प्रशसनीय और सच्चा साधु है जो कामनाओ का परित्याग करके वैराग्य भाव को अपनाता है। जब तक राग और द्वेष से मन मलिन बना हुआ है, भोग विलास की कामनाओ से दुर्गन्धित हो रहा है, तब तक बाह्य दिखावे से या ऊपरी क्रियाकाण्ड से कोई लाभ नही हो सकता कितना भी जप और तप क्यो न किया जाय, अगर हृदय से कामनाएँ लोप नही हुई है तथा वैराग्य का अकुर जमा नही है तो वह सब वृथा है।

वस्तुत अन्तर मे पानी के बुलबुले के समान उठती हुई कामनाएँ ही मनुष्य के लिये तरह-तरह तरह की आपत्तियाँ उत्पन्न करती हैं, वे ही मनुष्य के सत्पथ पर रोडा बनकर उसे आगे बढने से रोकती हैं और वही मनुष्य को अपने फदे मे फसाकर दुखी बनाती हैं। इसलिये इन दुखो से अगर डर है तो उसे वैराग्य-भाव को अपनाना पडेगा। क्योकि इस विषम ससार मे केवल वैराग्य ही अमृत बिन्दु के समान है। अन्य कोई भी साधन सच्चा

सुख और शाति प्रदान करने वाला नहीं है। वैराग्य से विभूषित पुरुष ही पाप के पथ से निवृत्त होकर पुण्य के पथ पर अग्रसर हो सकता है तथा इस लोक मे सभी का प्रीतिभाजन बनता हुआ परलोक मे भी सुख प्राप्त करता है।

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद मे कहा भी है—

येसं सम्बोधि अगेसु, सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटि निस्सगे, अनुपादाम ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता॥

—आ० ६, गा० १४

अर्थात्— इस ससार मे वही मुक्त हैं, जिन्होने ज्ञान के सब अगो से चित्त को सुव्यवस्थित कर रखा है, जो किसी भी वस्तु से लगे-लिपटे नही है, जो किसी पर मोह नही रखते और जिनकी वासना नष्ट हो गई है।

वास्तव मे वस्तुस्वरूप का सम्यक् ज्ञान वैराग्य का जनक है। जो मनुष्य ससार के अनित्य और निस्सार स्वरूप का ज्ञान कर लेता है, भोग विलास के साधनो की वास्तविकता को समझ लेता है और यह समझ लेता है कि आनन्द जड पदार्थों मे नही, आत्मा के अन्दर ही छुपा हुआ है तो स्वत ही उसके हृदय मे वैराग्य की निर्झरिणी प्रवाहित होती है और वह सच्चे ज्ञान का अधिकारी बनता है। अन्यथा उसका ज्ञान लोगो को भुलावा देने के अलावा और कुछ नही माना जा सकता।

पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी म० ने भी कहा है—

देत हैं औरन को उपदेश—
न आप हिये कछु बोध जगे हैं।
हेतु दृष्टान्त अनेक मिलाय—
रिझाय के लोग अनीत पगे हैं।
अर्थ मरोरी करे विपरीत,
खुशामदी द्रव्य के लोभ लगे हैं।
पोथी के बेंगन और हैं 'अमृत'
या विध मूरख लोग ठगे हैं।

कितना सुन्दर पद्य है? इसमे स्पष्ट बताया गया है—अपने को ज्ञानी साबित करने वाले व्यक्तियो के हृदय मे सम्यक् ज्ञान का लेश भी नहीं होता।

वे अपनी वाक्-पटुता के द्वारा भाँति-भाँति के दृष्टान्त देकर लोगो को खुश कर देते हैं तथा अपनी इच्छानुसार सही अर्थ वताने वाले शब्दो को तोड-मरोड कर लोगो के दिमाग मे उसका विपरीत अर्थ भर देते हैं। ऐसा वे द्रव्य के लोभ मे आकर द्रव्य देने वाले की खुशामद करने के लिये भी करते हैं।

किन्तु इससे उनकी आत्मा का क्या लाभ होता है? कुछ भी नही, वे मूर्ख लोगो को ठगते रहते है और अपने आपको भी धोखा देते हैं। उनका ज्ञान पोथी के वैंगन की तरह होता है। पुस्तको मे वैंगन के विषय मे लाख बातें पढ लेने पर जव तक उसे खाया नही जाय, न उसका स्वाद ही मालूम हो सकता है और न पेट ही भर सकता है। इसी प्रकार ज्ञान की लाख बातें कह लेने पर भी जव तक उसे जीवन मे नही उतारा जाता, आत्मा का किंचित भी कल्याण नही हो सकता।

अतएव मेरे बधुओ! हमे ज्ञान का सही उपयोग करना चाहिये। उसकी सहायता से ससार के पदार्थों का, जीवन की क्षण भगुरता का और आत्मा के सच्चे स्वरूप का निश्चय करना चाहिये। और तत्पश्चात उसे अपने आचरण अर्थात् क्रिया मे उतारते हुए अपने मन, वचन और काय इन तीनो योगो पर सयम रखते हुए आत्म-साधना मे जुट जाना चाहिये। कोरे ज्ञान से हमारा उद्देश्य कभी भी सिद्ध नही हो सकता, जव तक कि उसका उपयोग तीनो योगो के नियत्रण मे करते हुए आचरण को शुद्ध और दृढ न वनाया जाय। कहा भी है—

ज्ञान क्रिया विन मोक्ष मिले नहीं,
श्रीजिन आगम मांहि कही है।
एक ही चक्र से नाही चले रथ,
दो विन कारज होत नहीं है।
ज्ञान है पागुलो अंध क्रिया मिल-
दोनु कला करि राज ग्रही है।
कीजे विचार भली विध "अमृत"
श्रीजिन धर्म को सार यही है।

हमारे आगमो मे स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नही चलता उसके लिये दोनो पहियो की वरावर आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार आत्म-साधना रूपी गाडी भी ज्ञान और क्रिया या आचरण, इन दोनो के सहारे से ही चल सकती है। इनमे से एक का भी अभाव होने पर सव मामला ठप्प हो जाता है। इसका कारण यही है कि ज्ञान क्रिया नहीं कर

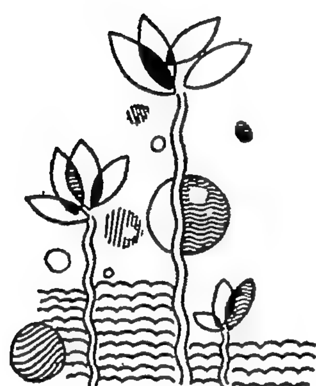
सकता और क्रिया को ज्ञान नही होता। अत जैसा कि पिछली वार मैंने लगडे और अधे का उदाहरण देते हुए वताया था कि दोनो ने एक दूसरे की सहायता से वन को पार किया था, उमी प्रकार ज्ञान और क्रिया भी एक दूसरे की सहायता से मोक्ष के मार्ग पर आत्मा को वढाते हैं।

अन्त मे मुझे केवल यही कहना है कि अगर हम अपने मनुष्य जन्म को सार्थक करना चाहते हैं तथा आत्मा को कर्म-वन्धनो से मुक्त करना चाहते हैं तो हमे सासारिक सुख की असारता और सयोगो की अनित्यता पर विचार करते हुए इनके प्रति अपने चित्त मे स्थित राग, मोह और आसक्ति को नष्ट करना चाहिये। ऐसा करने पर हमारे हृदय मे निरासक्त भाव वढेगा और ससार मे रहते हुए भी हम विदेह होकर रह सकेंगे।

हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जो महा-मानव हमसे पूर्व इस ससार मे विदेह बनकर रहे हैं, उनकी आत्मा से हमारी आत्माएँ किसी भी दृष्टि से हीन हैं। यह अकाट्य सत्य है कि उनकी आत्मा के समान ही हमारी आत्मा भी अनन्त वलशाली और अनन्तज्ञान की अधिकारिणी है। आवश्यकता केवल उसे जगाने की है तथा उस पर पडे हुए आवरणो को हटाकर उसकी शक्ति, ज्ञान और तेज को प्रकाश मे लाने की है।

और वह तभी प्रकाशित हो सकती है जवकि अज्ञान और मिथ्यात्व का परदा उस पर से हटा दिया जाय, कपाय और विपय वासनाओ की मलिनता के स्थान पर वैराग्य की पवित्र भावनाओ को स्थापित किया जाय तथा पूर्ण ध्यान रखा जाय कि कषायो का सयोग हमारे मन, वचन और काया—इन तीन योगो मे से किसी से भी न होने पाये जोकि कर्म-वधन का कारण बनता है। जो भव्य प्राणी ऐसा कर सकेंगे वे निश्चय ही अपने दुर्लभ मानव-जन्म को सार्थक बनाएँगे।





१६

अमरत्व की ओर

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

इस मानव-जीवन मे भावनाओ का बडा भारी महत्त्व है। शुभ भावनाएँ आत्मिक गुणो का विकास करते हुए उसे उन्नत बनाती हैं और उच्चगति की ओर ले जाती हैं, तथा अशुभ भावनाएं आत्मा के सद्‌गुणो का नाश करती हुई उसे अधोगति की ओर उन्मुख कर देती हैं। शुभ और सात्विक भावनाओ मे ईश्वरत्व का निवास है तथा अशुभ और कुत्सित भावनाओ मे शैतान का।

इसलिये हर ग्रन्थ और हर शास्त्र यही कहता है—अशुभ भावना का त्याग करो और शुभ भावना को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करो। आत्म-कल्याण का इच्छुक व्यक्ति ईश्वर से भी यही प्रार्थना करता है —

असतो मा सद्‌गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माअमृत गमय।

—बृहदारण्यक उपनिषद्

अर्थात्—असत्य से मुझे सत्य की ओर ले चलो, अधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।

यही बातें एक कवि ने हिन्दी भाषा मे कही हैं—

बुरे मार्ग से हटा कृपामय,
सत्य सुपथ पर ले जाओ!
अधकार मे भटक रहा हूँ,
मुझे उजाला दर्शाओ!
माया, ममता और मृत्यु से,
कपट जाल से छुडवाओ!
अमृत मय निज प्रेम सुधा से,
परम अमर पद दिखलाओ!

अभी मैंने सस्कृत के जो तीन वाक्य कहे थे उन्ही का यह हिन्दी मे भाषान्तर है। भाषान्तर क्यो किया जाता है? इसलिये कि अगर क्लिष्ट भाषा मे कोई अर्थ न समझ सके तो सरल भाषा के द्वारा उसे समझाया जाय।

तो 'असतो मा सद्गमय।' का अर्थ है, मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो! जिस व्यक्ति का आत्मा और परमात्मा पर विश्वास है, वह परमात्मा से यह प्रार्थना कर रहा है कि मुझमे ऐसी शुभ-भावनाएँ भर दो, जिससे मैं असत्य का त्याग करके सत्य पर दृढ हो सकूँ। क्योकि असत्य-भाषण ऐसा महापाप है जिससे किसी भी प्रकार से छुटकारा नही मिलता कहा भी है—

"असत्यवादिनः पुस., प्रतिकारो न विद्यते।"

योग-शास्त्र

झूठ बोलने वाले पुरुष का प्रतिकार नही है। अन्य पापो की तो तप आदि के द्वारा निर्जरा हो सकती है, लेकिन असत्य का फल तो भोगना ही पडता है।

इसके अलावा परलोक की बात छोड दें तो भी असत्यभाषी को यह लोक ही दुखदायी बन जाता है। यथा—

"नासत्यवादिन सख्यं, न पुण्य न यशो भुवि।"

—सुभाषित-सचय

झूठ बोलने वाले को इस पृथ्वी पर न तो सज्जन आदमियो की मित्रता ही प्राप्त होती है, न पुण्य ही मिलता है और न यश की ही उपलब्धि हो सकती हैं।

इसलिये असत्य का त्याग करके सत्य को ग्रहण करना आत्माभिलाषी प्राणियो के लिये अनिवार्य है।

सत्य की शक्ति

सत्य से आत्मा को असीम वल मिलता है। उसकी सहायता से व्यक्ति भयानक से भयानक सकटो का मुकावला कर सकता है तथा दानव के दिल को भी वदल सकता है।

अरव देश मे नावेर नाम के एक व्यक्ति के पास वहुत ही वढिया, ऊँची नस्ल का एक घोडा था। वही रहने वाले एक दाहर नामक व्यक्ति ने उस घोडे को देखा तो उसे स्वय लेने की इच्छा की।

दाहर ने नावेर से वहुत सा धन लेकर अथवा वहुत से ऊँट लेकर अपना घोडा देने के लिये कहा। किन्तु नावेर को भी अपना घोडा अत्यन्त प्रिय था अत उसने किसी भी कीमत पर अपना घोडा देने से इन्कार कर दिया।

किन्तु दाहर उन व्यक्तियो मे से था, जो नीति-अनीति का विचार किये विना, किसी भी तरह से अपना उल्लू सीधा करने की फिराक मे रहते हैं। उसने एक फकीर का वेश धारण किया और अपने आप को अत्यन्त रुग्ण दिखाते हुए जिधर से नावेर घोडे पर चढकर जाया करता था उस रास्ते पर वैठ गया।

कुछ समय वाद नावेर जव घोडे पर सवार होकर उधर से गुजरने लगा तो दाहर ने अपनी अशक्तता का प्रदर्शन करते हुए उससे प्रार्थना की कि वह घोडे पर चढाकर उसे अगले गाँव तक ले चले। नावेर वडा दयालु था, उसे फकीर वेशधारी दाहर पर दया आ गई और उसे घोड़े पर वैठाकर स्वय पैदल चलने लगा।

किन्तु दाहर ने घोडे पर वैठते ही चावुक फटकारते हुए नावेर से कहा—"तुमने सीधी तरह से घोडा नही दिया अत मैंने इसे अपनी चतुराई से ले लिया है।"

नावेर ने यह देखा तो पुकारकर दाहर से कहा—"भाई! तुमने असत्य-भाषण करके मेरा घोडा ले लिया तो कोई वात नही, किन्तु खुदा के लिये अपने असत्य की ऐसी सफलता का जिक्र किसी से मत करना, अन्यथा और लोग भी इसी प्रकार झूठ वोलकर अन्य निर्धन या भोले लोगो को ठगना प्रारम्भ कर देंगे और इस पृथ्वी पर पाप का वोझ वढने लग जाएगा।

नावेर की यह वात सुनकर दाहर के हृदय मे एकदम और अप्रत्याशित परिवर्तन आ गया। उसने उसी वक्त लौटकर घोडा नावेर को लौटा दिया। तथा सदा के लिये असत्य का त्याग करके उससे मैत्री कर ली।

यह था शुद्ध हृदय वाले तथा सत्य वोलने वाले की आन्तरिक शक्ति का प्रभाव। सत्य का जिम प्रकार प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष प्रभाव भी पडे विना नही रहता क्योकि भावना मे वडी भारी शक्ति छिपी रहती है। सत्यवादी की अन्तरात्मा इसीलिये अत्यन्त प्रभावशाली वन जाती है और वह शैतान के हृदय को परिवर्तित करने की क्षमता भी पा लेती है। नावेर का हृदय निष्कलक और मत्य के तेज मे दीप्त था इसीलिये दाहर के हृदय मे उसके थोडे मे शब्दो ने ही परिवर्तन ला दिया।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह सत्य का निर्भीकता पूर्वक उपयोग और उसका प्रचार करे। यह कभी न भूले कि जिस प्रकार अपना अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये किमी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही रहती, उसी प्रकार सत्य को भी किसी प्रमाण की अपेक्षा नही है। वह स्वय ही और अकेला ही अपना प्रमाण है। सत्य जितना महान् है, उतना ही सहज भी है। इसीलिये आत्मा को उसके द्वारा वल, पवित्रता और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

किसी भी प्रकार की हानि या प्राण-नाश के भय से भी हमे सच्चाई का त्याग नही करना चाहिये। ऐसा करने पर ही हमारी आत्मा शक्तिमान वनेगी तथा हृदय का अज्ञानाधकार दूर होकर सम्यक्ज्ञान की पवित्र ज्योति जल उठेगी। ससार के सभी धर्म सत्यवादिता पर वडा जोर देते हैं तथा सत्य को सवसे वडा धर्म मानते हैं। कहा भी है –

सर्वं वेदाधिगमन, सर्वं तीर्थावगाहनम्।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र ! कलां नार्हति षोडशीम्॥

—महाभारत

समग्र वेदो का पठन और समस्त तीर्थ का स्नान सत्य के सोलहवें भाग की भी वरावरी नही कर सकता।

वस्तुत शास्त्रो मे धर्म का निरूपण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है, उसके अनेक अग तथा लक्षण भी वताए गए हैं किन्तु उन सभी मे सत्य को मुख्यता दी गई है। क्योकि सत्य महान् है और उसकी महिमा अपार है। हम देखते हैं कि विश्व मे सैकडो धर्म है और उन सवकी मान्यताएँ परस्पर विरोधी भी हैं किन्तु सत्य एक ऐसी अद्भुत शक्ति है, जिसका लोहा सभी

धर्म मानते हैं। इसलिये यह कहने मे किसी को भी एतराज नही है कि सत्य सर्व सम्मत धर्म है। अन्य धर्मों की मान्यताओं को लेकर तो वे आपस मे लडते-झगडते हैं, खून की नदियाँ भी बहा देते हैं, किन्तु जहाँ सत्य की महानता सामने आती है वहाँ सभी धर्म एक स्वर से उसकी सराहना करते हैं। कोई भी धर्म सत्य की अवहेलना नही करता और सत्य का विरोध नही करता।

सत्य एक ऐसा ज्योतिर्मय दीपक है जिसे किसी भी प्रकार छुपाया नही जा सकता, क्योकि वह अपना प्रकाश स्वय ले चलता है। उसके समक्ष असत्य क्षण मात्र को भी ठहर नही सकता। उदाहरण के रूप मे कहा जाय तो असत्य एक घास के ढेर के समान है, जिसे सत्य की एक चिनगारी ही भस्म कर डालती है।

सत्य का महत्व वताये हुए सस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है—

सत्येनार्क प्रतपति, सत्ये तिष्ठति मेदिनी।
सत्यं चोक्त परोधर्म, स्वर्ग सत्ये प्रतिष्ठित ॥

— विश्वामित्र

सत्य से ही सूर्य तप रहा है। सत्य परही पृथ्वी टिकी हुई है। सत्य-भापण सवसे वडा धर्म है। सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है।

महाकवि शेक्सपियर ने भी मनुष्य को प्रेरणा दी है—

"While you live, tell the truth and shame the devil"

—जव तक जीवित रहो सत्य बोलो और असत्य रूपी शैतान को लज्जित करो।

स्पष्ट है कि सत्य महान् धर्म है और अन्तरात्मा की सत्ता है। इसको दृढतापूर्वक ग्रहण कर लेने पर अन्य सव धर्म सरलता से आचरित हो सकते हैं। किन्तु आवश्यक यह है कि सत्य केवल मनुष्य के वचन मे ही न रहे, वह मन और क्रिया मे भी आना चाहिये। क्योकि मन मे जो सोचा जाता है वह वचन मे आता है, और मन तथा वचन मे आया हुआ क्रिया मे उतरता है। ये तीनो योग एक-दूसरे से सम्वन्धित हैं। इसीलिये भगवान महावीर ने कहा है –

'मणसच्चे, वयसच्चे, कायसच्चे।"

केवल वचन से वोला हुआ सत्य जीवन को उन्नत नहीं वना सकता जव तक कि मन मे सचाई न हो और उसी के अनुरूप आचरण न किया

जाय। कोई भी मानव तभी महा-मानव कहला सकता है, जब कि उसके तीनो योगो मे एकरूपता हो। एक श्लोक मे कहा भी है—

मनस्येकं वचस्येक, काये चैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, काये चान्यद् दुरात्मनाम्॥

क्या कहा गया है ? समझे आप ? यही कि महात्माओ के मन, वचन तथा शरीर तीनो मे एकरूपता रहती है और दुरात्मा व्यक्ति मन मे कुछ और सोचता है, वचन से कुछ और कहता है तथा शरीर से कुछ और ही क्रियाएँ करता है। परिणाम यह होता है कि वह लोगो के द्वारा पाखडी और ढोगी कहा जाकर असम्मान का पात्र बनता है।

इसीलिये मुमुक्षु पुरुष ईश्वर से यह प्रार्थना करता है—'असतो मा सद् गमय !' मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो। अर्थात् मेरे हृदय से असत्य को हटाकर उसमे सत्य को प्रतिष्ठित करो।

प्रार्थना का दूसरा अग है—"तमसो मा ज्योतिर्गमय !" मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।

अधंकार और प्रकाश

प्रश्न उठता है कि अन्धकार किसे कहते हैं और प्रकाश किसे ? उत्तर यही है कि अज्ञान अन्धकार है और ज्ञान प्रकाश।

अज्ञान के विषय मे एक पाश्चात्य विद्वान ने बडी सुन्दर बात कही है। वह यह है—

Ignorcnce is the night of the mind but a night without moon or star

—कन्फ्यूशस

—अज्ञान मन की रात्रि है, और वह रात्रि जिसमे न तो चांद हैं और न तारे।

अज्ञान का यथार्थ परिचय लेखक ने दिया है। और गम्भीरता से विचार करने पर ही इसका सही अर्थ निकाला जा सकता है। कहा है—अज्ञान मन की रात्रि है। प्रथम तो रात्रि का होना ही निश्चेष्टता और क्रिया हीनता का होना है। हम देखते ही हैं और स्वय अनुभव भी करते हैं कि सारे दिन कार्य करने के पश्चात् शरीर और दिमाग इतना थका-थका सा हो जाता है कि रात को किसी भी कार्य के करने मे हमारी रुचि नहीं रहती। मन और मस्तिष्क सभी पर प्रमाद और अवसाद का आधिपत्य छा

जाता है। शरीर क्रियाहीन सा हो जाता है। केवल आलस्य में पड़े रहना और निद्रा लेकर समय व्यतीत करने के अलावा कोई भी आत्म-उत्थान का प्रयत्न समीचीन रूप से नही किया जा सकता। यही हाल अज्ञान का है। जब तक यह मन पर छाया रहता है, मनुष्य आत्मा-परमात्मा, लोक-अलोक पाप-पुण्य आदि किसी का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की कामना नहीं करता। कूप-मडूक के समान अपने चारो ओर के दृश्यमान पदार्थों को ही ससार समझता हुआ उन्ही के घेरे मे पडा रहता है।

दूसरी बात रात्रि मे भी चाँद और तारो के न होने की है। इससे आशय है कि मनुष्य अगर अपनी क्लाति और थकावट के बावजूद भी कुछ करना चाहता है तो कम से कम चन्द्रमा और तारे अपने मद प्रकाश मे भी उसके कुछ तो सहायक बनते हैं तथा मार्ग भ्रष्ट व्यक्ति को मार्ग-दर्शन करते हैं। अमावस्या की घोर अधेरी रात्रि मे जब कि हाथ को हाथ सुझाई नही देता, वह अपना कौनसा कार्य सिद्ध कर सकता है? साँप, बिच्छु आदि विषैले जानवरो से भी तो अपना बचाव नही कर पाता।

इसी प्रकार अज्ञान के घोर अन्धकार मे जहाँ चाँद और तारो के समान ज्ञान की क्षीण ज्योति भी नही होती, मनुष्य आत्म-उत्थान के लिये रच-मात्र भी प्रयत्न नही कर सकता। जहाँ अज्ञान है वहाँ आत्म-मनन, आत्म-चिंतन आदि सभी कुछ उसके लिये असम्भव कार्य हैं। उलटे ज्ञान का प्रकाश न होने से विषय, कषायादि के नाग उसे डस लेते हैं।

इसीलिये महापुरुष मनुष्य को अज्ञान का अन्धकार दूर करने की बार-बार प्रेरणा देते हैं, तथा अपने ज्ञान की ज्योति जलाकर उसे मार्ग सुझाते हैं। न मानने पर वे उसे ताडना भी देते हैं जैसा कि एक पद्य मे झलकता है—

पडा पर्दा जहालत का, अकल की आँख पर तेरे;
सुधा के खेत मे तूने, जहर का बीज क्यो बोया?
अरे मतिमन्द अज्ञानी, जन्म प्रभु भक्ति बिन खोया॥

कहा है—"अरे निर्बुद्धि! तेरी अक्ल पर अज्ञान का यह कैसा परदा पडा हुआ है? इसी के कारण तुझे उचित अनुचित का भी भान नही रहा। और तूने अमृत के इस खेत मे विष का बीज बो दिया। अपना समग्र जीवन ही तूने ईश्वर की भक्ति के अभाव मे निरर्थक खो दिया।

आपको जिज्ञासा होगी कि अमृत का खेत और जहर का बीज क्या है? बधुओ, यह मानव शरीर ही बीज बोने का क्षेत्र है। अगर मनुष्य इस दुर्लभ जीवन को पाकर भी अपने मन के क्षेत्र मे दान, शील, तप, भाव, भक्ति और

वैराग्य आदि के बीज नही बोता तो उसे मोक्ष रूपी अमृत-फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अमृत-पान करने पर मनुष्य पुन नही मरता, इसी प्रकार मोक्ष-प्राप्त कर लेने पर भी पुन. पुन जन्ममरण का कष्ट नही उठाना पडता ।

किन्तु अज्ञानी पुरुष ज्ञान के अभाव मे इस बात को समझ नही पाता तथा जिस मन के क्षेत्र में अमृत के बीज बोने चाहिये, उसमे काम, क्रोध, मद, मत्सर, दभ, मोह आदि जो आत्मा के लिये विष, बीज के समान हैं, उन्हे ही बोता रहता है । परिणाम यह होता है मोक्ष-रूपी अमर-फल की प्राप्ति के स्थान पर नरक एव तिर्यंच गति रूप विष-फल प्राप्त करता है तथा पुन पुन जन्म और पुन पुन मरण के दुखो को भोगता है ।

ऐसा क्यो होता है ? इसलिये कि अज्ञानी की दृष्टि भूत और भविष्य से हटकर केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है । वह भविष्य से कोई सरोकार नही रखता, अर्थात् भविष्य की कुछ भी चिन्ता नही करता । इसीलिये वह अपने भविष्य को सुधारने की ओर ध्यान नही देता । वह वर्तमान को ही सब कुछ समझता है अत मन की तरगो पर बहता रहता है, इन्द्रियों के सकेतो पर नाचता है, और विषय-वासनाओ के फदे मे फसा रहता है । इतना ही नही, अपनी घोर अज्ञानता के कारण वह अपने अज्ञान ही तो नही समझ पाता । फिर उसे दूर करने की चेष्टा कैसे कर सकता है ?

इसलिये भक्त ईश्वर से प्रार्थना करता है—"प्रभो ! मुझे अज्ञान रूपी अन्धकार से बचाकर ज्ञान-रूपी प्रकाश की ओर ले चलो ।"

भक्त ऐसी प्रार्थना क्यो करता है ? क्यो वह ज्ञान के प्रकाश की ओर जाना चाहता है ? इसलिये कि—

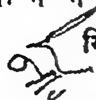
"अज्ञान प्रभव सर्वं, ज्ञानेन प्रविलीयते ।"

—अपरोक्षानुभूति

अज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न सभी प्रकार का माया जाल अथवा कर्मों का खेल ज्ञान की दिव्य-शक्ति से नष्ट हो जाता है ।

वस्तुत. ज्ञान का प्रकाश फैलते ही भौतिक एव आध्यात्मिक सभी प्रकार का अंधकार लोप हो जाता है । तथा मानव आत्मा और परमात्मा रूप तत्वो का चिंतन मन एव अध्ययन करते हुए अपने मन के विकारो का और मोह का नाश करने के प्रयत्न मे जुट जाता है । ज्ञान की प्राप्ति होते ही इस ससार

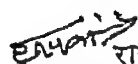
को सब कुछ समझने वाले प्राणी मे कितना परिवर्तन आ जाता है यह प० अमीऋषिजी म ने अपने एक पद्य के द्वारा बताया है। कहा है—



गिने वनितादिक बंधन से पुनि,
काम विकार लखे जिमि नाम।
अनित्य अपावन देह लखे,
कबहूं नहीं नेक भरे अनुराग॥
गिने दुखदायक सुख सभी,
धन धाम ममत्व हरे करि त्याग।
रहे निर्लेप सरोज यथा नर,
जान अमीरिख सत्य विराग॥

अन्तर मे ज्ञान का आविर्भाव होते ही जो मनुष्य सदा भोग-विलास मे ही अनुरक्त रहा करता था, वही, पत्नी, पुत्र तथा अन्य सबधियो के अनित्य स्नेह को बंधन समझने लगता है। भली-भाति जान लेता है कि माता-पिता, पत्नी या अन्य स्वजन सनेही, कोई भी आत्मा के सगे नहीं हैं। वे सब, इस ससार मे होने वाले क्षणिक और थोड़े से दु खो से भी मुझे छुटकारा नही दिला सकते तो पाप-कर्मों से मिलने वाले भयकर दु खो से मेरी आत्मा को कैसे बचा सकते हैं ? किसी की ताकत नही है कि वह आत्मा को जन्म, जरा, रोग और मृत्यु के पजों से अल्प-काल के लिए भी बचा सके। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट समझा जा सकता है।

मैं अनाथ हू ?



राजा श्रेणिक एक बार वन-क्रीडा करते हुए मडितकुक्षि नामक उद्यान मे पहुचे। वहाँ पर उन्होने एक अत्यन्त रूपवान और युवा मुनिराज को ध्यान मग्न देखा। वे बड़े चकित हुए और कुछ देर वहाँ ठहर गए। जब मुनि का ध्यान समाप्त हुआ तो उनसे पूछा— "महाराज ! आप इतने कातिमान हैं, फिर भी ऐसी युवावस्था मे आपने प्रव्रज्या अगीकर क्यो की ?

मुनिराज तनिक मुस्कराये और बोले—'राजन् ! मैं अनाथ हू, मेरा कोई नाथ नही है केवल इसीलिये।'

श्रेणिक का हृदय मुनि की बात सुनकर करुणा से भर गया। सोचने लगे—शायद इनका ससार मे कोई भी सबधी नही है इसीलिये इन्होंने साधुपना ग्रहण कर लिया है। यह विचार करते हुए वे प्रत्यक्ष मे बोले—"मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ राजमहल मे चलिये और जीवन के समस्त सुखो का आनन्दपूर्वक उपभोग कीजिये।"

पर मुनि ने उत्तर दिया—"जो स्वय अनाथ हो, उसे मैं अपना नाथ कैसे मान सकता हू ? और वह किसी का नाथ बनने का दावा भी किस बल-बूते पर कर सकता है ?"

उत्तर सुनकर श्रेणिक चकित हुए पर पुन अपना परिचय देते हुए स्नेह पूर्वक बोले -

"शायद आप मुझे नही पहचानते और मेरी ऋद्धि-समृद्धि के विषय मे नही जानते, इसीलिये ऐसा कह रहे हैं। मैं मगध देश का राजा हू मेरे राज्य मे सैकडो हाथी, हजारो घोडे और लाखो सिपाही हैं। करोडो व्यक्तियो का मैं स्वामी हूँ, फिर आपका नाथ क्यो नही हो सकता ?

"इसलिये कि अनाथ और सनाथ का सच्चा अर्थ और पारमार्थिक रहस्य आप नही जानते। मेरे जीवन का वृतान्त सुनकर इसे आप अवश्य समझ जाएंगे।"

मैं कौशाम्बी नगर के प्रभूत धन सचय नामक श्रेष्ठि का पुत्र हू। एक बार मेरे नेत्रो मे पीडा हुई। उसकी वेदना किसी प्रकार भी मिटी नही और बढते-बढते उसने दाहज्वर पैदा कर दिया। दूर दूर के मशहूर चिकित्सको को बुलाया गया और मेरा इलाज हुआ। माता-पिता अपनी समस्त सपत्ति खर्च करने के लिये तैयार थे। पतिव्रता पत्नी भी दिन-रात सेवा करने के लिये प्रस्तुत थी। किन्तु हर सभव प्रयत्न करने पर भी रोग घटा नही, वरन बढता ही गया।

एक दिन जब मैं वेदना से कराह रहा था। मुझे ध्यान आया कि इस ससार मे मैं असहाय हू, कोई भी व्यक्ति मेरे रोग को दूर करने मे सहायक नही है। विचार करते-करते मैंने निश्चय किया कि ज्योही मेरी व्याधि शात होगी, मैं समस्त विषय-भोगो को त्यागकर सयम मार्ग पर चल पडूगा। क्योकि ससार का कोई भी प्राणी जब मेरा नाथ नही है तो मैं स्वय ही आत्म-साधना करके अपना नाथ क्यो न बनूँ।

ऐसा सकल्प करके मैं शैय्या पर पडा रहा, किन्तु प्रातःकाल होते ही महान् आश्चर्यजनक घटना सामने आई कि मेरी समस्त व्याधि और सम्पूर्ण रोग बिलकुल ठीक हो गया था। मुझे दृढ विश्वास हो गया कि मैंने रात को जो शुभ-सकल्प किया था, उसी के प्रभाव से मैं स्वस्थ हुआ हू।

उसके पश्चात् मैंने अगले दिन ही मुनिव्रत अगीकार कर लिया। तथा आत्म-साधना मे जुट गया।

राजन्! आप मेरी कथा से समझ गए होंगे कि इस ससार मे जन्म, जरा, रोग और मृत्यु से प्रत्येक प्राणी त्रस्त है। इनसे कोई नही बच सकता और न दूसरो को बचा ही सकता है। इसलिये सभी अनाथ हैं, आप भी अनाथ हैं। केवल वही व्यक्ति अपने आपको अपना नाथ बना सकता है, जो आध्यात्मिक-साधना करके कर्मों का नाश करे और जन्म, जरा, मृत्यु तथा रोगो पर विजय प्राप्त करले।"

युवा मुनि का वृत्तान्त सुनकर श्रेणिक की आँखें खुल गई। बोले—"मुनिवर! आपको विषय-भोगो के लिये मैंने आमन्त्रण दिया, यह मेरी महान् भूल थी। मुझे क्षमा कीजिये। वास्तव मे ही इस ससार मे कोई किसी का नाथ नही बन सकता।

तो बधुओ! मैं आपको यह बता रहा था कि जो भव्य पुरुष अज्ञान के अधकार को चीरकर ज्ञान के प्रकाश मे आ जाते हैं, वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि शरीर नाशवान है। इसकी प्राकृतिक बनावट ही ऐसी है कि इसके बदलने मे एक क्षण भी नही लगता। हृदय की धडकन बन्द हुई नही कि फिर यह ससार छूट गया। श्वास चलते-चलते रुकी और प्राण-पखेरु अनन्त की ओर उडान भर गए। उसके बाद सारा कुटुम्ब-कबीला और धन-वैभव पराया हो गया, यही पडा रह गया।

जीवन की क्षणभगुरता बताते हुए भगवान महावीर ने कहा है—

इम सरीर अणिच्च, असुई असुइ संभवं।
असासया वासमिण, दुक्खकेसाण भायण॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १७ गा० १२

यह शरीर नाशवान है, स्वय अशुचि रूप है और अशुचि पुद्गलो से ही निर्मित हुआ है। यह आत्मा का आशाश्वत वासस्थान है तथा दु ख और क्लेशो का भाजन है।

पिंजरे का पक्षी

जिस प्रकार लम्बी यात्रा पर निकला हुआ मनुष्य रात्रि मे विश्राम करने के लिए किसी सराय मे ठहर जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कुछ समय के लिए इस शरीर रूपी सराय मे ठहरी हुई है। तथा अल्पकाल के पश्चात् ही पुन अपनी यात्रा पर रवाना हो जाएगी।

किन्तु खेद की बात है कि प्राणी आत्मा की इस स्थिति को नही समझता, वह इस शरीर-रूप पिंजरे को ही अपना सब कुछ मानकर इसी

की सार-सभाल और इसको ही सुख पहुचाने के प्रयत्न मे लगा रहता है। इसीलिये एक गुजराती कवि चेतन को उद्‌बोधन देते हुए कहता है —

गगनगामी अरे तोता, पड्यो तूं पिंजरा माही।
नथी आ पिंजरू ताहं, मिथ्या तू मान तो मारू !
उडी जा तू गगन पथे, तजी आ पिंजरू तारू।

इस आत्मा को कवि ने तोते की उपमा दी है। मराठी मे इसे पोपट और हिन्दी मे आप सुआ भी कहते हैं। तो कवि ने आत्मा को तोते की उपमा ठीक दी है, क्योकि तोता जिस प्रकार लोहे के बने पिंजरे मे कैद रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी इस देह रूपी पिंजरे मे बन्द रहता है। जब तक कि यह शरीर-रूपी पिंजरा नष्ट नही हो जाता। तो चेतन को तोते के नाम से सबोधित करते हुए कवि कहता है—

"अरे तोते ! तू तो गगनगामी है, ऊचे आकाश मे उडान भरने वाला पक्षी है, फिर क्यो इस पिंजरे मे कैदी बनकर पडा हुआ है यह पिंजरा तेरा घर नहीं है, मेरी इस बात को गलत मत समझ और मौका देखते ही इसे छोडकर निर्द्वन्द्व और निराकुल होकर अनन्त आकाश मे उडजा !"

कवि ने बडे सुन्दर ढग से जीव को समझाने का प्रयत्न किया है। बताया है कि आत्मा का निजी स्वभाव किसी भी शरीर रूपी पिंजरे मे कैद रहने का नही है, अपितु हलका होकर ऊँचा उठने और मुक्ति-धाम की ओर अग्रसर होने का है। अगर यह नीचे की ओर अर्थात् अधोगति की ओर जाती है तो अपने स्वभाव के विपरीत अशुभ कर्मों के भार से जाती है।

अशुभ-कर्म या पाप-कर्म जबरन आत्मा को नीचे ले जाते हैं। ठीक उसी प्रकार कि तैरने का स्वभाव रखने वाली तुम्बी को उसके ऊपर चढी हुई मिट्टी पानी के अन्दर ले जाती है। तुम्बी पर चढा हुआ मिट्टी का लेप उसे जल मे डुबोता है, इसी प्रकार आत्मा पर चढा हुआ कर्मों का लेप भी उसे अधोगति मे ले जाता है।

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र मे वर्णन आता है—आत्मा पर चढने वाले कर्मों के लेप आठ प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एव अतराय। ये आठ-आठ लेप आत्मा पर चढ जाते हैं। और उनके भार मे वह अधोगति की ओर प्रयाण करती है।

पर एक बात सदैव ध्यान मे रखने की है कि तुम्बी पर मिट्टी का

लेप चढ जाने से वह उसके भार के कारण जल मे नीचे अवश्य जाता है, पर ज्यो-ज्यो मिट्टी गीली होकर तुम्बी से अलग होती है, त्यो त्यो वह अपने जल के ऊपर रहने वाले स्वभाव के कारण ऊपर उठती जाती है और मिट्टी के सपूर्णतया उससे अलग हो जाने पर पुन जल के ऊपर तैरने लगती है।

इसी प्रकार आत्मा भी अष्ट-कर्मों के लेप के कारण अपने स्वभाव के विपरीत नरक निगोदादि गतियो मे जाती अवश्य है, किन्तु ज्यो-ज्यो कर्मो का लेप भुगता जाकर झडता जाता है, त्यो-त्यो वह भी पुन ऊपर की ओर उठती जाती है।

इसीलिए कवि ने कहा है—

उड़ी जा तू गगन पंथे, तजी आ पिंजरू तारू !

अर्थात्—तू अपने आत्म-स्वरूप को समझ और कर्मों का भार लेकर नीचे जाने की बजाय उनका नाश करके ऊपर की ओर चला जा। पर ऊपर जाने के लिये शुभ कर्म करके पुण्योपार्जन कर ताकि पुन किसी भी शरीर-रूपी पिंजरे मे तुझे कैद न होना पडे ! अब समस्या यह है कि शुभ-कर्मों का उपार्जन कैसे हो ? निंबोली बोकर कोई आम प्राप्त करना चाहे तो वह सभव है क्या ? नही, इसीलिये आगे कहा है—

रमा रामा विषे रातो, रह्यो मद मोह मा मातो।
न शोधी तरवनी कूंची, गयो आ कीच मा खूंची॥

तू कनक और कान्ता मे निमग्न होकर अपने आपको भूला हुआ है तथा मद, मत्सर मोह आदि के कीचड़ मे आकठ फंस गया है। ऐसी स्थिति मे कैसे समझ सकेगा कि मेरा कर्तव्य क्या है, और किस प्रकार इस पिंजरे से मुक्त हुआ जा सकेगा ?

तजी शुभ नीर गंगा नूं, पिये जल केम रे खारू,
उडी जा तू गगन पथे, तजी आ पिंजरू तारू।

अरे चेतन ! तू जिनवाणी रूपी गगा के अमृतमय जल का त्याग करके विषय-विकार रूप खारे सागर के जल का पान क्यो कर रहा है ? क्या इससे तेरी आत्मा की प्यास मिट सकेगी ? कभी नही, इसलिये तू अपने विवेक का उपयोग कर तथा त्याग, भक्ति और वैराग्य को ग्रहण करके समस्त कर्मों का नाश करता हुआ इस पिंजरे को छोडकर अपने उच्च और गतव्य स्थान की ओर उड जा।

बधुओ ! ज्ञान का यही सार है कि उसकी सहायता से आत्मा अपने

निज-स्वरूप को पहचाने तथा उसकी मुक्ति के लिये सम्यक् रूप से साधना करे। ज्ञान के अलावा ससार की अन्य कोई भी शक्ति उसे भव-सागर से पार नही उतार सकती। कहा भी है —

संसार सागरं घोर, तर्तुमिच्छति यो नर,
ज्ञान-नाव समासाद्य, पारं याति सुखेन स ॥

जो मनुष्य इस घोर ससार सागर को सुखपूर्वक तैर जाना चाहता है, उसे ज्ञान-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिये।

वास्तव मे, ज्ञान के समान अद्भुत और दुर्लभ वस्तु इस ससार मे दूसरी नही है। ज्ञान की महिमा की ससार के सभी शास्त्र एक स्वर से सराहना करते हैं और यह अतिशयोक्ति भी नही है। एक उक्ति मे इसकी सचाई का अनुमान लगाया जा सकता है —

अज्ञानी क्षपयेत् कर्म, यज्जन्मशतकोटिभि.।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहन्त्यन्तर्मुहूर्तके ॥

अर्थात् अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों को नाना प्रकार के कष्ट सहन करके और तपस्या करके सैकडो करोडो जन्मो मे खपा पाता है, ज्ञानी पुरुष उन्हे तीन गुप्तियो से युक्त होकर, मन, वचन, काय के व्यापारो का निरोध करके अन्तर्मुहूर्त मे ही खपा डालता है।

कहाँ सैकडो, करोडो जन्म और कहाँ अन्तर्मुहूर्त। इतना महान अन्तर ज्ञान के प्रभाव से ही तो है। इसीलिये भक्त अतीव आग्रहपूर्वक भगवान से प्रार्थना कर रहा है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

'हे प्रभो! मुझे अज्ञान के अंधेरे से निकालकर ज्ञान के पवित्र और उज्ज्वल प्रकाश मे ले चलो।"

और अत मे वह कहता है **'मृत्योर्माऽमृत गमय।'**

अर्थात्—'मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो!'

अमरत्व मिले कैसे ?

मृत्यु से अमरता की ओर जाने का अर्थ है जन्म-मरण से मुक्त हो जाना। यह अभिलाषा रहती तो प्रत्येक प्राणी मे है, हमारी और आपकी भी इच्छा यही है। पर केवल इच्छा मात्र से तो सिद्धि मिल नही सकती।

व्यक्ति अपने गतव्य स्थान पर पहुँच जाना चाहता है, किन्तु चले एक कदम भी नही तो क्या वह अपने इच्छित स्थान पर पहुँच जाएगा ? नही, उसे चलना तो पडेगा ही। हम भी जन्म-मरण की शृ खला को तोडना चाहते हैं पर मोह, ममता और आसक्ति को नही छोड सकते, त्याग और तपस्या के मार्ग पर नही बढ सकते। फिर आत्मा का कल्याण कैसे होगा ? हम भूल जाते हैं कि यह ससार असार है, सासारिक सुख झूठे हैं, इसमे दिखाई देने वाले सभी दृश्यमान पदार्थ नश्वर हैं। और तो और, यह देह भी तो अपनी नही है, फिर भी कहते हैं यह मेरा है, यह मेरा है ! क्या इसी भावना को लेकर हम अपने कर्मों को नष्ट कर सकेंगे ?

एक श्लोक मे कहा गया है—

मम गृह वनमाला वाजिशाला ममेय।
गज वृषभगणा मे भृत्य सार्था ममेमे।
वदति सति ममेति मृत्युमापद्यसे चेत्,
नहि तव किमपि स्याद्धर्ममेकं विमन्यत् ॥

कहा है—"भोले जीव ! तू कहता है यह मेरा मकान है, मेरा बगीचा है, यह मेरे घोडे की घुडसाल है तथा ये हाथी और बैल सभी मेरे हैं। मेरे अनेक भृत्य हैं और मैं उन सबका स्वामी हू। किन्तु जब मृत्यु समीप आ जाएगी तब तेरा अपना क्या रहेगा ? क्या इन वस्तुओ और प्राणियो मे से कोई भी तेरा साथ देगा ? नही, एक तेरे साथ रह सकेगा धर्म। वह भी तभी, जब कि जीवन मे तू उसका अर्जन करेगा। बाकी सब तो यही रह जाने वाला है, कुछ भी साथ नही जाएगा। उलटे, इन सब मे रही हुई तेरी आसक्ति तुझे अधोगति की ओर ढकेल देगी।"

तो जब यह सब, अर्थात् ससार के समस्त पदार्थ, सारे सम्बन्धी और अपार धन-वैभव इस शरीर के नष्ट होते ही यही छूट जाने वाला है, हम क्यो न इन्हें पहले ही छोडकर अपनी आत्मा को कर्म-रहित बनाने का प्रयत्न करें ताकि यह इस देह-रूपी पिंजरे से मुक्त होते ही अपने स्वभावानुसार ऊपर की ओर ही गमन करें, अपनी स्वाभाविक गति के विपरीत कर्म-भार के बोध से लदकर नीचे की ओर न जाए।

पहले ही ससार छोड देने का अर्थ यह नही है कि आत्म-हत्या कर ली जाय और इस प्रकार हम यह संसार छोडें। मेरा आशय यह है कि हम ससार

र प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी के प्रति रही हुई आसक्ति तथा 'मोह' का गग करें, ससार मे रहते हुए भी ससार से अलिप्त रहे, इसे अपने अन्दर न खें। ससार का सभी कुछ, यहा तक कि यह शरीर भी चाहे कितनी भी इसकी सुरक्षा क्यो न की जाय एक दिन नष्ट होने वाला है, अत इसका ख़याल छोडकर हमे अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

एक बार श्रीमद्राजचन्द्र ने कुतूहलवश एक व्यक्ति से प्रश्न किया— "अगर तुम एक हाथ मे घी का भरा लोटा और दूसरे हाथ मे छाछ का भरा लोटा लेकर चलो, तथा रास्ते मे किसी का धक्का लगे तो तुम किस लोटे को सभालोगे ?"

"घी का लोटा ही सभालेंगे।" उत्तर मिला।

राजचन्द्र मुस्कराते हुए बोले—"इतना ज्ञान होते हुए भी मनुष्य छाछ के समान देह को सभालता है और घी के समान जो आत्मा है, उसे गिरने देता है। कैसी नादानी है ?"

तो वन्धुओ ! हमे ऐसी नादानी नही करनी है, यही प्रयत्न करना है कि हमारी आत्मा उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई मृत्यु से अमरत्व की ओर बढे तथा हमारी प्रार्थना—'मृत्योर्मामृत गमय।' सार्थक वन सके।

प्रार्थना मे अभूतपूर्व शक्ति है। लार्ड टेनीसन ने तो कहा है —

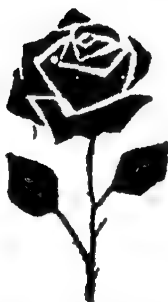
"More things are wrought by prayer than the world thinks of"

—जितना ससार समझता है, प्रार्थना से उससे कही अधिक कार्य सिद्ध होता है।

पर आवश्यकता यह है कि वह शब्दो के साथ-साथ हृदय से भी नि सृत हो। प्रार्थना के स्वरो के साथ अगर हृदय नही बोला तो वह प्रार्थना तोतारटंत से अधिक महत्त्व नही रखेगी। प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के हृदय मे सच्ची लगन और दृढता भी होनी चाहिए। मनुष्य-जन्म को केवल वही व्यक्ति सार्थक वना सकता है। वही स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है जिसका हृदय फौलाद के समान दृढ हो। अगर सारा ससार भी हाथ मे नगी तलवार लेकर उसका विरोध करने पर उतारू हो जाय या उसके मार्ग मे दीवार वनकर खडा हो जाय, तव भी वह अपने निश्चय से न हटे, जिसके द्वारा वह आत्म-साक्षात्कार करना चाहता है, आत्मा को

उसके स्वाभाविक रूप मे लाना चाहता है, वही पुरुप-पु गव मुक्ति-धाम का अधिकारी वन सकता है।

इसलिये वन्धुओ ! अपनी इच्छाशक्ति को जगाओ, अपने आप मे विश्वास रखो, तथा सच्चे हृदय से ईश-प्रार्थना करते हुए कल्याण के मार्ग पर वढने का प्रयत्न करो। ऐसा करने पर निश्चय ही तुम्हे सत्य की प्राप्ति होगी, तुम्हारी आत्मा मिथ्यात्व और अज्ञान के घोर अधेरे से निकलकर ज्ञान के दिव्य प्रकाश की ओर वढेगी तथा मृत्यु को जीतकर अमरत्व की प्राप्ति कर सकेगी।





१७
सफल जीवन किसका ?

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

हम देखते हैं कि गगन मडल मे काले काले बादल उमडते हुए आते हैं और बरस कर चले जाते हैं, किन्तु स्वाति-नक्षत्र मे गिरने वाली बूंदो का जो महत्व माना जाता है वह मूसलाधार बरसने वाली अन्य असख्य बूंदो का नही ।

इसी प्रकार ससार मे अनेकानेक मानव देहधारी जीव जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु जो मानव इस पृथ्वी पर आकर आत्म-कल्याण करके अपना जीवन सफल बना जाते हैं उनका जन्म लेना सार्थक कहलाता है । अन्य मनुष्यो का नही ।

जिज्ञासा होती है कि ऐसा क्यो ? सभी मनुष्य तो समान हैं । सभी इस ससार मे एक से कार्य करते हैं अर्थात् पेट भरने के लिये कमा लेते हैं, समय पर खाते हैं, खेलते हैं, सोते हैं, माता-पिता और अपने परिवार का भरण-पोषण भी करते हैं । यह दूसरी बात है कि किसी के पास वैभव अधिक है तो वह बडे पैमाने पर सासारिक सुखो का उपभोग करता है और किसी के

पास कम है तो वह थोडे मे ही गुजर कर लेता है पर इससे कौनसा अतर आता है ? क्रियाएँ तो सभी की एक जैसी ही हैं।

सफल जीवन

साधारण दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव मे ही सभी मानवो की क्रियाएँ करीब-करीब एक जैसी ही दिखाई देती है। किन्तु सूक्ष्म और गभीर दृष्टि से देखने पर उनमे जमीन-आसमान के जितना अन्तर दिखाई पड सकता है।

जिन व्यक्तियो की दृष्टि सीमित होती है, वे केवल इहलौकिक सफलता पर ही विचार करते हैं। उनमे भी कोई कुबेर के समान धनी बनने मे अपने जीवन की सफलता मानते हैं, कोई मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति मे जीवन का साफल्य देखते हैं, कोई परिवार की वृद्धि मे मानव-जीवन की सार्थकता समझते हैं और कोई अधिक से अधिक भोगोपभोग भोग लेने को ही जीवन की सफलता कहते हैं। इस प्रकार इहलौकिक सफलता पर विचार करने वाले व्यक्तियो से भी बडा अन्तर पाया जाता है।

किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इन समस्त सफलताओ से भी भिन्न विचार रखते हैं। उनकी दृष्टि मे ये समस्त इहलौकिक सफलताएँ नगण्य है, जिनका प्राप्त करना और न करना समान है। प्रश्न उठता है, ऐसा क्यो ? वे मानव-जीवन की सफलता फिर किसमे मानते है ? इसी का उत्तर मैं देने जा रहा हूँ।

जो व्यक्ति इन समस्त सासारिक सफलताओ को जीवन की सफलता नही मानते, उनकी दृष्टि इस ससार मे ऊपर उठकर पारलौकिक सफलता पर टिकी रहती है। समस्या फिर सामने आगई कि आखिर यह पारलौकिक सफलता क्या है ? वह कौनसी ऐसी सफलता है जो धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा, परिवार का सुख और नाना प्रकार के भोगोपभोगो को भी मात करती है ?

आत्म-कल्याण

जीवन की सार्थकता और सच्ची सफलता आत्म-कल्याण मे है। आत्म-कल्याण का अभिप्राय है, आत्मा का अपने विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर लेना। जो महामानव अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं वे सासारिक या इहलौकिक सुखो को अनित्य और हेय समझते हैं। क्योकि वे जान लेते हैं, ये सासारिक सुख या सफलताएँ आत्मा को अपने विशुद्ध रूप मे लाने के बदले और भी अशुद्ध बना देती हैं। परिणाम यह होता है कि यह मानव-जीवन जिसके द्वारा सदा के लिये इस ससार से मुक्त हुआ जा सकता

है, पुन अनत काल के लिये चौरासी लाख योनियों मे भटका देता है। तथा एक वार इसके व्यर्थ चले जाने पर पुन प्राप्त होना भी दुर्लभ हो जाता है। अतएव इस अमूल्य जीवन को ससार के क्षणभगुर सुखो की प्राप्ति मे नष्ट कर देना महामूर्खता है। आत्म-कल्याण के इच्छुक प्राणी ऐसी मूर्खता नही करते तथा कोई भी क्रिया ऐसी नही करते जिससे आत्मा का अहित हो।

वैदिक धर्म मे तो उस मनुष्य को, जो नर-देह पाकर भी उससे सच्चा लाभ नही उठाता आत्म-हत्यारा कहा जाता है। यथा —

नृदेहमाद्य सुलभ सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पे गुरुकर्ण धारम्।
मयाऽनुकूलेन नयस्व तारितं,
पुमान् भवाब्धि नं तरेत् स आत्महा॥

—श्रीमद्भागवत, ११-२०-१७

अर्थात्—यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलो की प्राप्ति का मूल है और अत्यत दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस ससार से पार उतरने के लिये एक सुदृढ नौका है तथा शरण ग्रहण करने से गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का सचालन करने लगते हैं। इतना ही नही, स्मरण मात्र से ही अनुकूल होकर मैं (शुद्धात्मा) लक्ष्य की ओर बढने लगता हू। इतनी सुविधाएँ पाकर भी जो इस शरीर के द्वारा ससार-सागर मे पार नही हो जाता, वह अपनी आत्मा का घातक है।

इसीलिये ससार के महापुरुष इस शरीर से सम्पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। इस जीवन का सार क्या है, उसे खोजते हैं। वह सार क्या है इस विषय मे शास्त्रकार कहते हैं —

"देहस्य सार व्रतधारणं च।"

इस देह को धारण करने का सार है—व्रत अगीकार करना। चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करते-करते बडी कठिनाई से यह मानव-शरीर मिलता है। मनुष्य समार के लाखो प्राणियो मे सर्व-श्रेष्ठ माना जाता है। इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि समस्त भूमण्डल के प्राणियो की अपेक्षा इसमे अनेक गुनी बुद्धि है, विवेक है, असाधारण मस्तिष्क और विशाल हृदय है। सबसे बडी विशेषता तो इसकी यह है कि इसे व्यक्त वाणी प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा वह दूसरो की सुनता है और अपनी कहता है। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से तो शेर-चीते, हाथी, घोडे आदि अनेक प्राणी इसकी अपेक्षा अधिक

शक्तिशाली हैं किन्तु अपने बौद्धिक बल से इसने सबको मात कर दिया है तथा सभी को अपने वश मे कर लिया है।

नीतिकारो का कथन भी है—

"बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?"

—जिसके पास बुद्धि है, वही बलवान है। बुद्धिहीन के पास बल भी नही है।

तो इस प्रकार मानव-जीवन बड़ा महिमामय है और प्रकृष्ट पुण्य के उदय से इसकी प्राप्ति होती है। किन्तु फिर भी इसकी महत्ता अपूर्ण रह जाती है, अगर इसको मनुष्य अपनी इच्छानुसार व्यतीत न करे, सयम के द्वारा इसको वश मे रखते हुए इसका सही लाभ न उठाए।

शरीर की शोभा

जीवन को सयमित रखने का उपाय है व्रत धारण करके उसको अपनी इच्छानुसार चलाना। व्रतो को धारण करने से मनुष्य-जीवन की महत्ता अनेक गुनी बढ जाती है दूसरे शब्दो मे यह अधिक शोभा-युक्त बन जाता है। वास्तव मे ही जीवन की शोभा और प्रतिष्ठा व्रतो को ग्रहण करने मे ही है।

यद्यपि हमारे तीर्थंकर-अवतारी पुरुष भी शारीरिक बनावट की दृष्टि से तो आज के ही लाखो करोडो मनुष्यो के समान थे। किन्तु आज हम उन्हे क्यो स्मरण करते है, क्यो उनका गुण-गान करते हुए श्रद्धा से भर जाते हैं? क्यो उनकी पूजा करते हैं और उनके नाम की माला फेरते हैं ?

केवल इसीलिये कि उन्होने अहिसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि महान् व्रतो को अगीकार किया था तथा अपना जीवन त्याग, तपस्या और उत्कृष्ट आत्म-साधना करते हुए व्यतीत किया था। उन्होने भली-भाति जान लिया था कि देह की शोभा और उसका सार केवल व्रतो को धारण करने मे ही है। एक उक्ति मे भी कहा गया है —

आनन्द रूपो निजबोधरूपो,
दिव्यस्वरूपो बहुनाम रूप
तप समाधौ कलितो न येन,
वृथा गत तस्य नरस्य जीवितम् ॥

जिस मनुष्य ने तपस्या करके और समाधि धारण करके अपनी आत्मा

के अनन्त आनन्दमय स्वरूप को नही पहचाना और जिसने अपने समस्त पर्यायो से अतीत दिव्य स्वरूप को नही जाना और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न नही किया उसका जीवन निश्चय ही व्यर्थ चला गया ।

ससार के सभी आस्तिक शास्त्र भी एक स्वर से यही कहते हैं कि मानव जीवन का उच्चतम उद्देश्य और सफलता आत्मा को उसके सही स्वरूप मे लाने तथा अक्षय शाति और अव्याबाध सुख को प्राप्त करने मे है । और इसीलिये तीर्थंकरो या अवतारी पुरुषो ने अपने राज्य पाट तथा अतुल-वैभव को ठोकर मारकर सम्पूर्ण त्याग और तपस्यामय जीवन अपनाया था ।

वन्धुओ ! ध्यान मे रखने की वात है कि भगवान शान्तिनाथ जी, कुन्थुनाथ जी और अरनाथ जी जैसे तीर्थङ्कर जव सासारिक अवस्था मे चक्रवर्ती थे, उनके पास क्या कमी थी ? एक चक्रवर्ती का वत्तीस हजार राजाओ पर अधिकार शासन होता है नौ निधान एव चौदह रत्न उनके अधिकार मे होते हैं । उनकी रिद्धि का वर्णन करना ही सम्भव नही है । आज उनके वैभव के सौवें हिस्से का मुकावला भी ससार का सवसे वडा धनी नही कर सकता । सक्षेप मे, अतुल वैभव, अवर्णनीय शरीर-सम्पदा, मान-प्रतिष्ठा और समृद्ध परिवार आदि जो ऐहलौकिक सफलताएँ होती हैं, उनमे से कौन सी वस्तु उनके पास नही थी ? अर्थात् सभी कुछ था ।

फिर भी उन्होंने इन सव का त्याग करके मन और इन्द्रियो को भोगोपभोगो से मोडकर सयम मे वाधा । अनेक महान् व्रतो को धारण कर इस देह की और जीवन की शोभा वढाई । यह क्यो ? इसलिए कि उन्हे अपनी आत्मा का कल्याण करना था, उसे समस्त कर्म-वन्धनो से छुडाकर मुक्तावस्था को प्राप्त कराना था ।

स्पष्ट है कि ससार के सारे सुख एकत्रित होकर भी आत्मा का रत्त-मात्र भी भला नही कर सकते । उलटे मनुष्य उनमे जितना अधिक रमण करेगा, जन्म-मरण उतना ही अधिक वढता जाएगा और उसकी आत्मा उतना ही अधिक दु ख को प्राप्त होगी । इसीलिए महापुरुष इन महादु खो के मूल ससार से ही विरक्त हो जाते हैं और इसे त्याग कर सच्चा सुख पाने के प्रयत्न मे लगते हैं ।

एण्ड्रू कारनेगी नामक पाश्चात्य विद्वान का कथन भी है —

The secret of happiness is renunciation "

सुख का रहस्य त्याग मे है ।

वस्तुत भौतिक सुखो का त्याग आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति का मार्ग है। जो महा-मानव ऐहलौकिक सुखो का त्याग करते हैं वे ही पारलौकिक सुख के अधिकारी बनते हैं। आज भी इस ससार मे ऐसी महान् आत्माए जन्म लेती हैं जो इस नर-देह मे रहकर भी विदेह बनकर आत्म-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाती हैं तथा सासारिक प्रपचो से बचती हुई त्याग-तपस्या की ओर बढती हैं।

हमारे श्रमण सघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज भी ऐसे ही युग-पुरुष थे, जिन्होने ससार की निस्सारता को भली-भाति समझकर अपना समग्र जीवन आत्म-कल्याण के प्रयत्न मे लगाया था। मुझे भी उनके दर्शन का सौभाग्य प्रथम अजमेर-सम्मेलन के अवसर पर प्राप्त हुआ था। अभी-अभी रतन मुनि जी ने उनके भव्य-जीवन पर काफी प्रकाश डाला है, किन्तु महापुरुषो के विषय मे जितना भी कहा जाय थोडा होता है, इसी दृष्टि से कुछ मैं भी कहने जा रहा हू।

नाम की महत्ता

उनका नाम भी उनके जीवन के समान ही आकर्षक था। क्या था ? 'आत्माराम'। दो शब्द हैं—आत्मा और राम ' राम किसे कहा जाता है ? रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति राम।' जिसके अन्दर योगी भी रमण करते हैं उसे राम कहते हैं। रामचन्द्र जी के विषय मे भी एक दोहे मे कहा गया है —

सूर्य वश में राम ने, किया सूर्य का काम।
अब भी घर-घर रम रहा, दो अक्षर का नाम॥

रामचन्द्र जी का जन्म सूर्यवश मे हुआ था। अपना जीवन भी उन्होंने अपने वश के नाम के जैसा ही प्रकाशित किया। आज भी घर-घर मे उनके महिमामय जीवन की विशेषताओ को रामायण के रूप मे गाया जाता है। और सुबह-शाम लाखो व्यक्ति घटो राम-नाम का जाप करते है। लोगो का विश्वास है - जैसा कि गुजराती दोहे मे कहा है —

'रा' उच्चरता मुख थकी, पाप पलाई जाय।
फिर मति आवे तेह थी, 'मम्मो' कमाडी थाय॥

बन्धुओ, यद्यपि 'रा' और 'म' का कोई गूढ अर्थ नही है। अन्य व्यञ्जनो के समान ही ये भी केवल दो अक्षर हैं। किन्तु इन दोनो से एक शब्द बना है जो एक व्यक्ति का नाम है। नाम भी इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति का

होता है और सभी के नाम केवल उस व्यक्ति का परिचय देते है उससे अधिक कोई महत्त्व नही रखते ।

किन्तु 'राम' एक ऐसे व्यक्ति का नाम था जिसको अनेकानेक व्यक्ति आज भगवान मानते हैं क्योकि उनका जीवन इतना महान् सद्‌गुण सम्पन्न, लोकहितकारी, पावन और धर्ममय था कि वह ससार के समस्त मानवो के लिये आदर्श वन गया और सदा के लिये स्मरणीय हो गया । लोगो के दिलो मे उस नाम ने इतनी श्रद्धा पैदा कर दी है कि उनके गुणो का उल्लेख किये विना ही केवल उनके नाम का स्मरण करके ही वे भव-सागर पार कर जाए गे ऐसा उनके हृदयो मे विश्वास हो चुका है ।

इसीलिये दोहे मे कहा गया है—राम-नाम के पवित्र शब्द मे से प्रथम 'रा' का उच्चारण करने से समस्त पाप मु ह के द्वारा पलायन कर जाते है, और वे पाप पुन मु ह मे प्रवेश न कर जाय इसलिये 'म' का उच्चारण किया जाता है । 'म' के उच्चारण से होठ किवाड के पल्लो की तरह वन्द हो जाते हैं । अर्थात् पापो को प्रवेश न होने देने के लिये किवाड वनकर उन्हें वाहर ही रोक देते हैं । यह चमत्कार श्रद्धा और भावनाओ का है जो राम के नाम मे इतनी शक्ति पैदा कर लेती हैं ।

राम शब्द के विषय मे और भी वहुत कुछ कहा गया है । देखिए :—

एक राम दशरथ का वेटा, एक राम घट-घट मे वैठा ।
एक राम का जगत पसारा, एक राम दुनिया से न्यारा ॥

एक राम दशरथ का वेटा था, यह आप जानते ही हैं । दूसरा राम आत्मा को वताया गया है जो प्रत्येक के अन्दर स्थित है । अगर कोई व्यक्ति किसी महत्वपूर्ण कार्य मे वार-वार असफल होता है तो आप उसे झिडकते हुए कहते हैं—"क्या तेरे मे राम ही नहीं है ?" इसके अलावा आप स्वय भी जव रोग आदि के कारण निर्बलता महसूस करते हैं और उठने-वैठने मे अशक्ति का अनुभव करते हैं तो कह देते हैं—"लगता है मेरे मे से राम ही निकल गया ।" तो इस प्रकार राम आत्मा के लिये प्रयुक्त किया जाता है, क्योकि आत्मा (वल) के निकल जाने पर ही शरीर अशक्त होता है ।

तीसरी वात है—'एक राम का जगत पसारा ।' यह माना जाता है कि प्रत्येक प्राणी मे रही हुई आत्मा परमात्मा का ही अश है । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग-अलग घरो मे जाकर भिन्न नही हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान आत्मा पृथक्-पृथक् जीवो में प्रविष्ट होकर भी विभिन्न नही होती । इसीलिये कहा गया है—एक राम का जगत पसारा ।

अब आता है—**'एक राम दुनिया से न्यारा।'**

कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा निरजन और निराकार होकर ससार से परे हो जाती है, अत उस अवस्था मे उसे दुनिया से न्यारा कहा जाता है। जब तक वह कर्म-भार से लदी रहती है, ससार मे जन्म-मरण करती हुई भटकती है तब तक वह दुनिया का पसारा मानी जाती है। और कर्म-भार से रहित होकर मुक्तावस्था मे पहुँचते ही उसे दुनिया से अलग माना जाता है।

इस प्रकार राम के चार प्रकार बताए गए हैं। आप भली-भाति समझ गए होगे कि 'राम' शब्द मे कितने गम्भीर अर्थ छिपे हुए है और इस शब्द के प्रति लोगो मे कितनी भक्ति, कितनी श्रद्धा और कितना विश्वास है ? महाकवि तुलसीदास जी ने भी कहा है —

रामनाम मणि दीप धरु, जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु, जो चाहसि उजियार॥

तो बधुओ, महापुरुषो का जीवन इतना महान होता है कि उनके इस लोक से प्रयाण कर जाने पर भी उनका नाम लोग बडी श्रद्धा और आदर से लिया करते हैं।

हमारे आचार्य श्री का नाम भी आत्माराम था। और नाम के अनुसार ही वे आत्मा मे रमण करने वाले थे। उनके जीवन की महानताओ का वर्णन शब्दो मे नही किया जा सकता। सौन्दर्य की दृष्टि से भी उनकी देह और आत्मा दोनो ही अद्वितीय थी।

एक पादरी ने उनकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा—"मेरी इन कन्याओ मे से किसी भी एक से आप विवाह कर लें, जो भी आपको पसद हो।"

पर जिसकी लौ ईश्वर से लग जाय, क्या वह इन्द्रियसुखो को अपना सकता है ? उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया और अपने ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण रूप से पालन किया।

अथाह ज्ञान कोष

आपने अल्प-वय मे ही सयम अगीकार कर लिया था और उसके पश्चात ज्ञान-वृद्धि मे लीन हो गए। आपका शास्त्र-ज्ञान अद्भुत था। ऐसा लगता था मानो ज्ञान का असीम कोष ही आपके हृदय मे छिपा हुआ है।

गूढ ज्ञान के परिणाम-स्वरूप आप बिना शास्त्र देखे ही बता देते थे कि यह बात अमुक सूत्र के अमुक पेज पर है और अमुक बात अमुक स्थान पर दी गई है। ऐसी विलक्षण बुद्धि और स्मरणशक्ति क्वचित ही पाई जा सकती है।

ठाणाग सूत्र के अनुयोग द्वार मे विभक्तियो का सबध आया है। आठ विभक्तियो का क्या अर्थ है और एक विभक्ति दूसरी विभक्ति मे कैसे लगती है, इस विषय मे 'विभक्ति-सवाद' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की आपने रचना की जो कि आपकी विलक्षण बुद्धि का परिचायक माना जाता है। आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और जो अभी अप्रकाशित हैं उनके प्रकाशन-कार्य मे प० मुनिश्री फूलचन्द्र जी श्रमण परिश्रम कर रहे हैं।

आपका ज्ञान न केवल जैन ग्रन्थों तक ही सीमित था, अपितु वैष्णव आदि अनेक धर्म ग्रन्थो का भी उन्होने गहरा अध्ययन किया था। वैष्णव धर्म-ग्रन्थो मे जो स्मृतियाँ हैं, उन स्मृतियो के साथ जैन शास्त्रो की गाथाएँ किस-किस प्रकार मेल खाती हैं, यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया तथा तत्त्वार्थ सूत्र जिसे श्वेताम्बर, दिगम्बर सभी आमना वाले मानते हैं, उसके सूत्रो का सबध हर सूत्रो मे किस-किस स्थान पर आया है यह भी आचार्य श्री ने प्रमाण सहित समाज के सामने रख दिया।

ऐसा अभूतपूर्व कार्य करने वाले और जिन-शासन की सेवा करते हुए उसकी महत्ता मे चार चाद लगाने वाले आचार्य क्या सहज ही उपलब्ध हो सकते हैं? यह उनकी विद्वत्ता और योग्यता ही थी, जिसके कारण समस्त श्री सघ ने पहले उपाध्याय का और तत्पश्चात् सादडी-सम्मेलन मे उन्हे आचार्य पद से विभूषित किया। वह भी उनके परोक्ष मे, जबकि वे स्वय तो लुधियाना मे विराज रहे थे।

कर्तव्य निष्ठा

आज हम देखते हैं कि मनुष्य को अगर थोडी भी सत्ता प्राप्त हो जाय तो उसके पैर सीधे नही पडते। अधिकार-मद उनपर इस प्रकार हावी हो जाता है कि औरो का अस्तित्व उन्हें अत्यन्त नगण्य और उपेक्षणीय मालूम होने लगता है। किन्तु हमारे आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने श्रमण सघ के सर्वोच्च पद से विभूपित होकर भी बता दिया कि —

पाके सतवा है बशर को रहना वाजिब किस तरह ?
जिस तरह झुककर रहे वह शाख जिस पर आये फल ॥

सतवा यानी अधिकार, पद या सत्ता। अधिकार शब्द बडा महत्वपूर्ण है।

इसमे चार अक्षर होते हैं। ध्यान मे रखने की बात है कि अधिकार पाकर अगर व्यक्ति उसका सदुपयोग करता है तथा निष्पक्षता और न्याय पूर्वक उसे काम मे लेता है, तब तो उसका अधिकार पाना सार्थक है। किन्तु अगर वह स्वार्थ के या अहकार के वशीभूत होकर उसका दुरुपयोग करता है तथा अपनी जिम्मेदारी का पूर्ण निर्वाह नही करता तो उसके अधिकार मे से 'अ' का लोप हो जाएगा और उसे मिलेगा केवल धिक्कार।

पद्य मे प्रश्न किया गया है—अधिकार या सत्ता पाकर मनुष्य को किस तरह रहना चाहिये ? उत्तर भी साथ ही है कि—जिस प्रकार फल आ जाने पर टहनी झुक जाया करती है, उसी प्रकार सत्ता-प्राप्त व्यक्ति को झुक जाना चाहिये।

आचार्य श्री ने इस बात को पूर्णतया साबित किया था। सत्ता पाकर भी वे कभी विवाद मे नही पडे तथा अत्यन्त नम्रता तथा सयमितता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करने मे तत्पर रहे।

अद्‌भुत उदारता

इस विषय मे एक पद्य लिखा गया है —

साहिबे ज़र मुफलिसो पर ज़र लुटाएँ किस तरह ?
जिस तरह सूखी जमीं पर अभ्र बरसाता है जल ॥

ज़र यानी धन। तो जर का साहब अर्थात् धन का स्वामी धन का किस प्रकार उपयोग करे ? उत्तर है—जिस प्रकार बादल असीम उदारता पूर्वक सूखी धरती पर जल बरसा कर उसे तृप्त कर देता है, उसी प्रकार जिसके पास धन है उसे आपत्ति ग्रस्त व्यक्तियो के समस्त अभावो को अपने धन से दूर करना चाहिये।

बधुओ ! आप जानते ही हैं कि साधुओं के पास धन नही होता। किन्तु क्या वह निर्धन कहलाते है ? नही, क्योकि उनके पास रुपये-पैसे से भी अमूल्य वस्तु होती है। वह क्या है ?—

"ज्ञान नाम महारत्न।"

रुपया, पैसा, अशर्फी या हीरे मोती माणिक आदि रत्न पदार्थ तो जड है, किन्तु ज्ञान नामक चेतना-शील तत्व सर्व श्रेष्ठ और महान रत्न है जिसके स्वामी सत महात्मा होते हैं।

ज्ञान रूपी धन जड धन से अनेक गुना उत्तम है क्योकि जड धन की वृद्धि और सुरक्षा करते-करते मनुष्य की आत्मा कार्य रूपी चोरो द्वारा चुरा

ली जाती है और इसके विपरीत ज्ञान-धन कर्म-रूपी शत्रुओ का नाश करता हुआ उनसे आत्मा की रक्षा करता है ।

भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने द्रव्य और ज्ञान मे अन्तर बताते हुए कहा है —

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ परतप !
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

कहा है—हे अर्जुन ! द्रव्ययज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योकि जितने भी कर्म हैं वे सब ज्ञान मे समाप्त हो जाते हैं।

तो कहने का आशय यह है कि द्रव्य की प्रचुरता होने पर गृहस्थ द्रव्य-यज्ञ करता है किन्तु हृदय मे विशालता और उदारता होने पर साधु ज्ञान-यज्ञ । द्रव्य यज्ञ मनुष्य कदाचित ही कर पाता है किन्तु ज्ञान-यज्ञ साधु चाहे तो प्रतिदिन और प्रति घटे भी कर सकता है ।

आचार्य आत्माराम जी म० ऐसे ही महामना मानव थे, जिन्होने अपना समग्र जीवन ज्ञान-यज्ञ मे गुजारा । उन्होंने शास्त्रो का गूढ अध्ययन करके उसका भाषान्तर किया और विषयो को सरल बनाते हुए जनता के सन्मुख रखा और प्रत्यक्ष मे अपने समक्ष उपस्थित प्रत्येक इच्छुक और जिज्ञासु व्यक्ति को ज्ञानामृत का पान कराया । यहाँ तक कि वृद्धावस्था के कारण नेत्र-ज्योति के अभाव में भी उन्होंने ज्ञान-दान जारी रखा ।

प्रकाण्ड विदुषी महासती उमराव कुँवर जी अर्चना ने मुझे बताया था कि जब वे अपनी शिष्याओ सहित अनार्य माने जाने वाले काश्मीर आदि हिमाचल प्रदेशो मे धर्म-प्रचार के उद्देश्य से निकली थी तब उन्होंने वयोवृद्ध आचार्य सम्राट आत्माराम जी म० की सेवा मे कुछ समय लुधियाना मे गुजारने का विचार किया ।

सुदूरवर्ती राजस्थान प्रदेश की साध्वी होने पर भी आचार्य श्री के द्वारा निष्कपट और अन्तरतम से दिया गया हार्दिक स्नेह देखकर वे दग रह गई, पर उससे भी अधिक दग तब हुई जबकि अपनी सकोचभरी विनय प्रार्थना पर ही आचार्य देव को शास्त्र-ज्ञान देने के लिये सहर्ष तैयार होते देखा और अनवरत पाँच महीने तक नेत्र-ज्योति के अभाव मे भी बिना किसी कठिनाई और रच-मात्र भी परेशानी के उन्होने एक-एक शास्त्र के साथ-साथ अन्य अनेक शास्त्रो के सम्बन्ध, उद्धरण और प्रमाण देते हुए विषयो को कर-ककणवत् स्पष्ट किया ।

कहने का आशय यही है कि, कितना अगाध था उनका ज्ञान और उसका दान देने की उदारता भी । महासती जी ने बताया था कि उन्हे यह अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ उसके कुछ माह पश्चात ही वह महान् आत्मा मुक्ति-धाम की ओर प्रयाण कर गई थी, जब तक कि वे अपनी काश्मीर-यात्रा से लौट भी नही पाई थी ।

इस प्रसग की जानकारी से भी स्पष्ट हो जाता है कि नेत्रो से ज्योति-हीन और शरीर से अत्यन्त अशक्त होते हुए भी उन्होने अपने भव्य-जीवन के अन्त तक भी अपना ज्ञान यज्ञ जारी रखा । ससार मे अद्वितीय धन ज्ञान, और उसे दान देने की उनकी उदारता आज हमारे समक्ष मिसाल के तौर पर है ।

मेरे बधुओ ! उन दिवगत आचार्य श्री के गुणो का वर्णन करने मे मैं अपने आपको समर्थ नही पाता । उनका ज्ञान, उनकी उदारता, उनकी कर्तव्यपरायणता, उनकी सयम निष्ठता, निरहकारिता, नम्रता तथा सहन शीलता आदि अनेक गुणो का इस अल्प-समय मे आखिर कैसे वर्णन किया जा सकता है ? उन्हें न अपने गुणो का अभिमान था और न अपनी देह की परवाह ।

शरीर की अत्यन्त चिन्ता-जनक स्थिति मे भी जब डॉक्टर ने उनसे पूछा—"गुरुदेव ! गुरुदेव ! आपको क्या तकलीफ महसूस हो रही है ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"डॉक्टर साहब ! मुझे तो कुछ भी तकलीफ नही है, तकलीफ तो मेरे पास जो लोग खडे हैं, उन्हें हो रही है ।"

कितना गूढ रहस्य है इनके दिये हुए उत्तर मे ! सम्पूर्ण रूप से विदेह हुए बिना क्या कोई ऐसा उत्तर दे सकता है ? जब कि हम तो डॉक्टर—वैद्य को देखते ही अपनी तकलीफो की एक लम्बी सूची तैयार कर देते हैं, उन्हें केवल दूसरो के मानसिक दुःख का ही खयाल रहा । वास्तव मे ऐसा तभी हो सकता है जब प्राणी आत्म-रमण मे खो जाय, अरे अपनी देह भी उसे अपनी महसूस न हो अर्थात् उसकी सम्पूर्ण चेतना देह से हटकर आत्मा मे केन्द्रित हो जाय ।

आचार्य श्री ऐसे ही विदेही प्राणी थे । अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने ससार मे रहते हुए भी ससार मे विरत रहकर व्यतीत किया । वे सच्चे साधु या सच्चे फकीर थे ।

मन लागो मेरो यार फकीरी में।
जो सुख पाऊँ राम भजन मे,
सो सुख नाँहि अमीरी में।
भला बुरा सब का सुन लीजे,
कर गुजरान गरीबी मे।
प्रेम नगर मे रहनि हमारी,
भली बनि आई सबूरी मे।
हाथ में कुंडी बगल मे सोटा,
चारों दिशा जगीरी मे—मन लागो० ॥

कबीर किसी से कहते है—"दोस्त ! मुझे तो अब फकीरी ही अच्छी लगती है। इस स्थिति मे निश्चित होकर ईश-स्मरण किया जा सकता है और उसमे जो सुख प्राप्त होता है वह अमीरी मे कदापि नही मिल सकता।

सच पूछा जाय तो अमीरी मानव के लिये सभी दृष्टियो से अभिशाप रूप ही है। अपने धन की बदौलत वह सुख पाना चाहता है किन्तु सुख उसके लिये आकाश-कुसुम हो जाता है, जिसे वह अनन्त जन्मो तक भी प्राप्त नही कर पाता। धन अपने आप मे ही पाप है, फिर इसके वश मे पडा हुआ मनुष्य पापोपार्जन करने से कैसे बच सकता है ? इसके फेर मे रहकर वह न शाति से खा सकता है न सुख से सो सकता है और न ही निश्चिन्तता पूर्वक आत्म-साधना ही कर सकता है। एक छोटा सा रूपक है—

चांदी का लेप

एक अमीर किसी त्यागी और ज्ञानी संत के पास पहुँचा और बोला—"महाराज मैं भी अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ किन्तु मुझे उसका कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। क्या कारण है इसका ?"

संत उसे एक कांच के बने हुए पल्लोवाली खिडकी के पास ले गया और उससे पूछा—"इसमे देखकर बताओ कि तुम्हें क्या क्या नजर आता है ?"

अमीर—"इसके पार तो मुझे मकान, बगीचा सडक, पशु-पक्षी और मनुष्य सभी नजर आते हैं।"

ज्ञानी पुरुष ने तब उसे एक दर्पण के सामने ले जाकर खडा कर दिया। और पूछा—"अब क्या दिखाई देता है ?"

"अब तो मुझे मेरे अलावा और कुछ भी दिखाई नही देता।" अमीर का उत्तर था।

अब ज्ञानी ने कहा—"देखो खिडकी मे भी काच है और दर्पण मे भी काच ही है। किन्तु खिडकी के पास जाते ही तुम सब को देखते हो और दर्पण के सामने आते ही अपने आपको। इसका कारण यही है कि दर्पण के काच मे जरा चाँदी लगी हुई है अत केवल स्वय को ही देख पाते हो। इसका अर्थ यही है कि आत्मा शीशे के समान निर्मल है। और जब तक वह उस स्थिति मे रहती है, मनुष्य सारे ससार का अवलोकन करता हुआ उसकी अनित्यता और असारता का ज्ञान करके अपने आत्म-कल्याण का मार्ग खोज सकता है, पर उसमे सोना, चाँदी और धन-वैभव के प्रति आसक्ति और ममत्व-रूपी मलिनता के लगते ही वह केवल अपने आपको देखता है। परिणाम यह होता है कि वह जीव और जगत का भाव भूलकर धन के चक्कर मे ही पडा रहता है तथा उसके द्वारा झूठे सुख की प्राप्ति करने के प्रयत्न मे आत्मिक सुख की ओर ध्यान नही देता।"

इसलिये किसी ने कहा है—"सुई के छेद मे से ऊँट का निकल जाना सम्भव है किन्तु अमीरो का स्वर्ग मे पहुँचना असभव है।"

यही कारण था कि कबीर ने अमीरी की अपेक्षा ईश्वर के भजन मे अधिक सुख माना। उनका कथन यथार्थ भी है। अब आप लोग ही बताइये कि आप सेठ-साहूकार हैं। लाखो करोडो का धन आपके पास है, किन्तु क्या आप कभी निश्चितता का अनुभव करते हैं? और आप ही क्या, इस ससार मे पृथ्वीपति सम्राट को भी सुख नही है, धन-कुबेर श्रेष्ठियो को भी सुख नही है, और तो और देवलोक मे देवताओ को भी सुख नसीब नही है। सुखी हैं तो केवल वही, जो त्यागी, मुनि और सच्चे फकीर हैं।

जो गरीबी मे अपना गुजारा करते हुए तथा जगत की बुरी-भली सुनते हुए भी रच-मात्र भी परवाह किये बिना भगवान का भजन करते हैं या आत्म-कल्याण के लिये साधना करते हैं, वे ही सच्चे मायने मे सुख का अनुभव करते है। ऐसे व्यक्ति न अपनी प्रशसा की जाने से हर्षित होते हैं और न निन्दा की जाने से रंच मात्र भी दुखी होते हैं। वे सदा रूप भाव मे विचरण करते हुए आत्म-रमण मे लीन रहते हैं।

आगे कहा गया है—'प्रेम नगर मे रहनि हमारी भली बनि आई सबूरी मे।'

कितनी सुन्दर बात है ? प्रेम नगर कौनसा ? और उसमे रहना कैसा ? इसका उत्तर एक भक्त या परमात्मा का प्रेमी ही दे सकता है ।

भगवान के प्रति अनन्य भक्ति रखने वाला भक्त अपने आपको भगवान का प्रेमी ही मानता है । भगवान के प्रति अपनी चाह को वह भक्ति का नाम देने से उसमे कुछ न्यूनता पाता है और प्रेम का नाम देकर सतुष्ट होता है । भगवान को वह इतना शक्तिशाली और विशाल मानता है कि ससार के समस्त पदार्थों और प्राणियो मे भी वह उन्ही को देखता है । यहाँ तक कि अगर उसे सर्प डस ले, तब भी वह यही सोचता है कि मेरे प्रियतम ने मुझे बुलाने के लिये अपना दूत भेजा है । उसके हृदय मे किसी के लिये भी क्रोध, घृणा या ईर्ष्या का भाव नही रहता क्योकि समग्र ससार ही उसे अपने भगवान का रूप दिखाई देता है । सूर्य और चन्द्र के प्रकाश को भी वह उन्ही का प्रकाश मानता है ।

जो कुछ है विष्णु है

एक भक्त दिन-रात भगवान की भक्ति मे लीन रहता था । मिलता तो खा लेता नही मिलता तो फाके कर जाता । पर प्रतिक्षण सतुष्ट और खुश नजर आता था ।

एक दिन वह किसी गाँव से कुछ खाना लाया और एक कुत्ते के पास बैठकर खाने लगा । खाना देखते ही कुत्ता उसके पास आ गया और पूँछ हिलाने लगा । भक्त ने उसे बडे प्रेम से अपने पास बिठा लिया और उसे भी खाना खिलाने लगा । एक कौर वह स्वय खाता और एक कौर अपने हाथ से कुत्ते को खिलाता जाता ।

यह देखकर उसके पास बहुत लोग इकट्ठे हो गए और हँसने लगे । कुछ व्यक्ति उसे पागल कहकर चिढाने भी लगे ।

यह देखकर भगवान का वह सच्चा प्रेमी बोला—"तुम हँसते क्यो हो ? विष्णु विष्णु के समीप बैठा है । विष्णु विष्णु को खिला रहा है । तुम हँसते क्यो हो विष्णु ? जो कुछ है, विष्णु है ।"

तो सच्चा भक्त ईश-प्रेम मे अपने आपको सम्पूर्णतया समर्पित कर देता है । उसके पास अपना कहने को कुछ भी नही रह जाता । जैसा कि कहा जाता है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि ।
सीस उतार भुई धरै, तब पैठे घर माँहि ॥

इसका अर्थ आप समझ गए होगे कि अपना सब कुछ त्याग देने पर ही परमात्मा से प्रेम किया जा सकता है। कबीर का अपने इष्ट के प्रति ऐसा ही प्रेम था और अपने आपको वे प्रेम नगर का निवासी ही समझते थे। वे कहते थे – सच्चे साधु को किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है केवल सबूरी या सतोप के ।

फकीरो के लिये अपना और पराया क्या है ? हाथ मे कुडी और बगल मे डडा लिये वह जिधर भी जाना चाहे जा सकता है और जहाँ भी चाहे रह सकता है। चारो ही दिशाएँ तो उसकी जागीर मे हैं। अर्थात् यह समग्र सृष्टि उसके प्रभु का ही तो निवास है। उसमे मेरा और तेरा क्या है ? सभी कुछ अपना है और वह अपना स्वय ईश्वर का है। ऐसी स्थिति मे कितना आनन्द है ! न कमाने की चिन्ता, न कमाये हुए की रक्षा करने की चिन्ता, न मानापमान का दुःख और न ही ईर्ष्या-द्वेप की जलन। बस-इसीलिये फकीरी मन को प्रिय लगती है। इसमे जो आनन्द है, उसका हजारवाँ हिस्सा भी किसी अमीर को प्राप्त नही हो सकता। यही कारण है कबीर के कहने का—"मन लागो मेरो यार फकीरी मे ।"

वासनाओ के विजेता

तो बधुओ, सच्ची फकीरी या मुनिवृत्ति सहज वस्तु नही है कि जिसने भी चाहा साधु-वेश पहनकर अपने आपको मुनि कहलवाना प्रारम्भ कर दिया। सच्चे मुनि वे ही होते हैं जो अनादिकाल से जीवो को अपने चगुल मे फसाकर भव-भ्रमण कराने वाली वासनाओ के विजेता बन जाते है। ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो विपय-भोगो से विमुख होकर त्याग-वृत्ति को अपना लेते है तथा कठोर चर्या का अनुसरण करते हुए आत्मा के उत्थान की साधना मे लीन हो जाते हैं।

यह साधना कोई साधारण साधना नही होती इसके लिये साधु को निरन्तर सावधान रहना पड़ता है, सतत आत्म-निरीक्षण, स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन और तपश्चरण का प्रयोग करना होता है। मुनिवृत्ति एक महान् कसौटी है, जिस पर साधक के धैर्य साहस, समता, सयम, शाति, सकल्प और पवित्रता की परीक्षा होती है।

साधु बनना सहज नही हैं। वेश परिवर्तन करने और हाथ मे झोली ले लेने से ही कोई साधु नही बन जाता। शास्त्र मे भी कहा है :—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ।।

उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५

कहा गया है—केवल मस्तक मुडा लेने से कोई साधु नही बन जाता, और न ही ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण ही हो सकता है । इसी प्रकार केवल अरण्य मे निवास कर लेने से ही कोई मुनि नही हो सकता और न केवल डाभ का वस्त्र पहन लेने से तपस्वी ही बन सकता है ।

मन मे जिज्ञासा होती है कि फिर साधु ब्राह्मण, मुनि और तपस्वी के सच्चे लक्षण क्या हैं ? इस विषय मे भी बताया गया है —

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५

अर्थात्—समभाव से साधु, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपश्चरण करने से तपस्वी होता है ।

वस्तुत सच्चा साधु वही है जो मलिन और मन्द भावनाओ के स्थान पर अपनी आत्मा मे विशुद्ध भावनाओ की स्थापना करता है । जो परम विरक्ति और परम सतोष को धारण करते हुए तीन खड के साम्राज्य को भी धूल के समान मानता है । तथा सम-भाव की निर्मल सरिता मे अवगाहन करता हुआ निंदा और प्रशसा तथा अपमान और पूजा-प्रतिष्ठा को समान भाव से उपेक्षा करता है । इसके विपरीत जो ऐसा नही करता वह सच्चे अर्थों मे साधु नही माना जा सकता ।

मुझे प्रणाम किया था

एक गुरु अपने शिष्य सहित किसी गांव से दूसरे गांव को जा रहे थे । मार्ग मे एक सद्गृहस्थ मिला और उसने उन्हे देखकर प्रणाम किया तथा अपने मार्ग पर बढ गया।

गुरुजी के मन मे अकस्मात ही कुछ विचार आया और वे शिष्य से बोले—"उस व्यक्ति ने मुझे प्रणाम किया था ।

गुरु की बात सुनकर शिष्य को बुरा लगा । वह बोला—"नही उसने मुझे प्रणाम किया था ।"

"वाह, मेरे होते तुझे कौन प्रणाम करेगा ? मैं बडा हूं, उस व्यक्ति ने मुझे ही किया था" गुरुजी तमक कर बोले ।

चेला भी कम नही था। उसने उत्तर दिया—"महाराज! आप वृद्ध हो गए हैं। अब आपका जमाना नही रहा, हमारा जमाना है। अत निश्चय ही उसने मुझे वन्दन किया था।"

बात बढ गई और गुरु शिष्य दोनो झगड पडे। कोई भी यह मानने को तैयार नही था कि उस व्यक्ति ने मुझे प्रणाम नही किया। आखिर विवाद समाप्त होते नही दिखा तो गुरुजी बोले—"चलकर उस व्यक्ति से ही पूछ लेते हैं कि उसने किसे प्रणाम किया था ?" चेला राजी हो गया और दोनो लौटकर उस व्यक्ति के पास आए। दोनो सतो को अपनी ओर आते देखकर वह व्यक्ति चकित हुआ तथा विनय पूर्वक बोला—

"क्या बात है महाराज! आप लोगो ने मेरे पास आने का कष्ट कैसे किया ?"

गुरु बोले—"मैं तुमसे यह पूछने आया हूँ कि तुमने उस समय मुझे ही प्रणाम किया था न ?" व्यक्ति कुछ उत्तर दे ही नही पाया कि शिष्य ने वही बात दोहरा दी।

वह व्यक्ति दोनो की बात सुनकर चकित हो गया पर समझ गया कि विवाद क्यो हुआ है। कुछ क्षण विचार करके उसने तनिक मुस्कराते हुए कहा—"मैंने उसको ही वदन किया है जिसके पास साधुत्व है।" उत्तर मार्मिक था पर दोनो साधुओ की समझ मे नही आया।

गुरुजी जरा गुस्से मे आ गए बोले—"क्या मुझमे साधुत्व नही है ?" यही बात शिष्य ने भी कही।

अब व्यक्ति स्पष्ट बोला—"महाराज! आप मे साधुत्व कहाँ है ? अगर होता तो मेरे नमस्कार करने और न करने पर आपके हृदय मे क्या फर्क आता ? आप दोनो तो नमस्कार पाने के लिये झगडने लग गए। सच्चे साधु तो वदन करने पर प्रसन्न नही होते और न करने पर कुपित भी नही होते। शास्त्रो मे कहा भी गया है —

जे न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे।
एवमन्ने समाणस्स, सामण्ण मणुचिट्ठई ॥

—द० सू० अ० ५-३०

साधु को चाहिए कि कोई वन्दना न करे तो कुपित न होवे और करे तो प्रसन्नता का अनुभव न करे। कभी यह भी न सोचे कि मेरे कितने

अनुयायी हैं। अनुयायी या शिष्य किसी को नही तारते, तारने वाली केवल उसकी करनी ही होती है।

तो बन्धुओ, आप समझ गए होगे कि सच्चे साधु के क्या लक्षण होते हैं ? अन्यथा एक श्लोक से और भी स्पष्ट हो जाएगा—

निम्ममो निरहकारो, निस्सगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निदापससासु, तहा माणावमाणओ ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र

—सच्चा सन्त वही है जिसने ममता को मार डाला है, अहकार को चकनाचूर कर दिया है, सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है, बडप्पन को छोड दिया है, जो स्थावर और जगम प्राणीमात्र के प्रति समान भाव रखता है, जो लाभ और हानि मे, सुख और दुख मे, जीवन और मरण मे, निन्दा और प्रशसा मे तथा मान और अपमान मे एक सा रहता है।

हमारे आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ऐसे ही पुरुष-पु गव और सच्चे सत थे जो अपने नाम को सार्थक करते हुए निरतर आत्मा मे रमण करते थे और अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप मे निमग्न रहा करते थे। आज उनके स्मरण मात्र से ही हमारा हृदय अनिर्वचनीय खुशी से भर जाता है तथा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। हमारी सर्वान्त करण से यही कामना है कि उनका महान् जीवन हमारा पथप्रदर्शन करे तथा हमे आत्म-कल्याण की प्रेरणा दे।





१८

उन्नति-पथ पर प्रथमचरण

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव वहनो !

भगवान महावीर ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्याय मे वताया है —

> चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
> माणुसत्त सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरिय ।।
>
> —३।१

अर्थात्—इस ससार मे चार परम उत्कृष्ट अग या साधन हैं, जिनका प्राप्त होना मनुष्य के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। वे चारो इस प्रकार हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और सयम मे पराक्रम।

हम देखते भी हैं कि प्रथम तो मनुष्य मे मनुष्यता नही होती, और वह आ जाय तो शास्त्र-श्रवण के अवसर नही मिल पाते और कदाचित ऐसे सयोग मिल गए कि लोक व्यवहार के कारण अथवा किसी की प्रेरणा से जिनवाणी कानो मे पड गई तो उस पर श्रद्धा होना मुश्किल होता है। और अगर यह तीनो भी प्राप्त हो गए तो भगवान के वचनो को जीवन

मे उतारना तो महाकठिन हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि ये चार बातें प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

मनुष्यत्व की महत्ता

मानव-जीवन को उन्नत बनाने का प्रथम साधन है मनुष्यता की प्राप्ति करना। दूसरे शब्दो मे उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए मनुष्यता प्रथम चरण है। मनुष्य और मनुष्यता शब्दो के उच्चारण मे विशेष अन्तर नही है किन्तु उसके अर्थ मे जमीन-आसमान का अन्तर है। इसीलिए सभी भाषाओ मे मनुष्य के लिए मनुष्यता का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है।

हिन्दी मे हम मनुष्यता कहते हैं, उर्दू मे इन्सानियत, गुजराती मे माणसाई और मराठी भाषा मे इसे माणुसकी कहा जाता है। इस मनुष्य मे मनुष्यत्व नही है, आ माणस नी माणसाई नथी, या यह इन्सान की इन्सानियत नही है, ये सभी वाक्य एक ही अर्थ को प्रगट करते हैं।

मनुष्यता के अभाव मे

अब हमे यह देखना है कि मनुष्य और मनुष्यता मे क्या अन्तर है तथा मनुष्यता का अभाव जीवन के लिए कैसा अभिशाप साबित होता है।

प्रश्न उठता है कि किसी मनुष्य मे मनुष्यत्व है या नही इसकी पहचान कैसे की जाय? मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य अगर मनुष्य के कर्त्तव्यो का पालन न करे तो वह मनुष्य नही कहा जा सकता। आकृति से अवश्य वह मनुष्य होता है, किन्तु प्रकृति और कार्य से नही।

आपने देखा होगा, किसान अपने खेत मे फसल आने के समय आदमी के आकार का पुतला बना देते हैं। लकडियो से हाथ-पैर बनाते हैं और सिर के स्थान पर हण्डी औधा कर उसे काले रग से पोत भी देते हैं। आप उसे अडवा कहते हैं और मराठी मे वह बुजारणा कहलाता है।

तो बुजारणा या अडवा खेत मे ठूठ जैसा खडा रहता है तथा बुद्धिहीन जानवर उसे मनुष्य समझकर डर भी जाते हैं, पास नही आते। किन्तु सदा उसे एक ही स्थिति मे खडा देखकर कभी-कभी जानवर उससे कम भयभीत होते हुए खेत मे घुस जाते हैं। पर उनके खेत मे घुस जाने पर अडवा क्या करता है? कुछ नही, न वह जानवरो के पीछे दौडता है, न उन्हें मारता है, और न ही हाक लगाकार उन्हें डरा ही सकता है। आशय यह कि ये सब जो मनुष्य के कर्त्तव्य है उन्हे अडवा नही करता। वह केवल नामधारी

आदमी ही होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने मानवोचित कर्त्तव्यो का पालन नही करता उसे नामधारी अड़वे के समान नामधारी मनुष्य कहा जा सकता है।

'विवेक-चूडामणि' नामक एक सस्कृत ग्रथ मे श्री शकराचार्य जी कहते हैं—

अकृत्वा शत्रु संहारमजित्वाखिल भूश्रियम्।
राजाऽहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥

यानी जिसने शत्रु का सहार नही किया और भूमि रूपी लक्ष्मी को जीता नही, वह अगर कहे—"मैं राजा हू।" तो यह कैसे सम्भव हो सकता है? राजा बनना चाहे पर राजा के कर्तव्यो का पालन नही करे तो वह कदापि राजा नही कहला सकता। इसके अलावा पुत्र का नाम राजाराम या इन्द्र दत्त रखने से ही वह राजा और इन्द्र नही बन सकता। इसी प्रकार मनुष्य का आकार पा लेने से और मनुष्य कहलाने से ही वह सच्चा मनुष्य साबित नही होता, जब तक कि उसमे मानवता नही आ जाती।

मनुष्य का जीवन अतरग और बाह्य, दो भागो मे बाटा जा सकता है। कुछ गुण उसकी बाह्य क्रियाओ से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ आन्तरिक भावनाओ से। दोनो ही मिलकर मनुष्य मे मनुष्यता का विकास करते हैं और उसे सही मायने मे मनुष्य बनाते हैं।

अन्तर और बाह्य

मानव के बाह्य जीवन की अपेक्षा उसका आतरिक जीवन अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। क्योकि अन्त करण का प्रभाव उसकी समस्त बाह्य क्रियाओ पर पडता है। किसी भी मनुष्य का देखना, बोलना, चालना तथा शरीर के द्वारा अन्य क्रियाएँ करना उसके अन्त करण की परिचायक होती हैं। कहा भी जाता है —

श्रवण, नयन, मुख नासिका, सब ही के इक ठौर।
कहिवो, सुनिवो देखिवो, चतुरन को कछु और ॥

इस दोहे मे कवि ने बडी महत्वपूर्ण बात कह दी है कि—यद्यपि मुँह, कान, आँखे और नाक सभी मनुष्यो के एक ही स्थान पर होती हैं, किन्तु चतुर व्यक्तियो का बोलना, हँसना, देखना सभी कुछ ऐसी विशेषताएँ लिये हुए होता है जो कि मूर्ख व्यक्तियो मे नही पाया जाता। स्पष्ट है कि इन

क्रियाओ से चतुर और मूर्ख की पहचान हो जाती है। इसका कारण यही है कि चतुर व्यक्ति का अन्त करण ज्ञान और बुद्धि के समन्वय से परिष्कृत होता है अत बाह्य क्रियाएँ उचित और आकर्षक महसूस होती हैं तथा मूर्ख व्यक्ति का हृदय अज्ञान और जडता से परिपूर्ण होने के कारण उसकी बाहरी क्रियाएँ उपेक्षणीय और अनाकर्षक जान पडती है।

हिन्दी के एक कवि ने वाणी को लेकर कहा है—

बोलत ही पहचानिये, साह चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसे मुँह की बाट॥

कितनी सुन्दर बात है कि केवल वचन से ही साहूकार और चोर को पहचाना जा सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अपने वचनो से ही अपना परिचय दे देता है तथा उनके द्वारा वह मनचाहा करने मे समर्थ बन जाता है। एक उदाहरण है—

स्वयं ही स्वर्ग मे क्यो नहीं जाते ?

एक राजा को स्वर्ग-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा थी अत उसने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। यज्ञ मे बलि देने के लिये एक बकरा लाया गया। बंधन मे लाया जाने के कारण वह तीव्र स्वर से मिमिया रहा था।

राजा ने यह देखकर विनोदपूर्वक अपने मन्त्री से पूछा—"मन्त्री जी यह क्या कह रहा है ?"

मन्त्री बडा धर्मात्मा पुरुष था। निरपराध प्राणी की हिंसा होती देखकर उसका हृदय वैसे ही बडा व्यथित हो रहा था। राजा की बात सुनते ही उसकी बुद्धि ने सजग होकर अनुकूल अवसर का लाभ उठाने का प्रयत्न किया। वह बोला—

"हुजूर यह आपसे ही कुछ अर्ज कर रहा है।"

"क्या कह रहा है मुझसे ? यज्ञ किये जाने की खुशी मे मगन राजा ने और भी विनोदपूर्वक पूछा।

मन्त्री ने अब सावधानी से उत्तर दिया—"यह कहता हैं, मुझे तो स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा नही है। मैं घास खाकर ही सतुष्ट हू। मैंने आपसे कब स्वर्ग जाने की इच्छा प्रगट की है ? स्वर्ग के दिव्य भोग मुझे नही चाहिये। अगर यज्ञ मे बलि दिये जाने पर प्राणी स्वर्ग चला जाता है तो आप अपने

माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्रियो की या स्वय अपनी ही बलि देकर सीधे स्वर्ग में क्यो नही चले जाते ?"

मन्त्री की वात सुनकर राजा गम्भीर विचार मे पड गया। उसे समझ मे आ गया कि वलि चढाकर स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलापा करना आत्मा को धोखा देने के अलावा कुछ नही है। ऐसे कुकृत्य से तो स्वर्ग पास होते हुए भी दूर चला जाएगा।

उसने वलिदान के लिये लाए हुए वकरे को मुक्त कर दिया और यज्ञ वन्द करवा दिया।

वधुओ! इस उदाहरण से हम जान सकते हैं कि जिस मनुष्य मे सच्ची मनुष्यता होती है, उसका अन्तकरण कितना विशुद्ध होता है और उस विशुद्धता के कारण उसके वचनो मे कितनी शक्ति पैदा हो जाती है। हृदय की पवित्र भावनाओ के कारण मन्त्री ने केवल अपनी वाणी के द्वारा ही एक निरपराध प्राणी का घात होने से वचा दिया और स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक राजा को स्वर्ग की प्राप्ति का सही मार्ग वताया।

इस प्रकार मानवता का एक लक्षण तो अहिंसा की भावना का होना है और कुछ लक्षण और हैं जो मनुष्यता की पहचान कराते हैं। यथा—ईश-चिन्तन, भक्ति, श्रद्धा, करुणा, समता, अनासक्ति तथा कपायो की न्यूनता होना।

ये मव गुण जव मनुष्य के हृदय में जागृत होकर विकिसित होने लगते है तव वह मनुष्यता या मानवता की प्राप्ति करता है।

अव देखना है हमे मनुष्य के वाह्य गुणो के विपय मे। दान देना, तपस्या करना, शील का पालन करना, अन्य प्राणियो से मैत्री-भाव वढाना, सेवा और परोपकार के लिये तत्पर रहना। आदि-आदि सद्‌गुण मनुष्य के वाह्य आचरण से सम्वन्ध रखते हैं और उसे सच्चा मनुष्य वनाते हैं।

भले ही किसी व्यक्ति के पास धन न हो, विद्वत्ता न हो और तपश्चरण करने की शक्ति भी न हो, किन्तु अगर उसके हृदय मे सेवा और परोपकार की उत्कट भावना हो, प्रत्येक जरूरतमन्द की सहायता के लिये वह तत्पर रहता हो तथा मान, अपमान और किसी भी प्रकार के कष्ट महकर भी जो औरो की भलाई मे जुट जाता हो, वही व्यक्ति सच्चे अर्थों मे मनुष्य कहलाने का अधिकारी होता है।

प० मुनि श्री अमीऋषि जी म० ने अपने एक पद्य मे कहा है :—

अगर अगन पर धरत सुगध होत,
तपावत वार वार हेम द्युति दर से।
दूध को तपावे स्वाद, काटत चदन वास,
तिल तेल इक्षु को पीलत रस लर से॥
देवे पय सुरभि चरण को बन्धन किए,
देत फल अब जो ये मारत पत्थर से।
अमीरिख कहे तैसे सत कुलवत मित,
गिणे नहीं पीड उपकार तस कर से॥

कहा है—जैसे अगर अग्नि मे डालने से सुगधित हो उठता है, वार-बार तपाने से सुवर्ण चमकने लग जाता है, दूध गरम करने से स्वादिष्ट बन जाता है, चन्दन काटने से महक जाता है, तिल तेल वनता है, गन्ना पेलने से रस प्रदान करता है, पैर बाँध देने पर भी गाय दूध देती है, तथा पत्थर की चोट खाकर आम का पेड फल लौटाता है, उसी प्रकार सत महापुरुष और सच्चे इन्सान स्वय कष्ट सहकर भी परोकार मे रत रहते हैं।

अपकारी का भी उपकार

महाभारत का एक प्रसग है—द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने अपने पिता का छल से वध किया जाने के कारण क्रोध मे आकर पाडवो से वदला लेने का निश्चय किया और एक दिन पाडवो के डेरे मे घुसकर द्रौपदी के पाँचो पुत्रो को तलवार के घाट उतार दिया।

प्रभात होते ही द्रौपदी ने जब अपने पुत्रो को इस प्रकार मरा हुआ देखा तो मारे क्रोध और दुःख के वह हिताहित शून्य होकर बोली—"धिक्कार है मेरे पाँच-पाँच पतियो को कि दुश्मनो के छक्के छुडा देने वाले ऐसे वीरो के होते हुए भी मेरे फूल से कोमल पुत्रो को अश्वत्थामा इस प्रकार निर्दयता से मार गया। अगर उस हत्यारे को किसी भी तरह से पकड कर आज ही मेरे सामने न लाया गया तो मे भी अपने प्राण त्याग दूँगी।"

द्रौपदी की वात सुनकर पाडवो का खून उवल पडा और भीम अर्जुन जाकर अश्वत्थामा को पकड लाये। बोले—"यह है तुम्हारे पुत्रो का घातक। वताओ इसे क्या दंड दिया जाय?"

द्रौपदी ने अश्वत्थामा को अपने सामने वन्धनो मे जकडा हुआ देखा और वह उसको दी जाने वाली सजा के विषय मे विचार करने लगी।

किन्तु वधुओ! आप जानते हैं कि महान आत्माएँ प्रथम तो कषाय के

वशीभूत होती ही नही, और कदाचित हो भी जायँ तो वह उनपर अधिक समय तक हावी नही रह सकती।

द्रौपदी का क्रोध भी अधिक समय तक नही टिका। उसके मनुष्यत्व ने जोर मारा और वह विचार करने लगी—"अश्वत्थामा मेरे पुत्रो का हत्यारा है, किन्तु वह भी किसी माता का पुत्र है। इसके द्वारा मेरे पुत्रो की हत्या की जाने पर जिस प्रकार मैं दुखी हो रही-हूँ, इसी प्रकार इसकी हत्या होने पर इसकी माता अपने पुत्र के वियोग से दुखी होगी। दूसरे, मेरे पुत्र तो इसे मरवा डालने पर भी जीवित हो नही सकेंगे फिर मै क्यो इसे मृत्यु के कष्ट मे और इसकी माता को पुत्र-विरह के सताप मे डालूँ ?"

ऐसा विचार करते-करते द्रौपदी का मननिर्वैर अवस्था को प्राप्त हो हो गया और उसने अपकारी अश्वत्थामा को जीवन दान देकर ससार के समक्ष उपकार का उच्चतम आदर्श उपस्थित किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि उत्तम पुरुषो के हृदय मे प्रथम तो मलिनता आती ही नही है और कदाचित आ जाय तो उनकी मानवता सहज ही जाग उठती है। किसी भी छोटी सी घटना या किसी सत्पुरुष की सगति से ही उनके हृदय का विकार अथवा कषाय नष्ट हो जाता है। किसी ने कहा भी है —

ज्यो दुकान रगरेज की वैसा ही सत्सग,
जैसा कपड़ा होत है, तैसा आवत रग।
तैसा आवे रंग सूत माफिक चढ़ जाई,
मलमल, खादी, खेस एक सा रग न आई।

पद्य मे बडा गभीर रहस्य छिपा हुआ है। इसमे पहली बात यह बताई गई है कि रगरेज की दुकान और सत-समागम मे बडा साम्य है। कारण यह है कि रगरेज जिस प्रकार कोरे वस्त्र को रगता है, उसी प्रकार सत पुरुष मनुष्य की आत्मा को रगते हैं।

रगरेज़ गुरु

एक बात और भी ध्यान मे रखने की है कि रगरेज की अपेक्षा सत अथवा गुरु का कार्य अनेक गुना अधिक विलक्षण है क्योकि रगरेज़ तो केवल कोरे कपडे को रगने का ही कार्य करता है पर साधु पुरुष आत्मा की मलिनता को पहले साफ करते हैं और तब उस पर नया रग चढ़ाते हैं। जैसा कि कहा गया है —

म्हारा सतगुरु भया रंगरेज—
चुनरिया मेरी अजब रगी।
स्याही रग छुडाय के जी दियो मजीठी रंग।
धोया से छूटे नहीं रे दिन-दिन होत सुरंग॥
चुनरिया मेरी अजब रगी।

गे उद्‌गार एक भक्त के हैं। जो भाव-विभोर होकर कह रहा है— "मेरे गुरु ऐसे विलक्षण रगरेज हैं, जिन्होंने मेरी आत्मा रूपी चूनरी को वडी कुशलता और अद्‌भुत तरीके से रगा है।"

"उन्होंने पहले तो मेरी स्याही के सदृशकाली आत्मा की कालिमा को छुडाकार शुद्ध वनाया और उसके पश्चात् भक्ति और वैराग्य का मजीठी रग चढा दिया। वह रग भी कैसा है? ऐसा नही कि दो चार वार धोने से ही छूट जाय, अपितु उसे ज्यो-ज्यो धोया जाता है और भी अधिक खिलता है, सुन्दर लगता है।"

तो वास्तव मे ही गुरु अथवा साधु-पुरुप आत्मा मे रही हुई कपायो की कालिमा को हटाकर उस पर वैराग्य और भक्ति का सुन्दर रग चढाते हैं अत उन्हे रगरेज कहने मे तनिक ही अतिशयोक्ति नही है।

पर पद्य मे एक वात और अत्यन्त महत्वपूर्ण वताई गई है—

जैसा कपडा होत है, तैसा आवत रग
तैसा आवत रंग, सूत माफिक चढ़ जाई
मलमल, खादी, खेस एक सा रंग न आई।

अर्थात्—रगरेज तो रग एक सा ही घोलता है और वस्त्र रगने का प्रयत्न करता है किन्तु कपडो की भिन्नता के कारण वह हलका या गहरा हो जाता है। उदाहरण भी साथ ही दिया है कि वस्त्र अगर मलमल का होगा तो उसका सूत वारीक और कोमल होने के कारण गहरा रग पकड लेगा और खादी का वस्त्र होगा तो मलमल की अपेक्षा हलका रग ग्रहण करेगा। पर इन दोनो की अपेक्षा और मोटा तथा खुरदरा कपडा जिसे हम खेस कहते हैं उस पर रग चढाया जाएगा तो वह साधारण होगा तथा मलमल के समान सुन्दर कदापि दिखाई नही देता।

इसीलिये कहा गया है कि मलमल, खादी और खेस, इन तीनो पर यद्यपि रगरेज एक ही रग चढाने का प्रयत्न करेगा किन्तु वस्त्र जैसा होगा

उसके अनुसार कम और ज्यादा रग वह ग्रहण करेगा। दूसरे शब्दो मे कपडे का सूत जैसा होगा उसी के माफिक रग उस पर चढेगा।

मनुष्यो के प्रकार

बधुओ! पद्य मे रही हुई अन्योक्ति को आप समझ गए होगे। इसके द्वारा कवि का उद्देश्य यही बताना है कि जिस प्रकार रगरेज के समान प्रयत्न करने पर भी वस्त्रो मे भिन्नता होने से रग एक सरीखा नही चढता, उसी प्रकार सत पुरुषो के समान उपदेश देने पर भी मनुष्यो की आत्मा मे भिन्नता होने से उन पर एक सा असर नही होता।

उत्तम पुरुष की आत्मा थोडे से प्रतिबोध से ही जागृत हो जाती है। आप जानते ही होंगे—गजसुकुमाल बाल्यावस्था मे भगवान नेमिनाथ का एक बार उपदेश सुनकर ही जागृत हो गए, सात प्राणियो का प्रतिदिन घात करने वाले अर्जुन माली ने महावीर का उपदेश सुनकर अपना क्रूरकर्म त्याग दिया, सयति राजा शिकार खेलने गये पर गर्द्धमाली महाराज के द्वारा प्रतिबोध पाकर हिंसा से विमुख हो गये तथा धन्ना सेठ पत्नी के एक ही वाक्य से आत्मा के सच्चे कल्याण को समझकर साधना मे लग गये।

तुम्हारे साथ पृथ्वी जाएगी!

भोज प्रबन्ध मे बताया गया है कि महाराज मुज ने गौडेश्वर वत्सराज को भोजकुमार का वध करने की आज्ञा दी।

वत्सराज यह आदेश पाकर अत्यन्त दु खी हुए और भोजराज से बोले—"कुमार! मैं क्या करूँ? तुम जैसे निरपराध का वध करने के विचार से ही मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है, किन्तु स्वामी की आज्ञा का पालन करना भी मेरा कर्तव्य है। मैं किंकर्तव्य विमूढ हो रहा हूँ। तुम्ही बताओ मैं कैसे इस द्वन्द्व से छुटकारा प्राप्त करूँ?"

इस पर निडर भोजकुमार ने कहा—"महाराज की आज्ञानुसार मेरा वध करना ही आपका प्रथम कर्तव्य है पर अगर आपका हृदय इस बात से बहुत क्षुब्ध है तो एक बार राजमहल मे जाकर महाराज से मेरा एक सन्देश कहकर आइये! देखें इसका क्या नतीजा निकलता है? आपके आने तक मैं यही खड़ा हूँ। एक इंच भी इधर-उधर नही होऊँगा।

वत्सराज को भोज पर पूर्ण विश्वास था वह उसका सन्देश लेकर महाराज मुज के पास गए। सन्देश क्या था? वट-पत्र पर भोज के रक्त से लिखा गया एक श्लोक—

मान्धाता च महीपति. कृतयुगालङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तक ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिव भूपते !
नैकेनापि सम गता वसुमती मुञ्ज ! त्वया यास्यति ॥

अर्थात्—सतयुग के लिये भूषणरूप राजा माधाता था वह चला गया। समुद्र पर पुल का निर्माण करके रावण को मारने वाला राम भी कहा है ? इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर आदि अनेक महिमावान भूपति भी स्वर्ग चले गये पर यह पृथ्वी किसी के साथ नही गई। किन्तु, हे मुज ! लगता है कि अव यह तुम्हारे साथ अवश्य जाएगी।

मुज ने ज्योही श्लोक पढा, उसकी समझ मे आ गया कि जिस भूमि को हडपने के लिये मैं ये सब पाप कर रहा हूँ वह मेरे साथ भी जाने वाली नही है। इसके अलावा अन्य समस्त सासारिक पदार्थ भी यही रह जाने वाले हैं। यह विचार आते ही उसने सम्पूर्ण राज्य भोज को सोप दिया और वन मे जाकर आत्म-साधना मे लग गए।

कहने का अभिप्राय यही है कि उत्तम पुरुष तनिक सी किसी घटना और तनिक से प्रतिवोध से ही ससार के स्वरूप को समझ लेते हैं तथा उसकी निस्सारता को जानकर मनुष्य जन्म के सार को निकालने के प्रयत्न मे जुट जाते हैं।

ऐसे पुरुष मनुष्यता के समस्त आन्तरिक और वाह्य लक्षणो से परिपूर्ण होते हैं, तथा अपने जीवन को आदि से अन्त तक उच्च सावित करते हुए ससार के समक्ष आदर्श महापुरुष के रूप मे रहते हैं। वे अपनी आत्मिक-शक्ति, लोकोत्तर ज्ञान और क्रिया के द्वारा आत्मा को विशुद्धतर वनाते हुए शुभ गति प्राप्त करते हैं तथा कर्मों का नाश करके अन्त मे भव-भ्रमण से मुक्त हो जाते है।

कवि ने ऐसे महापुरुपो को ही मलमल की उपमा दी है कि जिस प्रकार मलमल का वस्त्र निर्मल और मुलायम होने के कारण रगरेज के द्वारा चढाये गए रग को पूर्णतया ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार उत्तम कोटि के पुरुप या मनुष्यत्व के सच्चे अधिकारी मानव अपने हृदय की शुद्धता और सरलता के कारण गुरु-प्रदत्त ज्ञान को शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं तथा उनकी सजग आत्मा पर भक्ति और वैराग्य का रग इतना सुन्दर व स्थायी

चढता है कि ससार के समस्त प्रलोभन मिलकर भी उसे नही छुडा पाते। तभी कहा जाता है—

> वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि, ।
> लोकोत्तराणा चेतासि, को हि विज्ञातुमर्हति ।

उत्तम पुरुपो का हृदय वज्र से भी कठोर तथा फूल से भी कोमल होता है। उसे समझने मे कौन समर्थ हो सकता है ?

तात्पर्य यह कि महापुरुष अपने लिये महान् कठोर होते हैं। जगत का कोई भी आकर्पण और किसी भी प्रकार का भय उन्हे अपने लक्ष्य से नहीं डिगा सकता, उनकी साधना मे वाधक नही वन मकता। किन्तु इसानियत के नाते वे ससार के समस्त प्राणियो के प्रति करुण, स्नेहशील व दयार्द्र बने रहते हैं। विपदग्रस्त जीवो के लिये उनके हृदय मे सहानुभूति का सतत प्रवाह जारी रहता है और प्राण देकर भी वे अन्य प्राणियो की सेवा और सुरक्षा करते है।

अव आते हैं मध्यम पुरुष। मध्यम वृत्ति के लोग कवि के शब्दो मे खादी के समान होने हैं जिन पर रगरेज रूपी गुरु के प्रतिवोध का असर होता तो है, किन्तु वह पूर्णतया आत्मा को नही छू पाता और वे अपने सासारिक कर्तव्यो का पालन करते हुए तथा इन्द्रिय-सुखो का उपभोग करते हुए जो समय मिल जाता है, उसमे अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार शुभ-क्रियाएँ करते हैं, श्रावक के नियमो का पालन करते हुए जिन-वाणी का लाभ उठाने की कोशिश करते है। उनका यही कथन होता है—"महाराज! समार के काम नही छूटते, मरने की भी फुरमत नही मिलती, कैसे साधुपना ग्रहण करे ? थोडा बहुत हमारी ताकत के अनुसार त्याग-नियम दिलवा दीजिये तथा हारी वीमारी, गाँव-गोठ आदि का आगार रख दीजिये।"

चलो, यह भी ठीक है। कुछ भी न करने से तो थोडा सा करना भी अच्छा Something is better than nothing.

तीसरे प्रकार के व्यक्ति जघन्य पुरुष कहलाते हैं। ऐसे मनुष्य, जैसा कि मैंने अभी वताया था ठीक अडवे के समान होते हैं। मनुष्य होकर भी वे मनुष्योचित कार्यों को नही करते। मानव होने पर भी उनमे मानवता होती, इन्सान होने पर भी उनमे इन्सानियत का अभाव रहता है। के उपदेश को सुनते ही उत्तम पुरुष मामारिक प्रपचो को

ठोकर मारकर आत्म-कल्याण मे लग जाता है, उसी उपदेश को लाख बार सुनकर भी जघन्य पुरुष रचमात्र भी प्रभावित नही होता। कहा भी है —

न दुर्जन साधुदशामुपैति,
बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाण ।
आमूलसिक्त पयसा घृतेन,
न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ॥

— आचार्य चाणक्य

दुर्जन को अच्छी से अच्छी शिक्षा दी जाय तब भी वह साधु-पुरुष नही हो सकता जैसे नीम के पेड को यदि घी और दूध से सीचा जाय तो भी वह मधुर नही होता।

दूसरे शब्दो मे दुर्जन अथवा जघन्य पुरुष को दिया गया उपदेश और सत्शिक्षा उसी प्रकार निरर्थक चली जाती है, जिस प्रकार चिकने घडे पर डाला हुआ पानी व्यर्थ जाता है। इसका कारण यही है कि उसकी दृष्टि-भूत और भविष्य की ओर न जाकर केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है। भविष्य की ओर से वह इतना उदासीन रहता है, जैसे भविष्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। वह मन की लहरो मे वहता रहता है, इन्द्रियो के इशारे पर नाचता है और भोग-विलास के बंधन मे बधा रहता है। धन-सम्पत्ति पाकर फूला नही समाता और विपत्ति आने पर हाय-हाय करता है।

परिणाम यह होता है कि उसका सम्पूर्ण जीवन इसी उथल-पुथल मे व्यतीत हो जाता है और अनेकानेक कर्मो का बन्धन करता हुआ वह मनुष्य-जन्म से लाभ उठाने के बदले उलटी हानि उठाने को बाध्य हो जाता है। वह ठीक उस पुत्र के समान है जो अपने पिता से प्राप्त हुई सम्पत्ति को तो सासारिक सुखो का उपयोग करने मे उडा देता है और नवीन उपार्जन नही करता अत अपने अन्तिम जीवन मे कष्ट भोगता है।

जो भव्य पुरुष अपने अगले लोक को सच्चे सुख से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे पूर्व सचित पुण्यो से लाभ उठाते हैं तथा उनकी सहायता नवीन पुण्यो का सचय कर शुभ गति प्राप्त करते हैं। ऐसे व्यक्ति उन कमाऊ पुत्रो के समान होते हैं जो पूर्वजो से प्राप्त हुई सम्पत्ति को पूजी मानकर उससे नवीन सम्पत्ति का उपार्जन करते हैं।

इसके विपरीत जो व्यक्ति पूर्व सचित पुण्य से प्राप्त मनुष्य-शरीर,

सम्पत्ति और स्वस्थता आदि से सुख तो भोगते हैं, किन्तु उनकी सहायता से धर्माराधन व शुभ-क्रियाए न करके नवीन पुण्य का सचय नही करते, वे उस उडाऊ पूत के समान सावित होते हैं जो पूर्वजो की सम्पत्ति को इहलौकिक सुखो की प्राप्ति मे समाप्त कर देते हैं पर उसके द्वारा नया उपार्जन नही करते ।

तो मैं वता यह रहा था कि अधम श्रेणी के पुरुषो को वारवार समझाने पर भी समझ मे नही आता कि उसे मनुष्य जीवन के रूप मे जो उत्तम और अनुकूल सुयोग मिला है, अगर यह अवसर एक वार हाथ से निकल गया अर्थात् पूर्वकृत पुण्य को केवल भोग कर समाप्त कर दिया और नवीन पुण्य का तथा धर्म का सचय न किया तो फिर अनन्त काल तक भव-भ्रमण करना पडेगा तथा नरक, निगोद व तिर्यंच गति की असह्य यातनाओ को सहन करना पडेगा । ऐसे व्यक्तियो पर सत्सगति का, धर्मोपदेशो का तथा गुरु के प्रतिवोध का भी असर नही पडता और वे मनुष्य की आकृति मे रहकर भी अडवे के समान मनुष्यता से रहित वने रहते हैं । महात्मा कवीर ने कहा भी है—

> दाग जो लागा नील का, सौ मन सावुन धोय ।
> कोटि जतन पर वोधिये, कागा हस न होय ॥

अर्थात्—मनो सावुन घिस देने पर भी जिस प्रकार नील का दाग नही छूटता, नाना प्रकार से प्रतिवोध दिये जाने पर भी कौआ अपनी घृणित वृत्तियो को छोडकर हस के सदृश सात्विक वृत्तियो को नही अपनाता, उसी प्रकार जघन्य श्रेणी का व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी आत्मा को विशुद्ध नही वनाता और उसे ऊँचाई की ओर ले जाने की आकाक्षा हृदय मे पैदा नही करता । वह कर्मों का नाश करके ससार से मुक्ति पाना तो दूर, मानवोचित गुणो को भी अपना नही पाता इन्सान के चोले मे रहकर भी इन्सानियत से शून्य ही रहता है जो कि आत्मोत्थान के पथ पर प्रथम चरण रखना होता है ।

विकास मार्ग पर पहला कदम

वन्धुओ ! प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह महान् कहलाए, यशस्वी और प्रतिष्ठित वने तथा अन्त मे नर से नारायण वन जाए, किन्तु इच्छा मात्र से ही क्या ऐसा होना सभव है ? नहीं, इसके लिए उसे क्रमश आत्म-विकास

के मार्ग पर एक-एक कदम बढाना पडेगा और उस मार्ग पर बढने के लिए पहला कदम है मनुष्यता की प्राप्ति करना।

मनुष्य के अन्तर्मानस मे देवत्व और दानवत्व दोनो ही छिपे हुए हैं, अत उस पर निर्भर है कि वह देव बने या दानव बन कर जीवन को निरर्थक बना दे।

डॉक्टर राधाकृष्णन ने एक स्थान पर लिखा है —

"मानव का दानव होना उसकी हार है। मानव का महामानव होना उसका चमत्कार है और मनुष्य का मानव होना उसकी जीत है।"

मानव जीवन का कितना सुन्दर विवेचन है ? वास्तव मे ही मनुष्य को मनुष्यता प्राप्त करना उसकी बढी भारी सफलता है। किसी भावुक कवि ने तो मनुष्यता को साक्षात देवी मानकर उससे प्रार्थना की है —

देवी मनुष्यते ! अब, वीणा मधुर बजा दे।
सुन्दर सुरीला गाना, चित्त शांति का सुना दे।

कहा है—अयि मनुष्यता देवी ! अब तो तू अपनी वीणा को बजा और उसके द्वारा ऐसा सुरीला तथा मर्मस्पर्शी गीत झकृत कर, जिससे ससार के प्राणियो के अशात चित्त मे शाति और प्रसन्नता का आविर्भाव हो। आगे कहा है—

अज्ञान का अधेरा, पथ भूल मारा मारा—
ये जग भटक रहा है, इसको प्रभा दिखा दे।

जब तक अज्ञान का अन्धकार चारो ओर फैला रहता है, तब तक ज्ञान का प्रकाश उन्नति के पथ को आलोकित नही कर पाता। परिणाम यह होता है कि प्राणी अधेरे मे मार्ग हीन होकर भटकता रहता है और ठोकरे खाता रहता है। अत कवि मनुष्यता से प्रार्थना करता है—"तू इस पथ-भ्रष्ट जगत को ज्ञान का आलोक प्रदान कर, सही मार्ग सुझा दे।"

भाई सभी परस्पर, ऊँचा न कोई नीचा।
समवेदना के मोहन, मृदु मंत्र को जगा दे।

मानवता का सर्व प्रथम लक्षण यही है कि उसके प्रभाव से मनुष्य प्रत्येक व्यक्ति को अपना भाई समझे, उसकी दृष्टि मे कोई उच्च और कोई नीच न रहे। न वह किसी को कुल, वश, विद्या या शरीर सम्पदा की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानकर उसका अत्यधिक मान-सम्मान या खुशामद करे और न किसी को निर्धन, ज्ञान-रहित या निम्न कुल का मानकर उसका अपमान

करे। इसीलिये कवि मानवता से माग करता है कि वह उसके हृदय मे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना भर दे और समभाव तथा सम्वेदना का मधुर मत्र फूँक दे।

जब तक मनुष्य के दिल मे ऊँच-नीच और भेद-भाव की भावना रहती है, वह ससार के अन्य प्राणियो के प्रति समभाव नही रख पाता। वह एक दूसरे को देखकर ईर्ष्या करता है, उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है तथा किसी की भी उन्नति मे रोडा बनता हुआ नाना प्रकार से बाधाएँ डालने की फिराक मे रहता है। किन्तु जिस मनुष्य मे सच्ची मनुष्यता होती है वह केवल मानव के लिये तो क्या, प्राणी मात्र के लिये अपने हृदय मे सद्भावना और करुणा का भाव रखता है।

सूअर की सहायता

आप लोगो ने कही पढा ही होगा कि एक बार अमेरिका के प्रेसीडेन्ट अब्राहिम लिंकन अपने भवन से राजसभा की ओर जा रहे थे। रास्ते मे उन्होने एक सूअर को कीचड मे फसा हुआ देखा। वह निरीह प्राणी कीचड से निकलने का बहुत प्रयत्न कर रहा था, पर जितनी वह कोशिश कर रहा था, उतना ही उसमे अधिकाधिक धँसता चला जा रहा था।

सूअर की ऐसी दयनीय दशा देखकर दयालु लिंकन से न रहा गया। वे क्षणमात्र का भी विलम्ब किये बिना अपनी उसी पोशाक मे कीचड मे चले गए और बडे परिश्रम से सूअर को खीच-खांच कर गढे से बाहर निकाल लाए।

उनके कपडे कीचड से लथ-पथ हो गए। दूसरे पहनने के लिये उन्हे पुन अपने निवास स्थान पर जाना आवश्यक था परन्तु इधर राज्य सभा मे उपस्थित होने का वक्त हो चुका था। अत समय के पाबन्द होने के कारण वे उसी अवस्था मे राजसभा मे आ पहुचे। उनकी उस स्थिति का कारण जानकर सभा के सभी सदस्य भौचक्के रह गए और उस सच्चे मानव की सराहना करने लगे।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानवता मनुष्य की आत्मा को ऐसा बना देती है कि वह अन्य प्रत्येक आत्मा के सुख दुख को अपना सुख-दुख मानने लगता है। लघु से लघुकीट का दुख भी वह सहन नहीं कर सकता। अनेको महापुरुष ससार मे ऐसे हुए हैं, जिन्होने शरणागत की रक्षा के लिये प्राणो का भी त्याग किया है चाहे वह शरणागत मानव हो या अन्य कोई पशु या पक्षी।

राजा शिवि तथा मेघरथ ने एक कबूतर की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस काट-काट कर तराजू पर चढा दिया था और भगवान नेमिनाथ लाखो पशुओ की प्राण-रक्षा के लिये सासारिक सुख को ठोकर मारकर विवाह के तोरण-द्वार से लौट गये थे। ऐसे ही असख्य उदाहरण हमारे धर्म-ग्रन्थो मे हैं जिनके द्वारा साबित होता है कि यहा मानव किस प्रकार अपनी मानवता को सच्चे अर्थों मे सिद्ध करते है। आगे कहा है—

काला कलह का पर्दा, कृपया उसे हटाकर,
एकात्मा का दर्शन, दुनिया को फिर दिखा दे।

कवि कहता है—हे देवी! मैं तुम से यही मांगता हू कि मेरी आत्मा पर से कलह के इस काले पर्दे को हटा दो, ताकि मैं अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरूप देख सकू।

पाप अठारह प्रकार के होते हैं, जिनमे कलह का नबर बारहवां है। कलह के कारण मनुष्य अनेक कर्मों का बन्धन कर लेते है, क्योकि उसके मूल मे ईर्ष्या, द्वेष, धोखा छल, कपट या असत्य होता है। जहा कलह होता है वहाँ सत्य नही रह सकता। कहा भी है—

"In quarrelling the truth is always lost"

कलह मे सत्य सदा खो जाता है।

—साइरस

तो जब तक कलह की भावना हृदय मे विद्यमान रहेगी या कषाय का काला रग उस पर चढा रहेगा तब तक मनुष्य अपनी आत्मा के विशुद्ध और ज्योतिर्मय स्वरूप का दिग्-दर्शन नही कर सकेगा। वह जिस प्रकार औरो का दिल दुखायेगा उसी प्रकार अन्य व्यक्ति भी उसे कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे। परिणाम यह होगा कि न वह औरो को चैन से रहने देगा और न स्वय ही सुख की नीद सो सकेगा। इसलिये आवश्यक है कि कलह के मूल कषायो का नाश किया जाय।

आगे क्या कहा गया है?—

नीरस न जाने कब से, मानव हृदय पडा है?
पीयूष की सुधारा, उसमें विमल बहा दे।

अर्थात्—न जाने कब से यह मानव हृदय नीरस और निराश सा हो रहा है। दूसरे शब्दो मे यह अपनी आत्मा की शक्ति को भूलकर दीन-हीन बना हुआ है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त पुरुषार्थ का अधिकारी

होकर भी अपने आपको निर्बल और नि सहाय समझता है। अत कृपा करके इसमे चेतना और जागृति की अमृतमयी धारा वहा दे तथा उदासीनता के सूखेपन को मिटाकर उमग और उत्साह की सरसता पैदा करदे।

शास्त्रो मे वताया गया है कि आत्मा के असख्यात प्रदेश होते हैं और एक-एक प्रदेश पर राग और द्वेष के परमाणु जमे हुए होने के कारण उसके निजी गुण दव जाते हैं। उन गुणो को प्रकाश मे लाने के लिये स्नेह और सद्‌भावना की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा कषाय-जनित रूक्षता कम हो सके।

कवि का अगला कथन है—

सोती हुई कलाएं, कविताएँ चारु कोमल,
कैलाशमयी उन्हें तू, झकझोर कर जगा दे!

अन्त मे कवि ने अपनी आकाक्षा प्रकट की है कि ससार के सभी मनुष्य सच्चे अर्थों मे मनुष्य वन जायँ और चारो और मानवता का प्रसार हो जाय तो कितना अच्छा रहे? समाज मे नाना प्रकार की उत्तम कलाएँ पुन जीवित हो जायँ, उत्तम साहित्य और प्रेरणा प्रद पद, गीत और कविताएँ मानव-मन को उत्साहित करने लगे। सक्षेप मे समाज और देश का उत्थान हो तथा धर्म का प्रचार व प्रसार होता रहे। पर यह तभी हो सकता है जवकि प्रत्येक मनुष्य मनुष्यता की प्राप्ति करे या इन्सानियत को अपनाए।

कल्याणकर चेतावनी

वधुओ, मेरे आज के कथन का साराश यही है कि इस ससार मे आत्म-कल्याण के लिये चार दुर्लभ साधनो मे पहला साधन जो कि मनुष्यत्व है, हमे उसको प्राप्त करना है। अगर हम उसे उसके सच्चे रूप मे प्राप्त कर लेते हैं, तो धीरे-धीरे श्रुति-श्रद्धा और सयम की भी प्राप्ति कर सकेंगे। मनुष्यता आत्म-साधना की पहली सीढी है, उस पर कदम रखने के पश्चात ही अपनी मजिल की ओर वढना सुगम हो सकेगा। इसलिए अनिवार्य है कि उत्तम पुरुष वनकर अनन्त काल के पश्चात मिले हुए मानव शरीर, आर्य क्षेत्र, आर्यकुल तथा गुरु-समागम आदि सभी सुयोगो से लाभ उठाकर हम अपनी आत्मा को जागृत करें, उसकी शक्ति को पहिचाने तथा अपने मानव-जन्म को सार्थक करें।

आप जानते ही हैं कि पृथ्वी पर वर्षा विना किसी प्रकार के भेद-भाव के सभी स्थानो पर एक सी वरसती है। किन्तु उसका लाभ उत्तम प्रकार की जमीन ही ले पाती है। पथरीली भूमि पर गिरा हुआ पानी व्यर्थ चला जाता

है, जबकि उपजाऊ जमीन उस सभी जल को ग्रहण करके फसल के रूप मे मधुर फल पैदा करती है।

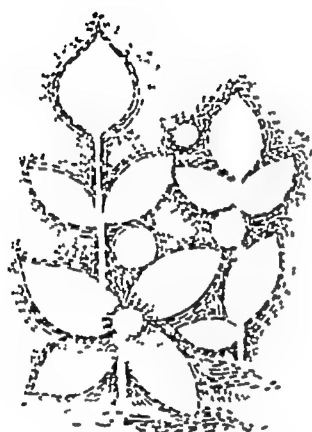
हमे भी अपना हृदय उपजाऊ भूमि के सदृश सरल और स्वच्छ रखना है, जिससे गुरु प्रदत्त प्रतिबोध हमारे हृदय को सद्‌गुण सम्पन्न बना सके और हमारी आत्मा निरतर विकास की ओर उन्मुख रहे। सत-महापुरुष इसीलिए बार-बार कहते हैं—

> **हे मतिमद अजान विचार मनुज-भव पाय कहा करिबो ?**
> **सार असार पिछानि को मारग तत्त्व विवेक हिये धरिबो।**
> **देव अदोषी गुरु निरलोभी दयामय धर्म सु आचरिबो।**
> **दाव मिल्यो तिरवेको अमीरिख नेक प्रमाद नहि करिबो ?**

पूज्य अमीऋषि जी म० कितनी कल्याण कर चेतावनी देते हुए कहते हैं—"अरे नादान प्राणी! जरा विचार कर कि यह मनुष्य-जन्म पाकर हमे क्या करना है ? समाधान भी साथ ही दिया है कि तुझे, सार क्या है, और असार क्या है ? इसकी पहचान करते हुये सही मार्ग अपनाना है और तत्वो की जानकारी अपने विवेक की कसौटी पर कसकर करनी है।

और क्या करना है ? समस्त दोषो से रहित देव, निस्वार्थ गुरु तथा दयामय धर्म का आचरण करना है। साथ ही एक पल के लिए भी नही भूलना है कि यह मनुष्य-पर्याय भव-सागर को पार करने के लिये अपूर्व अवसर के रूप मे प्राप्त हुई है अत तनिक भी प्रमाद किये बिना इसका लाभ उठाते हुए आत्म-मुक्ति का प्रयत्न करते चलना है।

वस्तुत बीता हुआ समय पुन लौट कर नही आता। 'यदतीतमतीतमेव तत्' जो गया सो गया। हाथ से छूटे हुए तीर के समान पुन मानव जीवन प्राप्त होना कठिन है। अत समय रहते हुए मनुष्य को इसका लाभ उठाकर अपने चिर अभिलाषित उद्देश्य की सिद्धि करना चाहिये। जो भव्य प्राणी इस बात को समझ लेंगे वे निश्चय ही अपने इस दुर्लभ जीवन को सार्थक बना सकेंगे।



१९

मनोरथों का जाल

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

इम समग्र सृष्टि मे हमे दो प्रकार की विचार-धाराओ वाले व्यक्ति दिखाई देते हैं। जिनमे से एक प्रकार के व्यक्तियो को हम नास्तिक कह सकते हैं और दूसरो को आस्तिक।

नास्तिकता

ऐसी विचारधारा रखने वाले व्यक्ति कहते हैं—यह सम्पूर्ण विश्व पच भूतो मे ही समाविष्ट है अर्थात्-पृथ्वी, पानी आग,पवन एव आकाश इन पांच पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नही है। अनुमान और आगम कोई प्रमाण नही है केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष मे जो मालूम होता है वही प्रामाणिक माना जा सकता है, शेप सव अप्रमाणिक। 'चक्षुर्वै सत्यम्।''

वे यह भी कहते हैं कि परलोक या परमात्मा कही कुछ नही है। धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप और मुक्ति भी नही है। ये सब मात्र मन की मानी हुई बातें हैं। कोई आत्मा परलोक मे नहीं जाती और न ही किसी को पुण्य-पाप का फल ही भोगना पड़ता है।

स्पष्ट है कि धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप और परलोक के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक प्राणियो को किस वात का भय हो सकता है ? वे तो अपना सम्पूर्ण जीवन पूर्ण ऐश-आराम और सासारिक सुखो के भोग मे व्यतीत करना पसद करते हैं। उनका कथन भी है—

यावज्जीवेत्सुख जोवेद्दण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत ?

अर्थात्—जव तक जीना है खूव सुख से जियो ! जीवन का आनन्द लूटने के लिये पास मे पैसा न हो तो ऋण लेते जाओ। ऋण ले लेकर घी पियो। यानी खूब खाओ, पियो और मौज करो। मरने पर देह भस्म हो जाएगी और पुन आना है, नही फिर ऋण चुकाने का सवाल ही क्या है ? परलोक कही है नही, जहाँ जाकर कर्जा चुकाना पडेगा। अतएव जैसे भी सभव हो सके जीवन का मजा लूट लो ! इसी मे बुद्धिमत्ता है, क्योकि बार-बार तो यह जिन्दगी मिलने वाली है नही। आत्मा के अभाव मे सयम, सदाचार धर्माचरण और तपस्या करके शरीर को कष्ट देना मूर्खता है, यह सव करने की कोई आवश्यकता नही है। न किसी ने आत्मा को देखा है, न परमात्मा को और न ही कभी परलोक दिखाई दिया है। सासारिक सुख तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं अत इनका त्याग करके परलोक के कल्पित सुखो की अभिलाषा करना महामूर्खता नही तो और क्या है ?

ऐसा विचार रखने वाले व्यक्ति विषय-भोगो को उपादेय समझते हैं तथा उनकी प्राप्ति के लिये ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु किन्ही कारणो वश अगर उन्हें भोग नही पाते तो भी उन्हे भोगने की इच्छा रखते हैं तथा उनके प्रति प्रगाढ आसक्ति रहने के कारण दुख, पश्चात्ताप, शोक और विकलता के कारण अपने अन्तिम समय मे भी आर्त-ध्यान बना रहने से हाय-हाय करते हुए वाल-मरण को प्राप्त होते हैं। परिणाम यह होता है कि न उन्हें इस लोक मे सुख और शाति प्राप्त होती है और न परलोक मे ही। उनकी मृत्यु अनेकानेक नवीन जन्मो का कारण बनती है तथा जन्म-मरण का यह चक्कर अनन्तकाल तक चलता रहता है। इस सबका कारण उनके हृदय की अनास्था या नास्तिकता ही होती है जो उनकी आत्मा को चिरकाल तक चैन नही लेने देती।

आस्तिकता

आस्तिकता नास्तिकता से बिलकुल विपरीत होती है। आस्तिक व्यक्ति वे होते हैं जो विचार और विवेक से युक्त होते है और जिन्हें विशुद्ध सम्यक्-

दृष्टि प्राप्त हो जाती है। जो जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेते हैं उनमे सहज ही ऐसा ज्ञान और विवेक जागृत हो जाता है, जिसके कारण वे विषय भोगो से विरक्त हो जाते हैं। यद्यपि सभव है कि वे उनका पूर्णतया त्याग न कर पाएँ फिर भी उनका अन्त करण भोगो मे लिप्त नही होता भोगो को भोगता हुआ भी उनमे अनासक्त रहता है। भोग विलासो के प्रति वह हेय वुद्धि रखता है तथा उनके त्याग की अभिलाषा सदा अपने मन मे वनाए रखता है।

मुमुक्षु के मनोरथ

मुमुक्षु का अर्थ है— कर्म-वन्धनो से मुक्त होने की इच्छा रखने वाला। मुमुक्ष के समान ही एक शब्द और है 'जिज्ञासु'। जिज्ञासु हम किसे कहेगे? उसे, जो आत्मा-परमात्मा, लोक-अलोक, पाप-पुण्य, जीव-अजीव जन्म-मरण, तथा वध और मुक्ति के विषय मे जानने की इच्छा रखता है। पर जो प्राणी इन सवके विषय मे पूर्ण ज्ञान और जानकारी करने के पश्चात् इस ससार-परिभ्रमण से वचने का प्रयत्न करने लगता है तथा त्याग, तपस्या, सयम व साधना आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा मे जुट जाता है वह मुमुक्षु कहलाता है।

मुमुक्षु प्राणी की भावनाएँ अत्यन्त शुभ और दृढ सकल्प लिये हुए होती हैं। उसके मनोरथो को हम तीन भागो मे वाट सकते हैं। ये मनोरथ फसल प्राप्त करने के लिये पूर्व मे वीज वोये जाने के समान हैं। भूमि शुद्ध कर लेने पर उसमे वीज डालने पर ही कालान्तर मे फसल प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार हृदय मे मनोरथो का वीजारोपण किये जाने पर ही शुभ सयोगो के परिणाम स्वरूप आत्मा को इच्छित फल की प्राप्ति होती है। हृदय मे जव शुभ भावनाएँ या शुभ मनोरथ होते हैं तभी मनुष्य उनके अनुकूल सयोग जुटाता है और उन्हे कार्य रूप मे परिणत करता है।

तो मुख्यतया मुमुक्ष प्राणी तीन प्रकार के मनोरथ अपने हृदय मे जागृत करता है। उनमे से प्रथम है—"मैं आरम्भ और परिग्रह का त्याग कव करूँगा? जिस दिन मैं ऐसा कर सकूँगा, वह दिन मेरे लिये धन्य होगा।"

वन्धुओ, आप जानते ही है कि आत्म-मुक्ति की अभिलापा रखने वाले साधक के लिये हमारे शास्त्रो मे पाँच महाव्रतो के पालन का विधान किया गया है। अपरिग्रह उनमे से एक है। हम देखते हैं कि अज्ञानी व्यक्ति परिग्रह की वदौलत ससार मे सुख पाना चाहता है, किन्तु होता क्या है? उसके

कारण उसे कभी भी शाति और सुख की प्राप्ति नही होती। क्योकि परिग्रह के वश मे पडकर वह धन-सम्पत्ति और अन्य पदार्थो का सग्रह करके ही नही रुक जाता वरन् और भी अनेक पापो को जन्म देता है। परिग्रह अपने आप मे ही पाप है तथा उसके कारण और भी अनेक पापो का जन्म होना आत्मा के लिये महान् दुख का कारण है। परिग्रह के लिये ही मानव चोरी करता है, झूठ बोलता है, हत्या करता है तथा अनाचार पर उतारू हो जाता है। सक्षेप मे उसके लिये कोई भी छोटा और बडा पाप करने से वह नही चूकता। किन्तु फिर भी उसे कभी सतोष का अनुभव नही होता। जितना भी परिग्रह वह बढाता जाता है उतना ही लालच भी उसके हृदय मे बढता चला जाता है। अपनी आसक्ति तथा गृद्धता के कारण वह इस लोक मे तो शाति पाता ही नही, परलोक मे की अशाति और भयानक दुखो को भोगने का साधन जुटा लेता है।

इसीलिये भगवान ने परिग्रह के प्रति अनासक्ति-भाव रखने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

सव्व जग जइ तुह, सव्व वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय त तव॥

उत्तराध्ययनसूत्र, १४-३९

—यदि सारा ससार और सारे ससार का धन तेरा हो जाय, तो भी वह तेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगा और उससे तेरी रक्षा नही होगी।

जो आस्तिक व्यक्ति भगवान की इस चेतावनी पर विश्वास रखते हैं, वे ससार के साम्राज्य को भी तुच्छ मानते हैं तथा धन-सम्पत्ति अथवा ससार की समस्त वस्तुओ के प्रति अपेक्षा का भाव रखते हुए अपरिग्रह व्रत का पालन करते हैं और अन्त मे शाश्वत सुख के भागी बनते हैं।

मुमुक्षु अथवा श्रावक का दूसरा मनोरथ होता है—"मेरा वही दिन सफल होगा, जिस दिन मैं ससार के समस्त प्रलोभनो पर विजय प्राप्त करके साधुत्व को अगीकार कर लूंगा।"

कितनी सुन्दर भावना है ? मुनिवृत्ति की महिमा का शब्दो मे वर्णन नही किया जा सकता। यह सहज वस्तु नही है। हम देखते हैं कि ससार मे कोई कार्य शरीर की सहन शक्ति से किया जाता है, कोई मन शक्ति से और कोई बुद्धि के बल से। किन्तु साधु-वृत्ति की साधना के लिए इन तीनो की ही आवश्यकता होती है। इस ससार मे जहाँ साधारण मनुष्य के लिए

व्यक्ति अपने मरण की निकृष्टता के कारण बार-बार जन्म लेता है और बार-बार मरता है पर ज्ञानी पुरुष अपने उत्कृष्ट मरण के परिणाम स्वरूप पुन जन्म और मरण के चक्कर मे नही पडता।

अकाम मृत्यु क्यो ?

अकाम मृत्यु इसलिये होती है कि प्राणी मे किंचित् भी विवेक नही होता। वह मृत्यु काल आने पर पश्चात्ताप, दु ख, शोक और विकलता के साथ सोचता है— "हाय ! आज मैं अपने अत्यन्त कष्टपूर्वक उपार्जित किये हुए धन-वैभव से अलग हो रहा हूँ, मेरी समस्त सुख प्रदायिनी वस्तुएँ यही रह रही हैं, मुझे चाहने वाले समस्त परिवार के व्यक्ति मुझसे बिछुड रहे हैं, मेरे समस्त मसूबे मिट्टी मे मिल गए और अनेक अभिलाषाएँ अपूर्ण रह गई।"

इस प्रकार की विकलता मृत्यु को अकाम-मृत्यु के रूप मे परिवर्तित कर देती है। इसका मुख्य कारण यही है कि अज्ञानी पुरुष विवेक हीनता के कारण अपना सम्पूर्ण जीवन धन कमाने की हाय-हाय मे और ससार के क्षणिक भोगो को भोगने के प्रयत्न मे बिताता है। उसकी लालसा और आसक्ति कभी मिट नही पाती, वरन् बढती ही चली जाती है। सत-महापुरुष यद्यपि उसे बार बार समझाते हैं और चेतावनी देते हैं—

जीवन तन धन भवन न रहि हैं, स्वजन प्रान छूटेंगे।
दुनिया के सम्बन्ध विदाई की वेला टूटेंगे॥
यह क्रम चलता रहा आदि से अब भी चलता भाई !
सयोगो का एक मात्र फल केवल सदा जुदाई॥

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

पर अज्ञानी व्यक्ति ऐसी आत्म-कल्याणकर चेतावनी पाकर भी बोध को प्राप्त नही होता और सासारिक उलझनो मे पडा रहता है, मोह के मायाजाल मे फसा रहता है। परिणाम अत मे यही होता है कि वह जीवन भर पापोपार्जन करते रहने के कारण निर्भयता पूर्वक मृत्यु का आलिगन नही कर पाता और अत समय आते ही थर-थर काँपता हुआ अकाम मरण मरता है तथा अनन्त काल तक के लिये उसी परम्परा मे पड जाता है।

सकाम मृत्यु किसे ?

सकाम मृत्यु उस विवेकवान्, बुद्धिमान् ज्ञानवान् व्यक्ति को प्राप्त होती है जो अपने जीवनकाल को सासारिक प्रलोभनो मे बचाता हुआ तथा भोगो

को हेय समझता हुआ व्यतीत करता है। जिस प्रकार एक कैदी कारागृह मे रहता हुआ यही विचार करता है कि वह कौन सी घडी होगी जब मैं इससे मुक्त होऊँगा, ठीक इसी प्रकार ज्ञानी या सम्यक्दृष्टि व्यक्ति इस ससार को कारागार समझता है तथा उससे शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होने की इच्छा रखता है। न उसे यहाँ के भोग-विलास रुचिकर होते हैं और नही परिवार का मोह उसे बधन मे डाल पाता है।

प० मुनि पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी म० ने इसी विपय को अपने एक सुन्दर पद्य के द्वारा समझाया है। कहा है —

कैदी ज्यू ससारी लोग, बंदीखानो जानो गृह,
त्रिया पग वेड़ी दृढ़, मोह के किवाड़ हैं।
पैरायत परिवार, जावा देवे नहिं वार,
आलस प्रमाद नींद, मिथ्या अधकार है ॥
मोह की दीवार गिरी, लीधो शिव पथ अब,
भागी चलो कहे ज्ञानी, वेण हितकार है।
कहे अमीरिख अवसर नहीं वार-वार,
मनुष्य जनम खुलो मोक्षपुरी द्वार है ॥

अर्थात् ससार के जितने भी प्राणी हैं सव कैदी के समान हैं। कैदी शब्द कर्णप्रिय नही है, सुनने मे भी अच्छा नही लगता। लेकिन है सत्य। चाहे राजा हो, बादशाह हो, सेठ हो, साहूकार हो, या कि अन्य निर्धन और दीन-हीन प्राणी ही क्यो न हो, सभी इस ससार मे कैदी हैं। आप विचार करेंगे, कैदी कैसे ? राजा हजारो लाखो जीवो पर शासन करता है, सेठ-साहूकार धन-वैभव मे खेलता है। अन्य प्राणी भी अपनी इच्छानुसार ससार मे रहते हैं, तथा सासारिक सुखो का उपभोग करते हैं फिर वे कैदी कैसे हुए ?

इसका समाधान पद्य मे साथ ही है, जिस पर हमे गभीरतापूर्वक विचार करना है। प्राणी कैद मे इस प्रकार वताया गया है कि उसका आयुष्य कैदखाने मे कैद रहने की अवधि है और घर कैदखाना है। वह जितने दिन जीता है इस कारागृह मे अपना समय गुजारता है।

अव कोई यह प्रश्न करे कि यह कैसी कैद है जिसमे न तो हथकडी-वेडिया हैं और न कारागृह मे मजवूत किवाड और उसके लिए पहरेदार

ही है। उत्तर है—इस गृहरूपी कारागृह मे स्त्री पाव मे पडी हुई मजबूत वेडियो के सदृश है और स्त्री तथा परिवार के प्रति जो मोह होता है वह वदीगृह के किवाडो का काम करता है। मोह की मजबूत दीवारो को लांघना मनुष्य के लिए वडा कठिन है। जैनागमो मे चौदह गुणस्थानो का विशद वर्णन किया गया है। ये गुणस्थान आत्मिक विकास की भूमिकाएँ हैं, इन पर प्राणी उत्तरोत्तर चढता है पर मोह-कर्म समस्त कर्मों से वलशाली होता है और वह तेरहवें गुण-स्थानो तक पहुँची हुई आत्मा को भी अपनी शक्ति के वल पर पहले मे खीच लाता है। जव तक मनुष्य मोह को नही जीत लेता उसकी मुक्ति की कामना पूरी नही हो सकती। स्त्री के प्रति मोह का होना पतन की सीढियो पर से निरतर उतरते पाना ही है। इसीलिये महापुरुप मोह-कर्म से वचने का प्रयत्न करते हैं।

मोह से निवृत्ति

इलायचीकुमार की कथा आप लोगो मे से वहुतो ने सुनी या पढी होगी। वह धनदत्त श्रेष्ठि के पुत्र थे। किन्तु एक सुन्दर नट-कन्या के मोह मे पडकर नट-समुदाय मे मिल गए और नटो की कला का अभ्यास करने लगे। नट के कथनानुसार उस कला मे पारगत हो जाने पर और किसी महाराजा द्वारा पुरस्कृत होने पर ही वह नट-कन्या को प्राप्त कर सकते थे।

नट-कुमारी के मोह मे अन्धे वन जाने के कारण इलाइचीकुमार ने अपना घर छोड दिया और नट कला मे प्रवीण होने का निश्चय किया। पूरे वारह वर्ष तक उन्होने उस कला का अभ्यास किया और जव उसमे प्रवीणता हासिल करली तो एक वार वाराणसी के राजा को अपनी कला दिखाने का निश्चय किया। इलाइचीकुमार के हृदय मे नट कन्या की प्राप्ति की लालसा अपने चरम शिखर पर थी अत वह वडी उमग और लगनपूर्वक एक स्तभ पर चढे हुए भाँति-भाँति के कौतुको का प्रदर्शन कर रहे थे।

इसी वीच उनकी दृष्टि एक विशाल भवन की ओर गई। देखा—एक अत्यन्त सुन्दरी नवोढा स्त्री एक मुनि को भाँति-भाँति के पकवान अपने हाथो से प्रदान कर रही है और मुनि अधिक लेने से इन्कार कर रहे हैं पर मुनि की दृष्टि एक वार भी उस लावण्यवती की ओर नहीं उठी, नीचे की ओर झुकी रही। भावना की निर्मलता और नारी सौंदर्य के प्रति मुनि का ऐसा उपेक्षा भाव देखकर इलायचीकुमार के हृदय मे विद्युत सी कौंध गई।

उनके मन मे विचार आया—"ये मुनिराज कितने निस्पृही हैं कि अपने समक्ष खडी हुई इस अनिन्द्य सुन्दरी महिला की ओर आँख उठाकर भी नही देखते। और मैं एक नटनी की सुन्दरता पर मोहित होकर बारह वर्ष से निरतर इस निकृष्ट नट कला को सीखने का प्रयत्न कर रहा हू। एक स्त्री के लिए मेरे इस मोह को धिक्कार है, और ये मुनि धन्य हैं।"

इलायचीकुमार अपने इन विचारो मे निमग्न थे कि नीचे बैठे हुए काशी नरेश की पुकार उनके कानो मे पडी —

"नट कुमार!"

पिघले हुये शीशे के समान इस सबोधन ने इलायचीकुमार के कानो मे प्रवेश किया। वे पुन सोचने लगे—"कैसा सबोधन है? कहाँ तो मैं एक सम्मानित और प्रतिष्ठित नगर-सेठ का पुत्र और कहाँ आज नटकुमार की पदवी? हाय! मेरा कितना पतन हो गया। सौन्दर्य-लोलुपी बनकर आज मैं किस अवस्था को प्राप्त हो गया?"

इस प्रकार एक ओर तो कुमार के मन मे अपने कुल का गौरव और स्वाभिमान की भावना जागृत हुई तथा दूसरी ओर दृष्टि पथ मे खडे हुए मुनिराज की निस्पृहता का गहरा प्रभाव पडा। परिणाम स्वरूप मोह-कर्म की प्रबलता के प्रति उन्हें पूर्णतया नफरत होगई और वे स्तम्भ से नीचे उतर कर सीधे मुनिराज के समीप पहुँचे।

मुनिराज को वन्दना करके उन्होने अपने पतन की कहानी उन्हे बताई और प्रार्थना की कि वे उसे सन्मार्ग पर बढाएँ। आशय स्पष्ट है कि इलायची कुमार ने आध्यात्मिक साधना की ओर दृढ कदम बढाया तथा केवल नट कन्या के मोह से ही नही, वरन ससार के सम्पूर्ण मोहजाल से किनारा कर लिया और ससार-कारागार से अपनी आत्मा को मुक्त किया।

तो मैं बता यह रहा था कि इस गृह कारागार मे मोह के वज्रमय किवाड बडी मजबूती से बन्द रहते हैं जिन्हे कोई वीर पुरुष ही खोलकर अपने आपको मुक्त कर सकता है।

पद्य मे आगे बताया गया है कि इस बदीखाने के पहरेदार परिवार के व्यक्ति होते है जो प्राणी को इससे बाहर नही निकलने देते। मान लीजिये किसी को आत्म-साधना करने की भावना हुई तो प्रथम तो स्त्री का मोह बेडियाँ बनकर उसके पैरो मे पडा रहता है और किसी तरह उससे छुटकारा मिल जाय तो परिवार वाले पहरेदार के समान सिर पर सवार हो जाते हैं।

जेल रक्षक जिस प्रकार कैदी को बाहर नही निकलने देते, उसी प्रकार सगे सम्बन्धी भी मानव को घर से निकलने मे बाधा डालते हैं।

मेरी भी जब दीक्षा लेने की भावना हुई थी तब मैंने अपनी माताजी से इसके लिये आज्ञा माँगी। माँ ने कहा—"अभी नही, पहले कुछ पढ, शिक्षा ग्रहण कर और ज्ञान-ध्यान सीख। उसके पश्चात् देखा जाएगा। ऐसा ही हुआ। मेरी माताजी ने इससे अधिक मुझे कोई तकलीफ नही दी। किन्तु मेरे एक साथी मोहनलाल ने तो ज्यो ही सयम ग्रहण करने का नाम लिया उनकी शामत आ गई। उसके माता-पिता ने उन्हे असह्य कष्ट दिया, पर वे दृढ थे अत सयम ग्रहण करके ही रहे।

कहने का अभिप्राय यही है कि परिवार के व्यक्ति सदा आत्म-साधना मे बाधक बनते हैं। आप को स्वय भी अनुभव होगा कि आप अगर सन्तो के पास आते हैं या हमारी ये बहनें धर्म-ध्यान की भावना से स्थानक मे जाती हैं तो जो श्रद्धाविहीन सम्बन्धी है, कहने से नही चूकते—"क्या सारे दिन महाराज के यहाँ जाकर बैठे रहते हो! कुछ घर गृहस्थी की फिक्र है या नही? मुख वस्त्रिका बाँधकर बैठ जाने से कोई पेट थोडे ही भर जाएगा।"

तो आत्म-साधना मे अनेक बाधाएँ हैं जो मनुष्य को चाहने पर भी उसकी ओर बढने नही देती। कहा भी है—

एक कनक अरु कामिनी, दो मोटी तलवार।
उठ्या था प्रभु भजन को, बीच मे लीधा मार॥

कनक यानी सोना चाँदी, धन-माल और कामिनी यानी स्त्री। ये दोनो ही आत्म-साधना के लिये कुठाराघात के समान कहे गये हैं। प्रथम तो मनुष्य धन-दौलत और परिग्रह का ही त्याग नही कर पाता और अगर उससे विरक्त हो गया तो स्त्री साधना के लिये इजाजत नही देती।

मनुष्य तभी तक स्वतन्त्र रहता है, जब तक कि विवाह नही करता। विवाह सम्बन्ध होते ही समझना चाहिये कि उसके पैरो मे बेडियाँ पड गई और उसकी स्वतन्त्रता का लोप हो गया। तो धन और स्त्री दोनो ही साधना को खडित करने वाली तलवारें हैं। आप जानते ही हैं कि दुकान पर बैठे हुए आपको व्याख्यान सुनने जाने की इच्छा हुई और आपने उठने का उपक्रम भी किया। किन्तु उसी समय एक ग्राहक आया और आपको प्रवचन-श्रवण की इच्छा का त्याग करके उससे मोल-भाव करना पडा। इसी प्रकार धन धर्माराधन मे बाधक बनता है। और इसके अलावा अगर कही साधुपना ग्रहण करने की आपकी इच्छा हो गई तो आपकी श्रीमती जी रो-रोकर

घर भर देती है। बस मामला खतम। भगवान का भजन करने की इच्छा की, पर प्रथम ग्रासे मक्षिका निपात वाली कहावत चरितार्थ हो गई।

आगे कहा गया है—यह जीवात्मा मिथ्यात्व के अन्धकार मे प्रमाद रूपी निद्रा के वश मे पडा हुआ है। जब तक इसकी निद्रा भग नही हो जाती यह इस कैदखाने से मुक्त नही हो सकता। इसलिये आवश्यक है कि प्राणी अपने विवेक को जागृत करे, ससार की असारता को समझे, मोह कर्म के घातक परिणाम को जाने और उसे नष्ट करके मुक्ति-पथ पर बढ चले। यह मानव-जीवन रूपी सुनहरा अवसर बार-बार नही मिलता। अगर इसका सदुपयोग कर लिया जाय तो निश्चय ही आत्मा शिवपुर को प्राप्त कर सकती है। दूसरे शब्दो मे यह मनुष्य-जन्म अगर सार्थक कर लिया जाय तो वास्तव मे ही यह मोक्षपुरी का द्वार सावित हो सकता है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को समय रहते ही जग जाना चाहिये तथा सम्यकज्ञान की प्राप्ति करके ऐसा मनोरथ अपने हृदय मे रचना चाहिये कि वह समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग कर सके तथा विरक्तिमय जीवन को अपनाकर एक दिन सच्चा साधुत्व ग्रहण करे। सच्चे साधु की पहचान हम किस प्रकार कर सकते हैं ? इस विषय मे एक श्लोक कहा गया है —

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्ति परम गेहिनी,
सत्य सूनुरय दया च भगिनी भ्राता मन सयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसन ज्ञानामृत भोजनम्,
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे ! कस्मात् भयं योगिन ॥

कितना सुन्दर श्लोक है ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य उस परिवार को अपना परिवार न माने जो आत्म-साधना मे रुकावट डालता है, उस धन-वैभव को अपना धन न माने जो तृष्णा की आग प्रज्वलित करके हृदय के समस्त सद्गुणो को भस्म कर देती है। वरन वह ऐसा साधक बने—धैर्य जिसका पिता हो, क्षमा माता हो, शान्ति गृहिणी हो, सत्य सुपुत्र हो, दया बहिन हो, और मनोनिग्रह भाई हो, पृथ्वीतल ही जिसकी शय्या हो, दिशाएँ जिसके वस्त्र हो और जो ज्ञानरूपी अमृत का ही आहार करता हो। जिस साधक या योगी का इतना सुन्दर और विशाल परिवार हो उस योगी को किससे भय हो सकता है ? कौन उसके मार्ग मे वाधा डाल सकता है ? वह तो प्रत्येक परिस्थिति मे निर्भय और मस्त रहता है।

तो बंधुओ, हमारा विषय चल रहा था कि सकाम मृत्यु किसे प्राप्त हो सकती है। इसी विषय के सन्दर्भ मे मैंने आपको बताया है कि जो व्यक्ति इस ससार और गृह को कारागार समझता है, पत्नी, पुत्र और परिवार के प्रति अपने मोह को बेडियाँ मानता है और धन-वैभव को अनेक पापो का कारण मानता हुआ इन सबसे विरक्त हो जाता है, वही ज्ञानी पुरुष अपने उत्कृष्ट परिणामो के कारण अत मे पडित-मरण को प्राप्त होता है। वह वीर पुरुष ही निर्भयतापूर्वक मृत्यु का स्वागत कर सकता है और अपनी मृत्यु को जन्म-मरण की अविच्छिन्न परपरा का नाशक बना लेता है। वह अपनी आत्मा को प्रतिबोध देता है —

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भज्यमाने न भेतव्य, यतस्त्व ज्ञानविग्रह ॥

अर्थात्—हे आत्मन् ! तू ज्ञान रूपी दिव्य शरीर का स्वामी है, फिर तुझे सैकडो कीटाणुओ से भरे हुए इस देह-रूपी जर्जरित पिंजरे के नष्ट होने का क्या भय ? इसके नष्ट हो जाने पर भी तेरा ज्ञान रूपी शरीर तो अक्षुण्ण ही रहेगा। सैकडो मृत्युएँ भी उसका कुछ भी बिगाडने मे समर्थ नही हैं।

इस प्रकार परमार्थ दृष्टि से विचार करने वाला भव्य प्राणी मृत्यु के आने पर कभी भी रोता नही, चीखता-चिल्लाता नही, शोक और विकलता का रच मात्र भी अनुभव नही करता तथा उसका स्नेही के समान स्वागत करता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उसके लिये जीवन और मरण समान होता है। न उसे जीवित रहने मे सुख का अनुभव होता है, और न मरने मे दुख का। वह पूर्ण शाति, निराकुलता और सयत भाव मे विचार करता है "शरीर पुद्गलमय और आत्मा चेतनमय है। शरीर रूपी है तथा आत्मा अरूपी। शरीर नाशवान् है और आत्मा अनश्वर है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। मैं आत्मा हू, शरीर नही, अतएव शरीर के नष्ट होने पर भी मेरी कोई हानि नही है क्योंकि —

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥

—भगवद्गीता अ० २-२२

—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग कर दूसरे नवीन वस्त्रो को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर अन्य नवीन शरीर को प्राप्त कर लेती है ।

इस प्रकार विचार करके ज्ञानी पुरुष मृत्यु की भयकरता को जीत लेते हैं तथा उसे सन्निकट जानकर अपने समस्त सचेतन और अचेतन परिग्रह का त्याग करते हुए शरीर का ममत्त्व भी छोड देते हैं। इस सब से रहित होकर वे आत्मा के अजर, अमर स्वरूप का विचार करते हैं और हृदय को पूर्णतया हलका बनाकर चिदानन्द मे लीन हो जाते हैं।

परिणाम यह होता है कि वे उत्कृष्ट मरण को अपनाकर अमरत्त्व की प्राप्ति करते हैं । ऐसे महापुरुषो के लिए ही कहा गया है —

Death is the golden key that opens the palace of eternity"

—मिल्टन

मृत्यु वह सुवर्णमय कुजी है जो अमरता के महल को खोल देती है ।

चतुर साधक इन उक्तियो को भली-भाति समझ लेता है और उनसे लाभ उठाकर मोक्ष-महल की इस चावी को खोजकर अपने कब्जे मे करता हुआ अपने अन्तिम समय मे उसके द्वार पर जा पहुँचता है ।

मनोरथों का महत्त्व

भाइयो ! मेरे आज के कथन का साराश यही है कि प्रत्येक मनुष्य को अगर अपने मानव-जीवन से लाभ उठाना है तो उसे मनोरथो के महत्त्व को भली-भाति समझ लेना चाहिए । ससार की कोई भी वस्तु अपने आप मे बुरी नही होती, उसका अच्छा और बुरा बनना उसके उपयोग पर निर्भर रहता है । उदाहरण स्वरूप अग्नि को लीजिए । अगर इन्सान उसका सदुपयोग करे तो उससे जीवन की रक्षा के लिए भोजन तथा अन्य वस्तुओ के बनाने मे, राष्ट्र की उन्नति के लिए बडे-बडे कल-कारखानो को चलाने मे और धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न करने के लिये धूप-हवन आदि करने के काम मे ले सकता है । किन्तु ईर्ष्या द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे के खेत-खलिहानो को जलाने के तथा स्वय भी जलकर आत्म-हत्या करते हुए अनन्त कर्मों के बन्धन करने के काम मे भी ले लेता है ।

अग्नि वही है पर आपने देखा न, कि किस प्रकार उनका सदुपयोग और किस प्रकार उसका दुरुपयोग किया जा सकता है ? ठीक यही हाल इस मनुष्य जीवन का है। मनुष्य चाहे तो इसी के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति कर सकता है और नही तो निगोद और नरक के द्वार पर जा पहुँचता है।

ध्यान मे रखने की वात है कि मानव-जीवन की सार्थकता और निरर्थकता मन के मनोरथो पर निर्भर होती है। यद्यपि मनोरथो के हाथ-पैर नही होते ये स्वय भला-बुरा कुछ नही करते। किन्तु उनका प्रभाव इतना चमत्कारिक होता है कि वे प्राणी को अपने अनुकूल चलाने पर विवश कर देते हैं। इसीलिए कहा जाता है—

मनोरथानामगतिर्न विद्यते

वस्तुत मनोरथो की गति को जाना नही जा सकता। उनकी उत्कृष्टता आत्मा को आधे क्षण मे ही मोक्ष मे पहुँचा सकती है और उनकी निकृष्टता आधे ही क्षण मे उसे सातवें नरक मे धकेल देती है। इसीलिये महात्मा कवीर कहते है कि मन तो वही है अब अपने मनोरथो के द्वारा ही उसे जैसी इच्छा हो ले जाओ—

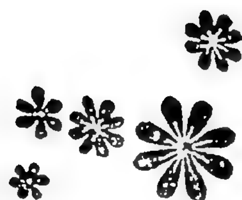
कबिरा मन तो एक है, भावे तहाँ लगाय।
भावे हरि की भक्ति कर, भावे विषय कमाय ॥

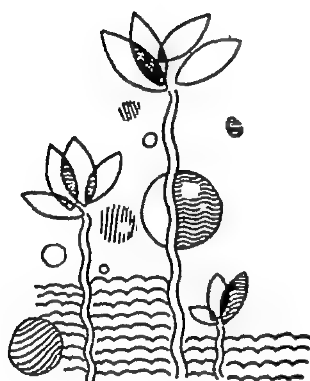
मेरा भी आपसे यही कहना है कि यद्यपि आप आज ही साधुत्व अगीकार नही कर सकते, किन्तु सच्चे श्रावक तो बन सकते हैं, आप श्रावको के लिये ही वारह व्रतो का विधान जैनागमो मे किया गया है और कहा गया है कि शुभ मनोरथो को अपने मन मे स्थान दो ! इन मनोरथो मे से तीन मनोरथो का अभी आपके समक्ष विस्तृत वर्णन भी आया है।

अगर आप वीतराग के वचनो पर विश्वास कहते हैं तथा इन मनोरथो को दृढतापूर्वक अपने मन मे धारण कर लेते हैं तो निश्चय ही आपको इस ससार-कारागार से मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग मिलेगा। बीज वोने पर जिस प्रकार किसान को कुछ समय वाद भी फसल की प्राप्ति अवश्य होती है। उसी प्रकार शुभ-मनोरथो के अकुरो का मन मे वीजारोपण करने पर काला-न्तर मे ही समय पर शुभ-फल अवश्य प्राप्त होती है। शरीर की समस्त क्रियाओ के मूल मे मनोरथ ही होते है जो अप्रत्यक्ष रहकर भी अपने प्रभाव

से प्राणी को गतिशील वनाते है। वे अगर अशुभ हैं तो मनुष्य पतन के मार्ग पर वढता है और शुभ हैं तो उन्नति के पथ पर अग्रसर होता चला जाता है।

इसलिए बधुओ, अगर आप अपनी आत्मा को इस ससार से मुक्त करना चाहते हैं तो आपको अभी-अभी वताए गए कल्याणकारी मनोरथो का चिन्तन करते हुये अपनी भावनाओ को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। एक मात्र यही मार्ग शाश्वत सुख की प्राप्ति करा सकता है।





२०

वचने का दरिद्रता ?

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

हमारा आज का विपय है—भापा का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये ?

अनन्त पुण्योदय से प्राप्त वाणी

इस जगत मे अनन्तानन्त प्राणी विद्यमान हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणी हमारे दृष्टि पथ मे आते हैं। किन्तु जिह्वा होने पर भी स्पष्ट और सार्थक भापा वोलने की शक्ति वहुत कम प्राणियो मे पाई जाती है। एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के प्राणियो मे तो यह क्षमता होत ही नही, पर समस्त पचेन्द्रिय जीवो मे भी यह नही पाई जाती। हाथी, घोडे, गेडे आदि विशालकाय जीव पचेन्द्रिय होकर भी एक-दूसरे से अपने विचारो का आदान प्रदान करने मे समर्थ नही हैं केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो दूसरो की समझ मे आने वाली भापा वोल सकता है तथा उन्हे अपने विचारो से भली-भाति अवगत कराने मे कुशलता रखता है।

यह सब देखने पर हमे स्पष्ट रूप से महसूस होता है कि मनुष्य ने अपने पिछले जन्मो मे अन्य प्राणियो की अपेक्षा कुछ विशेष सुकृत किये होंगे तथा विशेप पुण्यो का उपार्जन किया होगा, तभी उसे जगत के अनन्त प्राणियो की अपेक्षा विशेष बौद्धिक शक्ति, मानसिक क्षमता और इन सबसे बढकर सार्थक भाषा बोलने की क्षमता प्राप्त हुई है। अन्यथा ससार के अन्य सभी जीवो को मनुष्य के समान ही शक्तियाँ क्यो प्राप्त नही हुई ?

तो अनन्त पुण्यो का सचय करने पर हमे जो व्यक्त वाणी बोलने की क्षमता मिली है यह निश्चय ही अत्यन्त मूल्यवान् है। ज्ञानियो की दृष्टि से देखा जाय तो हमे इसकी प्राप्ति के लिये बडी भारी कीमत अदा करनी पडी है। और इसलिये इस महा-मूल्यवान् शक्ति को हमे व्यर्थ ही नही गँवाना चाहिये। ससार का प्रत्येक बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति अपनी किसी भी बहुमूल्य वस्तु को व्यर्थ मे नही खोता। वह उससे पूरा पूरा लाभ उठाता है, बल्कि जितना मूल्य देकर उसे प्राप्त करता है, उससे अधिक ही वसूल करना चाहता है। इस दृष्टि से वही व्यक्ति बुद्धिमान माना जाएगा जो वाणी की प्राप्ति मे खर्च किये हुए पुण्यो के पुजो की अपेक्षा भी इसके द्वारा और अधिक नवीन पुण्यो का उपार्जन कर लेगा।

हमारे जैनागमो मे पुण्य के नौ प्रकार बताए गए हैं जिनमे से एक वचन पुण्य भी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अगर हम अपनी वाणी का उपयोग भली-भाति विचार कर करें, इसके द्वारा किसी को हानि और कष्ट न पहुँचाएँ, किसी के हृदय को अपने वचनो से व्यथित न करें अपितु जहाँ तक सम्भव हो सके इसके द्वारा औरो को सुख और शाति पहुँचाने का प्रयत्न करें तो हम इसके द्वारा पुन महान् पुण्यो का सचय कर सकते हैं।

आचार्य चाणक्य ने वाणी का बडा भारी महत्व बताया है। कहा —

ससारकटुवृक्षस्य, द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषित च सुस्वादु संगतिः सुजने जने॥

—इस विराट् विश्व-रूपी कटुवृक्ष मे अमृत के समान दो ही फल हैं— एक है सरस और प्रिय वचन तथा दूसरा सज्जन पुरुषो की सगति।

जिह्वा मे अमृत बसे

आज के युग मे हम जिधर भी दृष्टिपात करते हैं, उधर ही वैर विरोध और सघर्ष दिखाई देता है। राष्ट्र मे, समाज मे, परिवार मे, बाजार मे और स्कूल या कॉलिजो मे, सभी जगह अशाति और कलह का वातावरण

वना रहता है। इसके मूल कारणो को खोजा जाय तो लगता है कि अधिकाशतया सघर्षों का कारण वाणी का दुरुपयोग करना ही है। मनुष्य अपनी भाषा की मधुरता से जहा आसपास के सम्पूर्ण वातावरण को अपने अनुकूल वना लेता है तथा सर्वत्र सम्मान का पात्र बनता है, वहाँ भाषा के दुरुपयोग से अपमान और निन्दा का भाजन वन जाता है। इसीलिये कहा जाता है.—

जिह्वा में अमृत वसै, विष भी तिसके पास।
इक वोले तो लाख ले, एके लाख विनास॥

अमृत और विष दोनो ही जिह्वा मे विद्यमान रहते हैं। जो व्यक्ति अमृतमयी अर्थात् मधुर और प्रियवाणी का उच्चारण करता है, वह अनेक प्रकार का लाभ प्राप्त कर लेता है, और जो अपनी जिह्वा से विष-रूप कटुवचनो का उच्चारण करता है, वह अपने पास रहा हुआ वैभव भी खो देता है।

स्पष्ट है कि मनुष्य की भाषा मे महान् शक्ति निहित होती है। अपनी इस छोटी सी जीभ से ही वह चाहे तो महाभारत के समान युद्ध ठनवा दे और अपने चारो ओर शत्रुओ को भी मित्र वनाले और घोर कलह को पलक झपकते ही शात कर दे। फिर एक उर्दू के कवि ने भी यही कहा है—

ग़ैर अपने होंगे शीरीं, हो गर अपनी जबां।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिसकी जवां॥

—अपनी जवान मधुर हो तो गैर भी अपने वन जाते हैं और तीखी जवान होने से मित्र भी शत्रु के रूप मे वदल जाते हैं।

तो वाणी का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिये, इस सवध मे हमारे और अन्य धर्मों के शास्त्र भी एक ही वात कहते हैं कि मनुष्य सदा मधुर वचन वोले। प्रिय वचनो का प्रभाव वडा चमत्कारिक होता है। सभी महापुरुष और तीर्थंकर भगवान् भी सत्य और मधुर वचनो का प्रयोग करके ही अन्य जीवो पर अपना प्रभाव डालते थे।

ले लो अपनी कठी माला

राजपुत्र मेघकुमार ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। किन्तु सयोगवश उसी दिन उन्हें शयन करने के लिये सतो की अधिक सख्या के कारण द्वार के समीप स्थान मिला। परिणाम यह हुआ कि आवश्यकता के कारण सत द्वार से आए-गए और अधकार के कारण मेघकुमार को कई वार ठोकरें लग जाने से रात-भर नीद नही आई।

कहाँ तो एक दिन पहले मेघकुमार राजपुत्र थे और अपने आलीशान भवन मे सुख की नीद सोते थे पर दीक्षा लेते ही उन्हे द्वार के पास भूमि सोने को मिली और ऊपर से ठोकरे भी खानी पडी। मेघकुमार वहुत क्षुब्ध हुए और विचार करने लगे —

"यह क्या ? लगता है कि सतो का स्नेह किसी पर दीक्षा लेने से पूर्व ही अधिक रहता है। मुनि बना देने के उपरान्त तो वे किसी की रच-मात्र भी परवाह नही करते। अन्यथा आज ही मैंने दीक्षा ली और आज ही मुझे ऐसे स्थान पर क्यो सुलाया जाता है ? ऐसे साधुपने को मैं द्वार से नमस्कार करता हू। प्रात काल होते ही भगवान को उनका पहनाया हुआ यह वेश और रजोहरण आदि सौंपकर कहूगा—हे प्रभो ! अपनी चीजे सम्हालो, मैं तो यह चला।"

इन्ही विचारो मे पडे हुए मेघकुमार मुनि ने रात्रि जैसे-तैसे व्यतीत की और प्रात काल होते ही भगवान् के समीप पहुँचे।

भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान द्वारा मेघकुमार के मन की वात समझ ली और मद-मद मुस्कराते हुए पूछा —

"मेघ मुनि ! तुम्हारे हृदय मे यह भावना पैदा हुई है कि मैं साधु का वाना छोड-छाड कर चला जाऊँ। इसीलिये आए हो न ?"

मेघमुनि के मन मे यह विचार कर शाति हुई कि मुझे अपनी जवान से कुछ कहना नही पडा, भगवान् स्वय ही समझ गए। प्रत्यक्ष मे वोले—"हा भगवन् ! यही बात है। आज मेरी सम्पूर्ण रात्रि आँखो मे ही कटी है। सतो के वार वार आने-जाने से मुझे रात भर चैन नही मिली, अत कृपा करके अपनी ये सारी चीजें सम्हालिये और मुझे घर जाने की इजाजत दीजिये।"

महापुरुषो की गम्भीरता सागर के समान होती है, भगवान् भी मेघमुनि की वातो से तनिक भी क्षुब्ध या नाराज नही हुए, वरन पूर्ववत् मुस्कराते हुए वडे मधुर शब्दो मे वोले —

'हे मेघ ! तुमने राजघराने मे जन्म लिया है, मानव-पर्याय प्राप्त की है और कल ही मेरे पास सयम अगीकार किया है। फिर भी एक रात्रि के परीषह से ही इतना घवरा गये ? वत्स ! अपने पिछले हाथी के भव मे तुमने कितना परीषह सहन किया था। जीव-दया के निमित्त एक खरगोश को वचाने के लिये। उस समय तुम वीस प्रहर यानी अढाई दिन तक अपने तीन पैरो से ही खड़े रहे थे।

वना रहता है। इसके मूल कारणो को खोजा जाय तो लगता है कि अधिकाशतया सघर्षों का कारण वाणी का दुरुपयोग करना ही है। मनुष्य अपनी भापा की मधुरता से जहा आसपास के सम्पूर्ण वातावरण को अपने अनुकूल वना लेता है तथा सर्वत्र सम्मान का पात्र वनता है, वहाँ भापा के दुरुपयोग से अपमान और निन्दा का भाजन वन जाता है। इसीलिये कहा जाता है.—

जिह्वा में अमृत बसै, विष भी तिसके पास।
इक बोले तो लाख ले, एकै लाख विनास॥

अमृत और विष दोनो ही जिह्वा मे विद्यमान रहते है। जो व्यक्ति अमृतमयी अर्थात् मधुर और प्रियवाणी का उच्चारण करता है, वह अनेक प्रकार का लाभ प्राप्त कर लेता है, और जो अपनी जिह्वा से विप-रूप कटुवचनो का उच्चारण करता है, वह अपने पास रहा हुआ वैभव भी खो देता है।

स्पष्ट है कि मनुष्य की भाषा मे महान् शक्ति निहित होती है। अपनी इस छोटी सी जीभ से ही वह चाहे तो महाभारत के समान युद्ध ठनवा दे और अपने चारो ओर शत्रुओ को भी मित्र वनाले और घोर कलह को पलक झपकते ही शात कर दे। फिर एक उर्दू के कवि ने भी यही कहा है—

गैर अपने होगे शीरीं, हो गर अपनी जबां।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिसकी जबा॥

—अपनी जवान मधुर हो तो गैर भी अपने वन जाते हैं और तीखी जवान होने से मित्र भी शत्रु के रूप में वदल जाते हैं।

तो वाणी का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिये, इस सवध मे हमारे और अन्य धर्मों के शास्त्र भी एक ही वात कहते हैं कि मनुष्य सदा मधुर वचन वोले। प्रिय वचनो का प्रभाव वडा चमत्कारिक होता है। सभी महापुरुप और तीर्थंकर भगवान् भी सत्य और मधुर वचनो का प्रयोग करके ही अन्य जीवो पर अपना प्रभाव डालते थे।

लो अपनी कठी माला

राजपुत्र मेघकुमार ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। किन्तु सयोगवश उसी दिन उन्हे शयन करने के लिये सतो की अधिक सख्या के कारण द्वार के समीप स्थान मिला। परिणाम यह हुआ कि आवश्यकता के कारण सत द्वार से आए-गए और अधकार के कारण मेघकुमार को कई वार ठोकरे लग जाने से रात-भर नीद नही आई।

कहाँ तो एक दिन पहले मेघकुमार राजपुत्र थे और अपने आलीशान भवन मे सुख की नींद सोते थे पर दीक्षा लेते ही उन्हें द्वार के पास भूमि सोने को मिली और ऊपर से ठोकरें भी खानी पडी। मेघकुमार वहुत क्षुब्ध हुए और विचार करने लगे —

"यह क्या ? लगता है कि सतो का स्नेह किसी पर दीक्षा लेने से पूर्व ही अधिक रहता है। मुनि बना देने के उपरान्त तो वे किसी की रच-मात्र भी परवाह नही करते। अन्यथा आज ही मैंने दीक्षा ली और आज ही मुझे ऐसे स्थान पर क्यो सुलाया जाता है ? ऐसे साधुपने को मैं द्वार से नमस्कार करता हू। प्रात काल होते ही भगवान को उनका पहनाया हुआ यह वेश और रजोहरण आदि सौंपकर कहूगा—हे प्रभो ! अपनी चीजे सम्हालो, मैं तो यह चला।"

इन्ही विचारो मे पडे हुए मेघकुमार मुनि ने रात्रि जैसे-तैसे व्यतीत की और प्रात काल होते ही भगवान् के समीप पहुँचे।

भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान द्वारा मेघकुमार के मन की वात समझ ली और मद-मद मुस्कराते हुए पूछा —

"मेघ मुनि ! तुम्हारे हृदय मे यह भावना पैदा हुई है कि मैं साधु का वाना छोड-छाड कर चला जाऊँ। इसीलिये आए हो न ?"

मेघमुनि के मन मे यह विचार कर शाति हुई कि मुझे अपनी जवान से कुछ कहना नही पडा, भगवान् स्वय ही समझ गए। प्रत्यक्ष मे वोले—"हा भगवन् ! यही वात है। आज मेरी सम्पूर्ण रात्रि आँखो मे ही कटी है। सतो के वार वार आने-जाने से मुझे रात भर चैन नही मिली, अत कृपा करके अपनी ये सारी चीजें सम्हालिये और मुझे घर जाने की इजाजत दीजिये।"

महापुरुषो की गम्भीरता सागर के समान होती है, भगवान् भी मेघमुनि की वातो से तनिक भी क्षुब्ध या नाराज नही हुए, वरन पूर्ववत् मुस्कराते हुए वडे मधुर शब्दो मे वोले —

"हे मेघ ! तुमने राजघराने मे जन्म लिया है, मानव-पर्याय प्राप्त की है और कल ही मेरे पास सयम अगीकार किया है। फिर भी एक रात्रि के परीषह से ही इतना घवरा गये ? वत्स ! अपने पिछले हाथी के भव मे तुमने कितना परीषह सहन किया था। जीव-दया के निमित्त एक खरगोश को वचाने के लिये। उस समय तुम वीस प्रहर यानी अढाई दिन तक अपने तीन पैरो से ही खडे रहे थे।

बधुओ ! आज हम चाहे कि एक पैर से खडे रहकर घटे दो घटे भी ईश-स्मरण करें तो वह नही वन पाता क्योकि उससे महान् तकलीफ का अनुभव होता है । किन्तु मनुष्य के वजन की अपेक्षा भी कई गुना अधिक हाथी का वजन और मनुष्य के शरीर से कई गुना विशालकाय होकर भी मेघकुमार के जीव ने हाथी के भव मे तीन पैरो से अढाई दिन तक खडे रहना मजूर कर लिया । क्योकि शरीर मे खुजली चलने के कारण उसने एक पैर ऊँचा किया ही था कि जगल मे लगी हुई दावाग्नि से वचने के लिये एक खरगोश उसके उठाए हुए पैर के स्थान पर आकर वैठ गया ।

हाथी ने विचार किया कि—"अगर मैं पैर नीचे रखता हू तो यह नन्हा जीव मारा जाएगा । और जव अग्नि से वच ही गया तो यह निरीह प्राणी मेरे पैरो तले दवकर क्यो मारा जाए ?"

तो भगवान् महावीर मेघकुमार से कह रहे हैं,—"हे मेघ, तुममे तिर्यंच के भव मे तो इतना विवेक था कि एक प्राणी को जीवन-दान देने के निमित्त तुमने अपने प्राणो की भी परवाह नही की और तीन पैरो के वल पर ही वीस प्रहर तक खडे रहे, पर आज जवकि तुमने मनुष्य-पर्याय प्राप्त कर ली है, शरीर पर तनिक सी ठोकर लगते ही हिम्मत हार गए ? क्या इतना सा परीपह उस पूर्व-परीपह से वढकर है ?"

भगवान के स्नेह पगे और मधुर वचनो ने मेघकुमार पर चमत्कारिक प्रभाव डाला । उनकी मीठी चेतावनी ने मुनि की आँखें खोल दी । और वे विचार करने लगे—'प्रभु की वात कितनी सत्य है ? हाथी होकर मैंने जिस दृढता से वह कठिन परीपह सहन किया, आज मानव होकर उससे शताश भी सहन नही कर सकता । मैं कितना कायर सावित हुआ हू ।"

विचार करते-करते भावनाओ की उत्कृष्टता के कारण मेघमुनि को उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो गया तथा उनका अन्त करण स्थिर हो गया । अपनी भूल पर पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने भगवान से निवेदन किया—'प्रभो ! आपका कथन यथार्थ है । रात्रि मे सतो का कोई दोप नही था । वे ज्ञान-ध्यान अथवा अनिवार्य कारणो के कारण ही आते-जाते थे । किसी ने मुझे जान-वूझकर ठोकर नही मारी । और अन्धकार के कारण किसी की लग भी गई तो क्या हुआ ? मेरी महान् भूल है कि इतनी सी वात के लिये मैंने सयम को ही त्याग देने का निश्चय कर लिया । मैं अपनी गलती के लिये पश्चात्ताप करता हू और इसी क्षण पुन अपने सयम पथ पर दृढ़ता से चलने का प्रण करता हूँ ।"

वधुओ ! आपने जान लिया होगा कि मेघमुनि की भावनाओ मे किस प्रकार एकदम ही परिवर्तन आया ? किन्तु उसका मूल कारण क्या था ? यही कि भगवान ने उनकी कमजोरी के कारण उन्हे उलाहना नही दिया, उनकी भर्त्सना नही की, उन्हे सयम-मार्ग पर चलने के अयोग्य नही बताया। केवल अपनी मधुर वाणी से उन्हे समझाया और युक्तिपूर्वक उनकी भावनाओ को वदला। यह शक्ति उनकी भाषा मे थी।

इससे सावित होता है कि एक मधुर वाक्य अपना जो प्रभाव डालता है, सौ कटु वाक्य मिलकर भी उतना कार्य नही कर सकते है। प्रिय और निरवद्य भाषा वोलने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है, आत्मा का हित होता है और अनेक उलझनें सुलझ जाया करती हैं।

और इसके विपरीत अगर कटु भाषा का प्रयोग किया जाय तो कहने वाले और सुनने वाले दोनो ही प्राणियो का अहित होता है। दिल दुखाने वाले शब्दो का उच्चारण कर के वोलने वाले से कर्मों का बन्धन तो होता ही है साथ सुनने वाले की जो प्रतिक्रिया होती है वह निश्चय ही उत्तम नही होती अत उसके भी कर्म व धते हैं।

मराठी भाषा मे कहा है—

वोलावें वहु गोड प्राण्या वोलावे वहु गोड ॥ ध्रु० ॥
दुष्ट दुरुक्ति दुर्वचनाची,टाकु निद्यावी खोड ॥प्राण्या० ॥

पद्य मे प्राणी को सीख दी गई है—हे आत्मन् ! तुम वोलो ! किन्तु अपनी वोली मे मिठास रखो, कडवापन मत आने दो ! अन्यथा दूसरो का दिल दुखेगा। तुम्हारे कटु शब्द सुनने वाले के हृदय पर ऐसे घाव कर देंगे जो कभी मिट नही सकेंगे।

हमारे वहुत से भाई कहते है—"महाराज ! आदत पड गई है, गालियाँ निकालने की। अत वात करने से पहले ही मुह से गाली निकल जाती है। पश्चात्ताप तो वहुत होता है, पर क्या करे ? स्वभाव वन गया है।" अरे भाई ! स्वभाव वन गया है तो उसे धीरे-धीरे छोडने का प्रयत्न करो। मनुष्य-मात्र मे कोई भी ऐसा दोष नही है, जिसका प्रतिकार उचित अभ्यास के द्वारा न हो सकता हो अगर तुम्हे अपनी आत्मा का भला करना है तो दोषपूर्ण आदतो को छोडने का प्रयत्न करो तथा नवीन दोषो को जन्म ही मत लेने दो।

आदत के प्रति सावधानी

एक चूडी वाला अपनी चूडियो का गट्ठर एक मरियलसी घोडी पर लादे हुए एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहा था। घोडी वहुत दुर्वल थी, अत वहुत धीरे-धीरे चल रही थी। चूडी वाला उसे चलाने की कोशिश करते हुए वोलता जा रहा था—"चल मेरी माँ ! चल मेरी वहन !!"

उसके ये सम्वोधन घोडी के लिए सुनकर रास्ते पर चलने वाले अन्य राहगीर हस पडते थे। किसी मन चले ने उससे कह भी दिया—"क्यो भाई ! यह घोडी ही क्या तुम्हारी मा और वहन है ?

नही भाई ! ऐसी वात नही है। पर जानते हो मैं भले-भले घरो मे वहनो को चूडियाँ पहनाने जाता हू वे सभी मेरी माता और वहन के समान होती है। उनसे वात करते समय मे कोई अपशब्द या गाली न बोल दू, इसलिए मैं कभी भी अपने मु ह से गाली का उच्चारण नही करता। अपनी इस घोडी को भी। इसीलिये मा अथवा वहन कहता हूँ कि मेरी ऐसी ही आदत पडी रहे।

देखिये ! चूडी वाले जैसे साधारण व्यक्ति को भी कितना ध्यान रहता है कि उसकी आदत दुर्वचन वोलने की न पड जाय। किन्तु क्या आप अपनी आदत के प्रति इतनी सावधानी रखते है ? नही, प्राय देखा जाता है कि आप लोग अपने मित्रो से, अपने वच्चो से, अपनी पत्नी से अथवा अन्य किसी से भी वात पीछे करते हैं, पर हँसी मजाक मे सही, गाली का उच्चारण पहले कर देते है। इतना ही नही जव आपके वच्चे वहुत छोटे होते हैं, तो आप उन्हे बोलना सिखाने के साथ ही साथ गालियाँ देना भी सिखाते हैं और उनके मुँह से गालियो का उच्चारण सुनकर प्रसन्न होते हैं। उस समय आप भूल जाते हैं कि गालियाँ वोलने का यह वीजारोपण ही उनके वडे होने पर फसल का रूप धारण कर लेगा और कलह का कारण वनेगा। उस वक्त ये दुर्वचन किसी को प्रिय नही लगेंगे वरन ओरो को पीडा पहुँचाने का काम करेंगे। और कभी-कभी तो जन्म पर्यंत के लिये वैर वाँधने का कार्य करेंगे।

भगवान महावीर ने भी दुर्वचनो के दुष्परिणामो के विपय मे कहा है—

> **मुहुत्त दुक्खा उ हवति कटया,**
> **अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।**

वाया - दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुवधीणि महब्भयाणि ॥
—दशवैकालिक सूत्र ९-३-७

अर्थात् लोहे के कांटे तो शरीर मे चुभने पर अल्पकाल तक ही व्यथा उत्पन्न करते हैं और उन्हे वाहर निकालने मे भी विशेष कठिनाई नही होती किन्तु दुर्वचन-रूपी कांटे जव हृदय मे चुभ जाते हैं तो उनका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वे जन्म-जन्मान्तर तक वैर की परम्परा को कायम कर देते है एव महान् भय का कारण वनते हैं।

खर्च कुछ नहीं

वन्धुओ, प्रत्येक मनुष्य को अपने वचनो को प्रयोग करने मे पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। इस विषय मे सवसे महत्त्वपूर्ण वात तो यह है कि मधुर-भाषा के प्रयोग से मनुष्य की किसी भी प्रकार की हानि नही होती, केवल लाभ ही लाभ होता है। अभी मैंने आपसे कहा था कि पुण्य के नौ प्रकार होते हैं। इनमे से वचन पुण्य के अलावा वाकी सभी के लिये कुछ न कुछ शारीरिक कष्ट, सुख-सुविधा का त्याग अथवा धन का खर्च करना पडता है। किन्तु केवल मधुर वचनो से ही पुण्योपार्जन करना सवसे सरल है इसके लिये किसी भी प्रकार का कष्ट या हानि नही उठानी पडती।

एक सस्कृत के श्लोक मे कवि ने तनिक कठोर शब्दो मे मनुष्य को सीख दी है—

जिह्वाया खंडनं नास्ति, तालुको नैव भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ?

कहा है—मधुर वचन वोलने से न तो जीभ ही कटती है, न तालु भिदता है और न ही कोमल शब्दो के विशाल भडार मे शब्दो की कमी होती है। फिर ऐसी स्थिति में मधुर वचन वोलने मे क्यो दरिद्रता दिखाई जाय ? वस्तुत अगर हमारे पास दान देने के लिए धन, धान, वस्त्र या अलकार आदि नही हैं तो भी मीठी जवान तो है। इसका दान तो हम कर ही सकते है। फिर क्यो न इसी का दान करें ? आखिर इसमे कौन सी पूजी खर्च होती है ?

मराठी भाषा के पद्य मे एक वात और भी कही गई है—

अन्तरि बाहिर नवाद्ये साखर,
सेवि सुखाचे कोड ॥ प्र० ॥

अगर मनुष्य सुख चाहता है तो उसे अन्दर और बाहर एक सा रहना चाहिए। ऊपर से मीठा बोलता रहे किन्तु अन्दर कपट भाव रखे तो वह मायाचारी कहलाता है और उसका मधुर-भापण न उसे कोई लाभ पहुँचाता है और न सुनने वाले को ही। क्योकि केवल जबान से मधुर बोलने वाला अन्तर मे ईर्ष्या-द्वेप रखेगा तो वह दूसरे का तो किसी न किसी प्रकार से अहित करेगा ही, स्वय भी कपाय के कारण पाप का भागी बनेगा। परिणाम स्वरूप न वह दूसरो को सुख पहुँचा सकेगा और न स्वय ही सुखी हो सकेगा। इसलिये आवश्यक है कि मधुरभाषा केवल जबान से ही न बोली जाय अपितु हृदय से नि सृत हो।

खोदा पहाड़ निकली चुहिया

बहुत से व्यक्तियो की यह भी आदत होती है कि वे अपनी जबान को वश मे न रख पाने के कारण विना वजह ही लड़ाई मोल ले लेते हैं। झगडे का रूप देखकर दर्शक परेशान हो जाते है पर उसे मिटाने का प्रयत्न नही कर पाते हैं कि उसके मूल मे कुछ भी कारण नही था।

इस विपय पर पूज्य पाद प० मुनि श्री अमीऋपि जी महाराज ने बडा सुन्दर उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है —

एक सेठ कहे प्रिया लीजे एक भैंस मोल,
बोली त्रिया वेगी करो विलव लगावो क्यो ?
पति दरसाई सब दूध की मलाई मेरी
सा कहे अवेरू भैंस तरी तुम खाओ क्यो ?

एक सेठ जी किसी दिन अपनी पत्नी से गप-सप कर रहे थे। बातचीत के दौरान मे बोले—"मैं सोचता हू कि अपने घर मे एक भैंस खरीद लें। मोल का दूध लेते हैं तो पतला आता है न उसका दही बराबर जमता है और न घी ही निकाला जा सकता है। घर मे भैंस होगी तो शुद्ध और स्वादिष्ट दूध पीने को मिलेगा और दही, छाछ, घी सभी कुछ प्राप्त हो जाएगा।"

सेठानी पति की बात सुनकर चटसे बोली— "नेकी और पूछ-पूछ ? यह तो बडी अच्छी बात है। भैंस जरूर ही खरीदो। इसके अलावा अगर भैंस लानी है तो देर क्यो करते हो ? जल्दी ही खरीद लाओ। शुभस्य शीघ्रम्। शुभ कार्य मे विलम्व किसलिये ? उसे तो जल्दी कर लेना चाहिये।"

पर एक बात है, सेठजी बोले—"मैं जो भैंस लाऊँगा उसके दूध की सारी मलाई मैं ही खाऊँगा।"

सेठानी यह सुनकर चमकी। बोली—"वाह ! यह कैसे हो सकता है ? मलाई पर मेरा भी हक होगा। आप अकेले उसे कैसे खा लेंगे ?

सेठ झुंझला पडा—'तुम्हारा हक कैसा ? सारे दिन दुकान पर खटकर कमाई तो मैं करता हूँ। मेरी कमाई से ही भैंस आएगी और इसलिये मलाई मेरी होगी।"

सेठानी पीछे कैसे रहती ? अपनी दसो अँगुलियो को नचाती हुई बोली ! "आहा ! शकल तो देखो मलाई खाने वालो की। आप कमाई करते हैं तो मैं क्या दिन भर सोती रहती हूँ ? सारा घर का काम दिन भर मुझे करना पडता है। और भैंस लाकर खडी कर दोगे तो उसकी सेवा क्या आपके सगे-सम्बन्धी आकर करेंगे ? मुझे ही तो सब करना पडेगा। फिर मैं दूध की मलाई कैसे छोड दूँगी ? यह नही होगा। मलाई मैं भी खाऊँगी और जरूर खाऊँगी।"

बस साहब ! सेठ और सेठानी झगड पडे। खरीद कर लाई जाने वाली भैंस के दूध की मलाई को लेकर दोनो का वाद-विवाद इतने ऊँचे स्वर पर शुरू हो गया कि पडौसी भी चौकन्ने होकर झगडे का कारण जानने का प्रयत्न करने लगे।

उनका एक पडौसी बडा समझदार था। वह सारी बात समझ गया। विचार करने लगा—इस झगडे को कैसे मिटाया जाय ? ये दोनो प्राणी तो मूर्ख है जो भैंस तो लाये नही और मलाई के लिये झगड रहे हैं। पर पडौसी के नाते झगडे को मिटाना मेरा फर्ज है।" आखिर उसे एक उपाय सूझा और उसे अमल मे लाने का निश्चय करके वह भैंस लाने वाले सेठजी के घर में पहुँच गया। और—

राड़ मेटवे को एक नर फोड़े भाजन को,
भैंस ने उजाड़्यो खेत गाली यो सुनावो क्यो ?
सेठ कहे कैसी कही भैंस है हमारी कब ?
कहे अमी ऋषि यूँ ही झगड़ो मचावो क्यो ?

झगडा मिटाने के विचार से पडौसी सेठ के घर मे पहुँचा और सामने ही मिट्टी के कुछ बर्तन एक के ऊपर एक रखे थे, उन्हे उठाकर तितर-बितर करने और कुछ को फोडने लगा।

यह देखकर सेठ भौचक्का रह गया और क्रोध से बोला—"ये तुम क्या कर रहे हो ? मेरे बर्तन क्यो फोड दिये ?"

पडौसी चतुर था। नकली गुस्से से उसने भी उत्तर दिया "सेठ जी! आपकी भैंस ने मेरा सारा खेत सत्यानाश कर दिया, सव धान भी खा गई।"

'क्या वकते हो ? सेठ चिल्लाया—"मेरी कौनसी भैंस ने तुम्हारा खेत उजाडा है। भैंस हमारे है ही कहाँ और जव है नही तो तुम्हारा खेत उजाडने और धान खाने कहाँ से पहुँच गई ?"

"कैसे नही है भैंस ? भैंस नही होती तो आप दोनो मलाई खाने के लिये कैसे झगडते ? मैं वडी देर से अपने कानो से सुन रहा हू—आप कहते हैं 'मलाई मैं खाऊँगा और सेठानी कहती हैं—"मैं खाऊँगी मलाई।" अगर भैंस नही होती तो आप दोनो क्यो झगडते ? आपके यहाँ भैंस जरूर है और उसी ने मेरा खेत चर डाला है।"

अव सेठ जी की समझ मे आया कि पडौसी का उद्देश्य क्या है ? अपनी वे-मतलव और वे-वुनियाद की लडाई पर वह वहुत ही शर्मिन्दा हुआ और मन ही मन पुन ऐसा प्रसग खडा न करने का निश्चय किया।

तो वधुओ, यह सव होता है अपनी जवान को वश मे न रखने तथा व्यर्थ की वकवास करने की आदत के कारण। जो व्यक्ति अपने वचनो की कीमत नही समझता, वाणी की दुर्लभता का अनुभव नही करता, यह अपनी इस अमूल्य शक्ति का इसी प्रकार दुरुपयोग कर वैठता है।

समाज मे अधिकाश व्यक्ति ऐसे ही होते है। उनके सामने किसी प्रकार की सामाजिक उलझनें या गम्भीर समस्याएँ आ जायँ तो वे केवल यह करना चाहिये, वह करना चाहिये, इस वात मे यह दोष है और उस वात मे वह कमी, यही वाद-विवाद करते हुए उलझनो को वढा देते हैं, उनका कोई सतोपजनक हल नही निकालते। दूसरे शब्दो मे अगर यह कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति नही है कि ऐसे व्यक्ति न स्वय कुछ लाभदायक काम करते हैं और न दूसरो को ही करने देते हैं।

इसलिये समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनी जिम्मेदारी, निष्पक्षता तथा निष्कपटता के द्वारा अपनी वाणी पर सयम रखते हुए व्यर्थ की वकवाद से वचना चाहिये और ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे कुछ लाभ हो अन्यथा व्यर्थ के वाद-विवादो और वहसो से कोई हल निकलना सभव नही होता उलटे कर्मठ और अनुभवी व्यक्तियो के कार्यों मे वाधा आती है, उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र की दृष्टि से देखा जाय तो भी भाषा के असयमी

व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति मे स्वय ही बाधक बनते हैं। हमारे शास्त्रकारो ने भाषा के सम्यक् प्रयोग पर बहुत बल दिया है। पाच महाव्रतो मे सत्यव्रत का विधान भी इसीलिये किया गया है कि मनुष्य मायाचार का त्याग करके अपने मन मे भाषा की सच्चाई और मृदुता का सदैव खयाल रखे और कभी भी कटु, कठोर और असत्य भाषा का प्रयोग न करे।

जिस व्यक्ति के मन और वचन मे मधुरता होती है वह अपने शरीर से भी किसी को कष्ट नही पहुचाता। उसके हाथ-पैर केवल अन्य प्राणियो की रक्षा के लिये, उन्हे आश्रय देने के लिये तथा उनके कष्टो का निवारण करने के लिये ही उठते हैं किसी को हानि पहुचाने के लिये नही।

मधुर-भाषी पुरुष का मन भी अति कोमल तथा करुणा के रस से द्रवित रहता है। और मृदुतापूर्ण मन होने पर उसके अन्य अगो मे अर्थात जिह्वा, दृष्टि और हाथो मे भी मृदुता ही प्रकट होती है। स्पष्ट है कि अगर मन मे मृदुता या कोमलता न हो तो वह अन्य अगो के द्वारा भी व्यक्त नही हो सकती। और मन मे मृदुता न होने पर जिह्वा से कोमल-कान्त-पदावली के उच्चारण पर भी विश्वास नही किया जा सकता। एक फ़ारसी भाषा के कवि का कथन है :—

बद अंदेश रा लफ़्ज़े शीरीं मनी।
कि मुमकिन बुनद ज़हर दर अंगनी॥

अर्थात् दुर्जन के मीठे-मीठे शब्द सुनकर धोखे मे मत आ जाना, क्योकि सम्भव है उसकी मिठास मे विष का मिश्रण हो।

जिह्वा का करामाती भाग

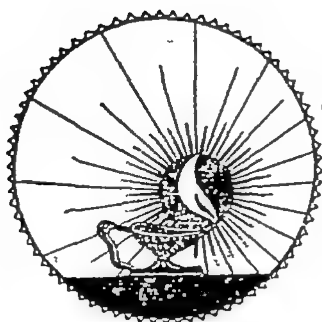
कहने का आशय यही है कि जो व्यक्ति वाणी के महत्व को भली-भाँति समझ लेता है वह अपने हृदय को उसके अनुरूप बनाए बिना नही रह सकता। वह सदा कोमल और निरवद्य भाषा का ही प्रयोग करता है तथा निरर्थक तर्क-वितर्क और वितडावाद से परे रहता है। उनकी जिह्वा से औरो को सताप देने वाले शब्द कभी नही निकलते और न ही वह वैर-विरोध और आपसी कटुता को बढाने वाले झमेलो मे पडता है। उसे पूर्ण विश्वास होता है—

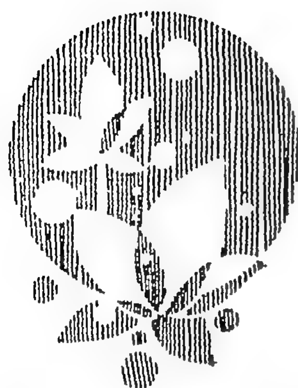
लक्ष्मीर्वसति जिह्वाग्रे, जिह्वाग्रे मित्र बान्धवा.।
जिह्वाग्रे बन्धनं प्राप्त, जिह्वाग्रे मरण ध्रुवम्॥

जीभ का अग्र भाग जिसके द्वारा शब्दो का उच्चारण होता है, बहुत ही

महत्वपूर्ण है। क्योकि इसके द्वारा उच्चारित सत्य, और प्रिय शब्दो से ही लक्ष्मी का आगमन हो सकता है तथा मित्र और हितैपियो से मधुर सम्बन्ध बना रहता है, और इसके कुप्रयोग से कभी-कभी बधनो मे बधना पडता है तथा मृत्यु का शिकार भी होना पडता है।

इसलिये बधुओ अगर हमे अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना है तथा इस लोक मे यश और प्रतिष्ठा की प्राप्ति करते हुए परलोक मे भी शुभ गति पाना है तो हमे अपनी भापा-शक्ति के मूल्य को समझना पडेगा तथा प्रयत्न करना पडेगा कि हमारी जबान से निकला हुआ एक भी शब्द निरर्थक न जाय तथा एक भी शब्द अन्य प्राणियो को पीडा और सताप पहुचाने का कारण न बने। ऐसा करने पर ही हमे वचन-पुण्य का लाभ मिल सकेगा तथा हमारी आत्मा का कल्याण होगा।





२१
धर्मरक्षा

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

यह जीवात्मा अज्ञान के कारण चार गति और चौरासी लक्ष जीव-योनियो मे भटकता रहता है। अपने कर्मों के अनुसार वह जिस गति का वध करता वहाँ जाकर उत्पन्न होता है और जितने दिन का आयुष्य होता है, भोगकर पुन दूसरी योनि मे जा पहुचता है। व्यावहारिक भाषा मे हम कह देते हैं—जीवात्मा जन्म-मरण करते हुए भटकता है, किन्तु वास्त-विकता यही है कि आत्मा कभी नही मरता, केवल कर्मों के वधनो के अनुसार वह भिन्न-भिन्न शरीरो मे प्रवेश करता है और सुख-दु ख भोगता है। एक गुजराती कवि ने जन्म-मरण के इस चक्र को घटमाल अर्थात् रहट वताते हुए कहा है -

जगत मा प्राणि कई मरता, मरीने जन्मता पाछा।
वधा घटमाल मा फरता, पछी तकरार शा माटे ?
अमर आत्मा अमारो छे, मरण दरकार शा माटे ?

इस जगत मे अनेकानेक प्राणी जन्म लेते हैं, जन्म लेकर मरते हैं और मरकर पुन जन्म लेते है। एक स्थान पर अपना आयुष्य पूरा करके दूसरे

स्थान पर जाते हैं पर वहाँ भी सदा रहते हैं क्या ? नही, वहाँ की मुद्दत पूरी होते ही पुन दूसरे शरीर को धारण करते हैं। इस प्रकार एक दो, दस, सौ, हजार, लाख या करोड प्राणी ही नही वरन अनन्तानन्त प्राणी जन्म-मरण के इस चक्र मे घटमाल के समान घूम रहे हैं। यह चक्र चलता ही रहता है कभी रुकता नही।

घटमाल कैसे ?

कवि ने इसे घटमाल का जो नाम दिया है वह यथार्थ है। घटमाल अर्थात् रहट। रहट रस्सो के सहारे गोल बनाया जाता है और उसके बीच-बीच मे मिट्टी की घडियाँ क्रमश. फँसा दी जाती हैं। घटमाल का एक हिस्सा कुए के ऊपर रहता है और दूसरा उसके अन्दर पानी में जा पहुँचता है। हम प्राय देखते ही हैं कि जब बैलो के द्वारा घटमाल या रहट चलाया जाता है, तब ऊपर का हिस्सा नीचे की ओर जाता है और नीचे का हिस्सा ऊपर आता है। किन्तु स्थिर वह कही नही रहता। एक गोलाई लेते हुए निरतर ऊपर नीचे आता-जाता रहता है। पर उसकी इस क्रिया का क्या परिणाम होता है ? यही कि मिट्टी की घडियाँ नीचे आकर पानी लेती हैं और ऊपर जाकर रीति से जाती हैं। इस प्रकार रहट की उस शृखला के द्वारा घडियाँ अपने-अपने समय पर रीतती और भरती रहती हैं।

ठीक यही हाल इस ससार का है। बैल-रूपी समय रहट-रूप शृखला को अनवरत चलाता रहता है तथा उसमे बधी हुई घडियाँ जिस प्रकार भरती और खाली होती हैं, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर मे प्रवेश करती है और समय आते ही उसे रीता करके दूसरे शरीर मे प्रवेश कर जाती है। यही क्रम अनादि काल से चलता आया है, चल रहा है और चलता रहेगा।

कवि ने आगे कहा है—सभी आत्माएँ जब घटमाल के समान इस जन्म-मरण की शृङ्खला मे घूमती हैं तो फिर किसी प्रकार का अभिमान और लडाई झगडा किसलिये ? जो जीवात्मा आज कुछ सुख का अनुभव कर रहा है, वह अगली बार ही घोर दुख का अनुभव कर सकता है, और आज जो दुख का अनुभव करता है वह अगले जन्म मे दूसरो के समान सासारिक सुखों को भी प्राप्त कर सकता है। सभी जीव दुख और सुख दोनो को ही बारी-बारी से भोगते चले जायेंगे। फिर अपनी इस मनुष्य जन्म रूपी एक बारी मे अपने सुखो और सुविधाओ को महत्वपूर्ण मानकर अपने आपको भाग्यशाली मानने से क्या लाभ है ? तथा औरो को अपने से हीन और अभागा मानकर उनका तिरस्कार करने से क्या हासिल होने वाला है ?

अनन्तकाल के मुकाबले मे एक शरीर के आयुष्य का मूल्य ही क्या है ? केवल रहट की एक घडी के ऊपर जाकर रीता होने जितना ही तो समय है, वह इसलिये प्राणी को इस अल्पकाल मे किसी प्रकार का गर्व, और किसी से झगडा-झझट करना व्यर्थ है। उसे आयुष्य के इस लघु काल मे केवल यह विचार करना चाहिये कि मेरी आत्मा अमर है, इसके लिये ससार मे जन्म लेना और मरना कोई वडी बात नही है, वडी बात सिर्फ तभी हो सकती है जबकि इस जन्म में इसे अपने शुभ-कृत्यो से कर्म-रहित कर लिया जाय या इस जन्म-मरण की शृङ्खला से इसे छुटकारा दिलाने का प्रबध किया जाय। वह प्रबध किस प्रकार किया जा सकता है ? इस विषय में आद्य शकराचार्य कहते है —

पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं,
पुनरपि जननी जठरे शयनं।
इह संसारे खलु दुस्तारे,
कृपया पारे पाहि मुरारे !
भज गोविन्द ! भज गोविन्द ॥
भज गोविन्दं मूढ़मते !

कहा है—"इस ससार मे जीवात्मा जननी के उदर मे आता है, जन्म लेता है, मरता है और उसके पश्चात् पुन माता के उदर मे आकर पुन जन्मता और पुन मरता है। यही कष्टदायक क्रम चलता रहता है। अत इससे छुटकारा पाना है तो हे अज्ञानी जीव, तू गोविन्द का भजन कर और उसकी शरण ले।"

कितनी सुन्दर और यथार्थ चेतावनी है ? यद्यपि प्रत्येक मानव नौमास तक जननी के उदर मे रहने या होने वाले कष्टो का, उसके पश्चात् जन्म लेते समय होने वाले दुखो का और अन्त मे मृत्यु की भयकर वेदनाओ का अनुमान करता है। पर इन सभी दुखो की भयकरता को जानते-समझते हुए भी उनके निवारण का प्रयत्न नही करता। यह उसकी महामूढता नही तो और क्या है ? क्या इससे बढकर और कोई मूर्खता हो सकती है ? कदापि नही।

इसीलिये शकराचार्यजी कहते हैं—अरे मूढ प्राणी ! तू गोविन्द का स्मरण और भजन कर। हमारे तीर्थंकर सर्वज्ञ भी यही सदेश हमारे लिये दे गए हैं और उसी को सन्त-महापुरुष हमे भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाते हैं कि ईश-स्मरण और धर्माराधन करने से आत्मा को इस ससार से मुक्ति हो सकती है। यथा :—

"धर्मो जन्मजरामृतिक्षयकरो ।"

धर्म मे ही वह प्रबलतम और अजेय शक्ति है जो जन्म, जरा और मृत्यु के दु खो से आत्मा को मुक्त कर देती है।

इतना ही नही, धर्म के विषय मे एकान्त रूप से यह भी कहा जा सकता है —

"धर्मादन्यत्र विश्वेऽपि, मृत्यवे कोऽपि न प्रभु.।"

अर्थात्—विश्व के किसी भी भाग मे और कही पर भी धर्म के अतिरिक्त कोई दूसरा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ नही है।

जिज्ञासा होती है कि ऐसा कैसे और क्यो कर हो सकता है ? इसका समाधान यही है कि ससार के सभी पदार्थ आगे या पीछे नष्ट होने वाले हैं और आत्मा को उन्हे वाध्य होकर छोडना है। किन्तु केवल धर्म ही एक ऐसा अक्षय तत्व है जो आत्मा के साथ चलता है और उसे कुगति से बचाता है। मनुस्मृति मे भी कहा है —

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य ।

—धर्म ही एक ऐसा सच्चा और निष्कपट मित्र है, जो मरने पर भी आत्मा के साथ साथ जाता है।

इस हाथ दे, इस हाथ ले !

इस वाक्य से स्पष्ट है कि अगर व्यक्ति धर्म की रक्षा करे तो धर्म उसकी रक्षा करता है। धर्म की रक्षा करने से आशय है धर्माराधन करना। धर्माराधन करने पर ही धर्म विद्यमान रहता है। अगर व्यक्ति अधर्म का आचरण करें तो फिर धर्म कहा रहेगा ? उसका कोई दृष्टिगोचर स्थान तो है नही, वह अन्तरात्मा मे ही रहता है और धर्माचरण करने पर ही उसकी रक्षा हो सकती है। यह तो हुई धर्म की रक्षा करने की वात और अव दूसरी है धर्म के द्वारा रक्षित होने की।

प्रश्न उठता है कि धर्म किस प्रकार मनुष्य की रक्षा करता है ? क्या वह व्यक्ति को रोगो से बचा सकता है ? क्या वह वृद्धावस्था को आने से रोक सकता है या व्यक्ति को मरने नही दे सकता ? इन वातो के उत्तर हमे वडी सावधानी से ग्रहण करना है। वह यह है कि मनुष्य शरीर पा लेने पर इसे छोड़ना तो पडेगा ही, अत व्याधि, जरा और मृत्यु भी आएँगी, उन्हें कोई रोक नही सकेगा। किन्तु अगर मनुष्य इस शरीर के द्वारा जप,

तप, त्याग, तपस्या आदि धर्म-क्रियाएँ करके पूर्व सचित पाप-कर्मों की निर्जरा कर लेता है और नवीन कर्मो का बधन नही होने देता तो अपने आगामी काल मे पुन जन्म और मरण के दुख से बच सकता है। सचित किया हुआ धर्म आत्मा के साथ रहकर उसे कुगति मे जाने से बचाता है और मोक्ष की ओर बढाता है। इस प्रकार मानव धर्म की रक्षा करे तो धर्म उसकी आत्मा की रक्षा करता है।

उदाहरण स्वरूप आप व्यावहारिक भाषा मे कहते हैं—"तुम कपडे की इज्जत करो, कपडा तुम्हारी इज्जत करेगा।"

तो कपडा कोई चेतन प्राणी नही है कि वह व्यक्ति के सन्मुख झुकेगा, उसके लिये आदरयुक्त वचनो का प्रयोग करेगा या दुनिया के सामने व्यक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए उसकी प्रशसा करेगा। बात केवल यही है कि अगर आप उसे साफ-सुथरा रखेंगे, और सलीके से पहनेंगे तो आपके कपडो को देखकर ही लोग आपका सम्मान करेंगे और आपको सभ्य व्यक्ति मानेगे। बस! इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म को अपनाएगा अर्थात् उसकी इज्जत करेगा, लोग बाध्य होकर उस व्यक्ति की इज्जत करेंगे और उसके प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव रखेंगे। इसके विपरीत धर्म को छोड देने पर यानी उसका अनादर करने पर व्यक्ति अल्प-काल मे ही ससार की निगाहो से गिर जाएगा। लोगो की निन्दा और उपहास का पात्र बनेगा। धर्म फिर उसकी रक्षा नही करेगा तथा उसके न होने पर पाप निश्चिन्ततापूर्वक आत्मा के साथ लग जाएँगे और उसे अधोगति की ओर ले जाएँगे। इसलिये हमे अपनी आत्मा की सुरक्षा के लिये कर्म को सदा अपनी अन्तरात्मा मे सुरक्षित रखना है, उसका कदापि त्याग नही करना है। प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने धर्म की महिमा बताते हुए धर्म को ही सबोधित करके कहा है :—

तेरे लिये प्राण तजे जिन्होंने,
टूटा उन्हीं का यमराज पाश।
रक्षा सदा जो करता तिहारी,
तू भी बचाता उनको दुखो से ॥१॥

आराधते निर्मल चित्त मे जो,
पाते वही जीवन लाभ पूरा।
जो मूढ धी हैं करते विनाश,
होता उन्हीं का जग मे विनाश ॥२॥

पद्यो मे बडे ही सुन्दर ढग मे बताया गया है कि जो भव्य प्राणी निर्मल

हृदय से धर्म की आराधना करते हैं और उसकी रक्षा करते हुए आवश्यकता पडने पर अपने प्राणो का भी त्याग कर देते है, वे ही जीवन का पूरा लाभ लेते हुए दु खो से मुक्त होते हैं तथा मृत्यु को जीत लेते हैं।

किन्तु जो मूढ पुरुष धर्म के महत्व को नही समझते और उसे नष्ट कर देते हैं उनका निरन्तर पतन होता चला जाता है तथा मरने के पश्चात् भी वे अनन्त काल तक जन्म-मरण के दुखद सागर मे डूबते-उतराते रहते हैं।

अज्ञान का परदा चीर दो!

बधुओ, अभी हमने यह जाना है कि धर्म की आराधना करने से आत्मा का कल्याण होता है और अब यह जानना है कि धर्म के सच्चे स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

"चत्तारि मगल" के पाठ मे "धम्मो मगल" अर्थात् धर्म को मगलमय कहा है और अन्त मे 'धम्मो सरण' यानी धर्म की शरण लेना बताया है। यह मगल पाठ क्यो सुनते हैं ? और क्यो सुनाते हैं ? क्योकि, धर्म ही इस ससार मे श्रेष्ठ और आत्मा का आधार है। तो इस मगलमय धर्म की प्राप्ति हम कैसे कर सकते हैं, यही विषय अब हमारे सामने है।

कोई भी मनुष्य धर्म को तभी पा सकता है, अर्थात् अपने हृदय मे उसकी स्थापना तभी कर सकता है जबकि वह अपनी आत्मा पर पडे हुए अज्ञान के परदे को चीर कर अलग कर दे। जब तक यह परदा आत्मा पर पडा रहेगा धर्म का स्वरूप दिखाई नही देता।

हम प्राय देखते हैं कि आँखो की पुतलियो पर जाला आ जाने से आँखो को कुछ भी दिखाई नही देता। दिखाई तभी देता है जबकि उस जाले को अथवा आँखो पर छा जाने वाले परदे को हटा दिया जाता है। इसी प्रकार जब तक आत्मा या बुद्धि पर अज्ञान का परदा पडा रहता है तब तक मनुष्य धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचान नही सकता और उसे अपनी आत्मा मे प्रतिष्ठित नही कर पाता।

रस्सी का साँप

जब तक मनुष्य अपनी आत्मा पर पडे हुए अज्ञान के पर्दे को अलग नही कर देगा, तब तक उसका विवेक जागृत नही होगा और विवेक के अभाव मे सत्य और असत्य, पाप और पुण्य तथा धर्म और अधर्म का भेद नही समझ सकेगा तथा ग्राह्य और अग्राह्य की पहचान नही कर सकेगा। मराठी भाषा के एक पद्य मे कहा गया है :—

दोरीच्या सापा पाहुनि भ्यावा, भेद नहीं जीवा-शिवा ।
अन्तरीचा ज्ञान दीवा, मालवू न कोरे ॥
प्रभु -भजना विण काल घालवूं न कोरे ॥ ध्रु० ॥

'अन्धकार मय नीरव रात्रि मे कोई व्यक्ति घर से बाहर निकलता है, पैरो मे जूते भी नही है । उस स्थिति मे रस्सी का कोई टुकडा उसके पैरो के नीचे आ जाता है तो अधेरे के कारण वह उसे सर्प समझ लेता है । सर्प और रस्सी के अन्तर की पहचान उसे नही रहती । इसका कारण क्या ? केवल अंधेरा । अंधेरे के कारण ही वह पैरो तले आई हुई वस्तु को पहचान नही पाता तथा रस्सी को सर्प और सर्प को रस्सी समझ लेता है ।

अज्ञान का अधेरा भी इसी प्रकार मनुष्य के विवेक को धु धला बना देता है और वह किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहचान नही कर पाता । जीव और शिव मे कोई भेद नही है । जो स्वरूप अपना है वही भगवान का भी है अर्थात् आत्मा और परमात्मा मे अन्तर नही है, किन्तु अज्ञान के कारण मानव न अपने स्वरूप को ही जान पाता है और न परमात्मा के । ज्ञान के अभाव मे वह जड को चेतन और चेतन को जड समझ बैठता है । इसीलिये महापुरुष कहते हैं– अपनी आत्मा मे प्रज्ज्वलित ज्ञान के दीपक को बुझने मत दो । ज्ञान रूपी दीपक के प्रकाश मे ही बुद्धि सही मार्ग पा सकेगी और आत्मा को उस पर अग्रसर कर सकेगी । ज्ञान के समान मन को पवित्र और धर्ममय बनाने वाली अन्य कोई भी वस्तु इस ससार मे नही है । ज्ञान के विद्यमान रहने पर ही धर्म आपकी अन्तरात्मा मे टिकेगा और उसकी रक्षा करता हुआ उसे मुक्तावस्था की ओर ले जाएगा धर्म की शक्ति पर दृढविश्वास रखने वाले व्यक्ति की धर्म सदा रक्षा करता है ।

साधु का रक्षक

एक बार की घटना है—मैंने श्री उत्तम ऋषि जी एव श्री मोती ऋषि जी महाराज के साथ धूलिया से मालवे की तरफ विहार किया । रास्ते मे सडक छोडकर हमने पगडडी ले ली कि जल्दी पहुच जायेंगे ।

पर सयोग की बात थी कि हम रास्ता भूल गए और साथ मे जो मार्ग-दर्शक व्यक्ति था उसे भी रास्ता याद नही रहा । जगल मे बहुत भटके पर किसी भी बस्ती के निकट नही पहुँच सके । इधर सूर्यास्त का समय आ गया । बडी परेशानी हुई और सोचने लगे—"क्या किया जाय ?

आखिर मैंने कहा—'सध्या हो रही है और ठहरने के योग्य कोई स्थान नही दिखाई देता तो किसी झाड के (वृक्ष के) नीचे ही ठहर जाते है। कोई झाड ही देखो।"

किन्तु ठहरने योग्य झाड भी कही दिखाई नही दिया। दृष्टि फैलाकर देखा तो लम्वा-चौडा खड्डा ही सामने नजर आया। कुछ देर और भी पेड की तलाश मे घूमते रहे। इतने मे ही कुछ दूरी पर बैलो के गले मे वधी हुई घण्टी जैसी आवाज आई। शीघ्रता से उस ओर वढे, वास्तव मे ही वहा से एक बैलगाडी जा रही थी। वहा तक पहुचे तो गाडीवान ने बताया कि वहाँ से करीव एक या डेढ माइल की दूरी पर एक चौकी है, जहाँ ठहरने की सुविधा मिल सकती है।

पर उतनी दूर हम जाते भी कैसे ? सूर्यास्त हो रहा था, अत रास्ते के किनारे खडे हुए एक विशाल वृक्ष के नीचे ही ठहर गए। गाडीवाला अपनी गाडी लेकर चला गया। पेड के नीचे हम लोगो ने शाम का प्रतिक्रमण किया। उसी समय मार्ग से कुछ व्यक्ति गुजरे। हमे देखकर पास आए और चकित होकर बोले—"महाराज ! यहाँ कैसे ठहर गए ? नजदीक ही तो चौकी थी।"

'चौकी तो थी, पर यही सूर्य अस्त हो गया था और हम लोग सूर्यास्त के पश्चात् नही चलते।' हमारा उत्तर था।

"पर यह तो वडी भयानक जगह है जगली जानवर भी इधर आते-जाते रहते हैं।" उन लोगो मे से एक चिन्तित होकर वोला।

मैंने कहा—"भाई ! इसके लिए क्या किया जाय ? हम पैदल ही चलते हैं अत चौकी तक नही पहुच सकते थे।"

"ओह, आप पैदल ही चलते हैं किसी भी गाडी या सवारी मे नही बैठते ?"

"नही, न हम किसी सवारी मे वैठते हैं और न पैसे टके ही अपने पास रखते हैं।"

"तो फिर आपकी जरूरतें कैसे पूरी होती हैं ? कोई वीमारी हो जाय तो दवा कैसे खरीदते हैं ?" फिर किसी ने प्रश्न किया।

"भाई ! दवा अगर किसी के यहाँ मिल जाती है तो दिन को ले लेते हैं, रात्रि को वह भी नही लेते। रात मे अन्न, पानी, दवा सभी का त्याग

रहता है। हमारे नियम वडे कडे हैं। छोटी सी वच्ची को भी हम स्पर्श नही करते, पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहते है।"

यह सव सुनकर गाँव के वे सात व्यक्ति वहुत ही चकित हुए और वोले—"आप जव इतने नियमो का पालन करते हैं तो शेर-चीते आपका कुछ भी नही विगाड सकते।"

तात्पर्य कहने का यही है कि साधु की रक्षा केवल धर्म ही करता है। आप जानते हैं कि आपके घरो मे लालटैने होती हैं, विजली के वल्व जलते हैं, फिर भी आप लोगो को साँप विच्छुओ का डर वना रहता है। और हमारे ठहरने के स्थानो पर क्या होता है? केवल अन्धकार, फिर भी हमे भय नही लगता। और फिर ठहरने के स्थान भी कैसे? आपके शहरो मे तो हमे फिर भी अच्छी और साफ-सुथरी जगह मिल जाती है पर अधिकतर जव हम छोटे-छोटे गाँवो मे विचरण करते हैं ऐसे-ऐसे स्थानो पर ठहरना पडता है, जिन्हे मकान न कहकर खडहर या कचरा फेकने का घूरा भी कहा जा सकता है। रात तो रात, दिन को भी जहाँ जीव जन्तुओ का भय वना रहता है। इसके अलावा जैसा कि मैंने अभी वताया है, अनेक वार सुनसान जगलो मे केवल पेड के नीचे भी रातें वितानी पडती हैं। जगली जानवर या चोर-डाकू, कोई भी सहज ही वहाँ आ सकता है और न सही रुपये-पैसे, पर वस्त्र, पात्र या पोथी-पुराण तो ले जा ही सकता है।

किन्तु फिर भी हम निर्भय रहते हैं क्योकि धर्म पर हमारी अटल श्रद्धा है, और विश्वास है कि वह हमारी निश्चय ही रक्षा करेगा। धर्म से वढकर साधु का रक्षक और हो ही कौन सकता है?

किन्तु शर्त एक ही है कि अगर हम धर्म के द्वारा अपनी सुरक्षा चाहते हैं तो हमे भी उसकी रक्षा के लिए कटिवद्ध रहना पडेगा।

महर्षि वेदव्यास ने भी कहा है —

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्म हतो वधीत्॥

मारा हुआ धर्म हमको मारता है और हमसे रक्षा किया हुआ धर्म हमारी रक्षा करता है, इसलिए हमे धर्म का नाश नही करना चाहिये, जिससे तिरस्कृत धर्म हमारा भी विनाश न करे।

वधुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हमे धर्म के सच्चे स्वरूप को समझना चाहिए और उसे सही अर्थो मे अपने हृदय मे स्थान देना चाहिये।

इसके लिये आवश्यक है कि हम अपने हृदय को निर्मल बनाए और उसमे रहे हुये अज्ञान को दूर करें। जब तक अज्ञान-दशा को हम नही हटाएगे हमे ज्ञान की ज्योति प्राप्त नही होगी और उसके अभाव मे धर्म का दिग्दर्शन असभव से जायगा।

अज्ञानावस्था का कुपरिणाम

जब तक हृदय और आत्मा को अज्ञान-दशा घेरे रहती है, प्राणी विवेक शून्य रहता है। परिणाम यह होता है कि सकट काल मे न उसकी बौद्धिक शक्ति काम कर पाती है, और न शारीरिक शक्ति ही साथ देती है।

इस विषय मे पूज्य पाद पडित मुनि श्री अमीऋषि जी म० ने एक पद्यमय दृष्टान्त दिया है —

एक सिह कानन मे श्वापद विनाशे तदा,
मिली सब जन्तु बारी बाधी सुविचार के।
आयो वृद्ध श्याल बारो गयो है विलब करी,
कुपित हृदय पूछ्यो सिह ललकार के॥
श्याल कहे स्वामी आज घेरचो अन्य सिह मोय,
सिह कहे कित सग चाल्यो हित धार के।
कहे अमीरिख कूप जल मे बतायो रूप,
मरयो सिह प्रतिबिब निज को निहार के॥

कहते हैं—एक सिह नित्य जगल के अनेक प्राणियो को मार डालता था। भले ही वह सबको खा नही पाता था किन्तु घात अनेक प्राणियो का हो जाता था।

इस पर एक दिन सारे जगली पशु इकट्ठे हुये और उन्होंने विचार किया कि हम सब बारी बाँध लें और प्रतिदिन स्वय ही एक-एक सिह के समक्ष पहुच जायें। इससे कम से कम यह तो होगा कि एक ही जान जाएगी और व्यर्थं मे कई प्राणी रोज मरने से बच जायँगे।

सिह के सामने भी यह प्रस्ताव रख दिया गया। उसे तो चाहिये ही और क्या था? सोचा—"यह और भी अच्छा है, पेट भर जायगा और शिकार की खोज मे भाग-दौड नही करनी पडेगी।"

क्रम चालू हो गया और जगल का एक-एक प्राणी प्रतिदिन शेर के समीप पहुँचकर अपने प्राणो की बलि देने लगा। पर कुछ समय बाद एक

बूढे सियार की वारी आ गई। और आप जानते ही हैं कि सियार बडा चतुर और धूर्त होता है। जैसा कि कहा गया है—

> **नराणां नापितो धूर्त, पक्षिणां चैव वायस ।**
> **दंष्ट्रिणां च शृगालस्तु, श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥**
>
> —पचतत्र

मनुष्यो मे नाई वडा धूर्त होता है वह इधर लोगो की पग-चम्पी करता जायेगा और उधर धीरे धीरे मन की बातें भी निकलवा लेगा। उसके वाद, इधर की वात उधर और उधर की वात इधर करके अपना कुछ न कुछ उल्लू सीधा कर लेगा।

इसी प्रकार पक्षियो मे कौआ वडा धूर्त होता है और दाढ वाले हिंसक प्राणियो मे शृगाल, अर्थात् सियार।

तो जव सियार की वारी सिंह का भोजन वनने की आई तो उसने अपने दिमाग को दौडाना प्रारम्भ किया धूर्त प्राणी था,वह औरो के जैसे सीधी तरह से अपने प्राण क्यो होमता ?

सिंह भूखा होने के कारण क्रोध से भरा वैठा था। सियार को देखते ही ललकार कर उससे देर से आने का कारण पूछा।

सियार तो पहले ही विचार करके गया था कि इस तरह कहाँ तक जगल के प्राणी रोज-रोज मारे जाएंगे, आज इसे ही खत्म करूँगा। प्रत्यक्ष मे वडी विनम्रता से वोला—

"मालिक ! मैं अपने स्थान से तो ठीक समय पर आपके पास आने के लिये चला था किन्तु मार्ग मे एक दूसरा शेर मिल गया और उसने मुझे खा जाने का प्रयत्न किया। वडी कठिनाई से उसे उल्लू वनाकर और उसके मुँह से निकलकर आपके पास आया हू। आप ही हमारे राजा हैं, पर उस मूर्ख ने आपको भी वहुत गालियाँ दी और आपकी तोहीन करते हुए वडे अपशब्द कहे। मुझसे आपकी तौहीन वर्दाश्त नही हो सकती अत मैं मार्ग वताता हूँ और आप स्वय चलकर उसे सजा दीजिये। तत्पश्चात् मेरे शरीर से अपनी भूख मिटाइये। अगर आप अभी मुझे मार डालेंगे तो आपको उस दुष्ट के ठहरने का स्थान कौन वताएगा।"

सिंह मे शारीरिक शक्ति वहुत थी पर ज्ञान का अभाव था। ज्ञान के अभाव और अज्ञान के विद्यमान रहने पर शरीर की शक्ति क्या काम आने

वाली थी ? सियार की खुशामद से गर्वित होकर तथा अपनी शक्ति के नशे मे चूर होकर बोला—

"ऐसी बात है क्या ? तो चल, उस दुष्ट का पता मुझे बता ! पहले उसे खत्म करूँगा और फिर तुझे।"

सियार तो चाहता ही यह था। आज्ञाकारी सेवक की भाँति हाथ जोडकर रास्ता बताता हुआ वनराज को एक कुए के पास ले गया। और उसमे झाकता हुआ बोला—"देखिये ! वह रहा आपका दुश्मन, आपके डर से कुए मे छिपकर बैठा है।

सिह ने सत्य स्थिति का पता लगाने के लिये कुए मे झाका। अन्दर पानी मे उसका प्रतिबिंब था ही, देखकर वह जोर से दहाडा। प्रतिध्वनि भी दहाडने की आ गई। बस, फिर क्या था ? अज्ञानाच्छादित बुद्धि और शारीरिक शक्ति का वह धनी बिना हिताहित का विचार किये कुए मे छलाग लगा गया। परिणाम केवल मृत्यु ही थी।

तो यह एक दृष्टान्त है पर हमारे लिये शिक्षाप्रद भी साबित होता है। सिह की शक्ति के समान ही हमारी आत्मा मे भी महान् शक्ति छिपी हुई है, बडा पराक्रम इसके पास है। पराक्रम नही होता तो अनेक आत्माओ को केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे होती ? किन्तु अज्ञान का परदा इस पर पडा हुआ है और उसके कारण यह सिह के समान गुण अज्ञान के अँधेरे मे लुप्त प्राय हो चुके हैं। तथा उसके परिणाम स्वरूप अपने यथार्थरूप और शक्ति की पहचान न कर पाने के कारण यह पतन के महागर्त की ओर अग्रसर हो रहा है। दूसरे शब्दो मे, हमारी आत्मा अपने आप मे असीम शक्ति रखते हुए और सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एव चारित्र रूपी अनमोल रत्नो के होते हुए भी इसका लाभ नही उठा रही है तथा ये अमूल्य रत्न निरर्थक साबित हो रहे हैं। कहा भी है .

पायो नर देह नेह कीनो ना धरम साथ,
पातक के काज दिन रैन ही अरघो रह्यो।
सुगुरु की केन हितकारी उरधारी नांहि,
अज्ञान मिथ्यात्व को विकार ही भरयो रह्यो।

पद्य मे बताया है कि अज्ञानी पुरुष की कैसी दशा है ? उस पुरुष ने मानव-जीवन या नर-देह पाकर भी धर्म का आराधन नही किया, उसे अपना सहायक नही बनाया और कुकार्यों को सम्पन्न करने मे ही रात दिन मग्न

रहा। यद्यपि सत-महापुरुष और गुरु ने उसे वार-वार समझाया, पुन -पुन चेतावनी भी दी, किन्तु उनकी कल्याणकारी सीख को उसने अपने हृदय मे धारण नही की और उसे अज्ञान तथा मिथ्यात्व के विकार से परिपूर्ण रखा। परिणाम यह हुआ कि —

जीव पुद्गल को स्वरूप ना पिछान्यो कर्मों,
मन को मनोरथ सो मन मे धर्यो रह्यो।
अमीरिख वसन लपेट्यो निज गेह सदा,
लोह के सुपिजर मे पारस पर्यो रह्यो॥

हृदय से अज्ञान का अधकार और मिथ्यात्व का विकार न हटा सकने के कारण उस नादान प्राणी ने अपनी आत्मा के स्वरूप को नही समझा। और उसके मन की समस्त अभिलाषाएँ मन ही मे रह गई, वे कभी पूर्ण नही हो सकी। प्रौढ कवि श्री अमीऋषि जी फरमाते हैं कि इस प्रकार, आत्मा मे अनन्त शक्ति के होते हुए भी उस लाभ से प्राणी का वचित रह जाना ठीक उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार वस्त्र मे लपेटा हुआ पारस पत्थर लोहे की डिबिया मे भी विना अपना चामत्कारिक फल दिखाए पडा रह जाता है।

वधुओ, वहुत ध्यान से समझने की वात है – लोहे की डिव्वी मे और पारस पत्थर के वीच मे केवल एक वारीक वस्त्र के आवरण का परदा था। किन्तु उस आवरण के कारण ही इतना पास रहते हुए भी डिव्वी को उसके लौहत्व मे मुक्ति नही हो सकी। इसी प्रकार हमारे शरीर मे पारस महा-शक्तिशाली आत्मा रहती है। दोनो मे कुछ भी दूरी नही है पर अगर अज्ञान रूपी आवरण से आत्मा ढकी रहती है तो शरीर के इतने समीप रह कर भी वह उसे लौहत्व रूपी विकारो से मुक्त नही करा पाती और शरीर जैसे का तैसा अर्थात् जन्म-मरण-शील वना रहता है।

इसलिये हमे वडी सावधानी से आत्मा पर रहा हुआ अज्ञान का आवरण हटाकर उसकी शक्ति का लाभ उठाना है, तथा धर्म को आत्मा मे प्रतिष्ठित करके उसे ही आत्मा का कवच वनाना है। इस कवच के रहते हम निर्भयता पूर्वक सन्मार्ग पर चलेंगे और अपने इच्छित गन्तव्य पर पहुच सकेंगे





२२

आज्ञापालन से इच्छित की प्राप्ति

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

इस समार मे साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार तीर्थ हैं जो धर्म-मार्ग का अवलम्बन करके आत्म-साधना मे निरत होते हैं।

पर उससे पहले समस्या सामने आती है कि आत्म-साधना के लिये मार्ग-दर्शन कौन करे ? इस जगत मे हम देखते हैं कि आप एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं, और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले मार्ग और पगडडियो पर चलते-चलते भी मार्ग भूल जाते हैं और इधर-उधर भटकने लगते हैं। हम साधु-साध्वियो के लिये तो ऐसे प्रसग अनेक वार आते हैं क्योकि हम सदा ही पद-यात्रा करते हैं।

इन जड आँखो से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले मार्ग पर भी हम भटक जाते हैं तो आत्म-साधना के लिये अपने ज्ञान और विवेक से समझे जाने वाले मार्ग को हम मार्ग-दर्शक के बिना कैसे पहचान सकते हैं ? अर्थात् नही जान सकते। तीर्थङ्कर महापुरुप, एव अवतारी पुरुप हमे साधना का सच्चा मार्ग दिखाने की कोशिश करते हैं, हमारे मार्ग-दर्शक वनते हैं। इसीलिये वीतराग के वचनानुसार उत्तराध्ययन सूत्र मे अट्ठाहरवाँ अध्ययन 'मोक्ष मार्ग

गति' के नाम से लिखा गया है । इसका अर्थ है मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर करने वाला । इस अध्याय मे ससार के वधन से मुक्त होने का उपाय वताया गया है और इसके लिये दस प्रकार की रुचि का वर्णन किया गया है । वे इस प्रकार हैं—

निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, वीजरुचि अभिगम-रुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, सक्षेपरुचि और धर्मरुचि । यही गाथा मे कहा है—

निसग्गुवएसरूई, आणारूई सुत्त वीयरूइमेव ।
अभिगम वित्थारूई किरिया सखेव धम्मरूई ॥

– उ० सू० अ० १८ गा० १६

इस प्रकार, दस तरह की इन रुचियो मे अगर साधक का मन प्रवृत्त हो जाता है तो वह साधना-पथ पर सरलता पूर्वक अग्रसर हो सकता है । समता भाव के कारण आज हम इन सभी पर विचार-विमर्प नही कर सकते अत केवल आज्ञा-रुचि के विपय मे ही समझाने का प्रयत्न करेंगे । आज्ञा रुचि पर गाथा दी गई हैं —

रागो दोसो मोहो, अन्नाण जस्स अवगय होई ।
आणाए रोयतो, सो खलु आणारूई नाम ॥

उ० सू० अ० २८ गा० २०

आणारूई अर्थात् आज्ञा-रुचि । आज्ञा किमकी ? जो अवतारी पुरुप हैं, तीर्थंकर महापुरुष हैं, आगम व्यवहारी पुरुप या धर्म गुरु हैं उनकी आज्ञा के अनुसार रुचि रखना ही आज्ञा-रुचि कहलाती है । मान लीजिये गुरुजनो ने किसी भी कार्य को सम्पन्न करने का आदेश दिया तो चाहे वह शिप्य हो, पुत्र हो, वहू हो, या सेवक हो विना किसी प्रकार का राग द्वेप अज्ञान अथवा मोह रखे विना आज्ञा का पालन करे तथा उल्लिखित किसी भी पदार्थ के प्रति स्नेह या वैरभाव न रखे ।

गुरु की आज्ञा का पालन ठीक उसी प्रकार होना चाहिये,जिस प्रकार एक सेनापति की आज्ञा का पालन सग्राम मे सिपाही करते हैं । सेनापति ने अगर आज्ञा दी—"कूच करो !" तो फिर सैनिक रुक नही सकते चाहे आगे नदी, नाले, पर्वत या खड्डे कुछ ही क्यो न आएँ । भयकर सर्दी, गर्मी या घनघोर वर्पा मे भी वे आगे वढते चले जाते हैं । और जव सेनापति के द्वारा आक्रमण या मुठभेड की आज्ञा होती है तो फिर गोली लगेगी या शरीर छलनी हो

जाएगा, मरेंगे या बचेंगे, इसकी रच-मात्र भी परवाह किये विना वफ़ादार सिपाही दुश्मनो से जूझ जाते हैं।

मैंने सुना है कि अगर कोई सैनिक सेनापति की हुक्मउदूली करे तो सेनापति को अधिकार है कि वह उस सैनिक को 'सूट' कर दे अर्थात् मार डाले। हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र मे ऐसे नियम नही हैं क्योंकि हमारा धर्म अहिंसामय हैं। इस क्षेत्र मे आज्ञा पालन के लिये मजवूरी भी नही है। यह साधक की भावनाओ पर निर्भर है कि उसे आत्म-कल्याण करना हो तो वीतराग के वचनो का, उनकी आज्ञा का पालन करे। और अगर वह आज्ञा का पालन नही करता है तो प्रत्यक्ष रूप मे उसे किमी प्रकार की सजा नही दी जाती पर परोक्ष रूप मे वह आत्मोन्नति से रहित और ससार के वधनो मे जकडे रहने की सजा स्वय ही पा लेता हैं।

इसलिये जो भव्य प्राणी होता है वह विना मजवूरी और विवशता के भी जिनवाणी पर विश्वास करता है तथा सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन करता है। किसी भी स्थिति मे वह अपने गुरु की आज्ञा का उल्लघन नही करता।

आज्ञापालन का आदर्श उदाहरण

एक वार ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साध्वियो का एक समुदाय किसी गाँव के धर्म-स्थान मे ठहरा।

शीतकाल का समय था और कडाके की सर्दी पड रही थी। रात्रि के वक्त तो मानो पाला ही पडने लगता था। एक रात वडे जोर की हवा चलने लगी अत समस्त साध्वियो मे जो सवसे वडी और सभी गुरु की थी, उन्होंने एक शिष्या को आदेश दिया—"दरवाजा वन्द कर दो।"

शिष्यो ने अविलम्व उठकर आदेश का पालन किया अर्थात् दरवाजा वद कर दिया। किन्तु थोडी देर वाद ही हवा का तेज झोका आया और दरवाजा फटाक से खुल गया। आवाज सुनते ही वडी साध्वी की नीद उचट गई और उन्होने पुन कहा—"किवाड वार-वार खुल जाते है तो तुम उनमे भीतर मे साकल क्यो नही लगाती हो ? जाओ, साकल लगा आओ ! ताकि वे फिर न खुलने पाएँ।"

शिष्या घवराकर पुन उठी और किवाडो के पास गई। पर उसकी समझ में नही आया कि वह क्या करे ? क्योकि दरवाजे मे साकल थी पर उसे फसाने वाला नुकचा नही था, अन्यथा वह पहली वार मे ही साकल वन्द कर आती।

पर गुरु की आज्ञा का पालन करना आवश्यक था अत उसने तनिक विचार किया और नुक्चे के स्थान पर अपनी अगुली लगा दी । पूरी रात वह दरवाजे की साकल मे अगुलि फसाए खडी रही । उसके हृदय मे रात भर खडे रहने पर भी, सर्द हवाके तीर की तरह शरीर मे लगने पर भी और साकल मे फसी अगुली मे असह्य दर्द होने पर भी क्षोभ, झुझलाहट या क्रोध का भाव पल भर के लिये भी नही आया । आज्ञा-पालन कर सकने की अपूर्व सतुष्टि और शान्ति के कारण उसके परिणामो मे इतनी उत्कृष्टता आई कि प्रात काल अरुणोदय होने के साथ ही उस विनयवान साध्वी की आत्मा मे केवल ज्ञान का उदय हो गया तथा वह त्रिकाल और त्रिलोक के समस्त पदार्थों को देखने व जानने लग गई । अपने विनय और आज्ञा पालन की पराकाष्ठा से वह छोटी शिष्या साधना के मार्ग मे अपनी गुरु से आगे वढ गई और उनके लिये भी वदनीय वन गई ।

केवल ज्ञान की प्राप्ति के जैसा महान् लाभ केवल आज्ञा का पालन करने से ही प्राप्त हुआ । न उस सेवा-भावी शिष्या ने महान् साधना की, और न घोर तप ही किया । किया केवल गुरु-आज्ञा का पालन । और यही उसके जन्म-मरण से मुक्ति का साधन वन गया ।

जो साधक इस प्रकार गुरुजनो की आज्ञा का पालन करता है वह साधना के मार्ग पर तीव्रता से गति करने मे समर्थ वन जाता है । अत आवश्यक है कि प्रत्येक मुमुक्षु आज्ञारुचि को ग्रहण करे तथा जिनवाणी पर अखड विश्वास रखे ।

जिनवाणी का महत्त्व वताते हुए पुज्यपाद कविकुलभूपण श्री त्रिलोकऋपि जी महाराज ने कहा है—

वरसत वाणी जिनराज की अखंण्ड धार,
भविक श्रवण माही आयकर परे हैं ।
हृदय सरसा मिट्टी वोधि वीज ऊगे तामे,
विनय रूप तरु मूल शाखा विसतरे हैं ।
करणी सो फूल पाछे मोक्ष रूपी फल लागे,
खात हू न खूटे क कहूँ सडे न खरे हैं ।
कहत तिलोक सुनो जिनवाणी भवियन,
पाइए परमपद जनमे न मरे हैं ॥

पद्य मे वताया है कि जिनेश्वर भगवान् की वाणी अखण्ड रूप मे वरसती है । जो भी उनकी शरण मे पहुँचे, उसे निराश नहीं होना पडता या वे उसे

अगले दिन और अगली वार के लिये नही टालते। जव भी इच्छा प्रकट की जाय, उसे वोध मिलता है। आवश्यकता होती है जिज्ञासु की दृढता, सरलता निष्कपटता और निर्मलता की। यह सव लक्षण भव्य प्राणी मे ही पाये जाते हैं।

इसीलिये कहा है– भविक श्रवण माही आयकर परे हैं।' जिन वचनो को कौन ग्रहण करता है ? भव्य प्राणी। अभव्य को तो चाहे जितना उपदेश क्यो न दिया जाय, और चाहे जितना समझाने का प्रयत्न क्यो न किया जाय, उसके गले कुछ नही उतरता। उसका हृदय वजर भूमि के सदृश होता है, जिसपर कितनी भी वृष्टि क्यो न हो, सव व्यर्थ चली जाती है, तनिक भी सरसता उसमे नही आती।

सत तुलसीदास जी का कथन है—

फूलै फलै न वेंत, यदपि सुधा वरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम॥

जिस प्रकार वादलो से निरतर अमृत मय जल-धार वरसाने पर भी वेंत मे फल फूल नही लगते, उसी प्रकार ब्रह्मा के समान गुरु के मिलने पर और उनके अहर्निशि वोधि-वचन कहने पर भी मूर्ख व्यक्ति का हृदय जागृत नही होता।

अभव्य और मूर्ख मे कोई अन्तर नही होता। अज्ञान का परदा जिन व्यक्तियो के विवेक-रूपी नेत्रो पर रहता है, उन्हे ही हम साधारण भाषा मे मूर्ख और आध्यात्मिक भाषा मे अभव्य भी कह देते हैं। ऐसे व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी आत्मा के हिताहित का ज्ञान नहीं कर पाते तथा हेय और उपादेय की भिन्नता को नही समझ सकते।

भर्तृहरि ने तो इस प्रकार के अज्ञानियो के लिये वडी निराशा प्रकट करते हुए कहा है —

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नत पीड़यन्,
पिवेच्च मृगतृष्णिकासु सलिल पिपासार्दित।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेद्,
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजन-चित्त माराधयेत्॥

अर्थात्-यत्न पूर्वक पीलने से वालूरेत मे से तेल निकालना सम्भव है, मृगतृष्णा से प्यासे की प्यास वुझाना सम्भव है, कदाचित् खोज करने पर खरगोश का सीग भी पा लेना संभव है किन्तु मूर्ख का मन जिस वस्तु की ओर झुक जाए उससे हटाना सम्भव नही है।

कवि कुलभूषण श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य मे इसीलिये कहा है कि जिनवाणी भव्य पुरुषो के कानो मे आकर ग्राह्य बनती है और उसके परिणाम स्वरूप अपना महान् शुभ फल प्रदान करती है।

वह फल क्या होता है ? यही कि वे भव्य प्राणी जिन-वचनो को श्रवण करके अत्यन्त आह्लादित होते है, उन पर विश्वास रखते हुए ऐसे सयोग की प्राप्ति पर अपने भाग्य की सराहना करते हैं तथा उनकी आज्ञानुसार चलकर आत्म-मुक्ति के प्रयत्न के लिये कटिवद्ध हो जाते हैं।

दूसरे शब्दो मे, किसी लोभी को कुवेर के सदृश दौलत मिल जाने पर और निपूते को पुत्र-प्राप्ति होने पर जितना हर्ष होता है उतना ही हर्ष भव्य-प्राणी को जिनवाणी श्रवण का सुयोग मिलने पर होता है। उसका सरल और निर्मल हृदय भगवान की वाणी सुनकर अपूर्व सतुष्टि और हर्षातिरेक से गद्गद् हो जाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वर्षा का जल गिरने पर उत्तम भूमि की मिट्टी तर-बतर हो जाती है। उत्तम भूमि की मिट्टी गिरे हुए सम्पूर्ण जल को अपने आप मे समा लेती है और अच्छी फसल पैदा करने योग्य वन जाती है, इसी प्रकार भव्य प्राणी जिनवाणी का एक-एक वचन अपने हृदय मे उतार लेता है और उसे आत्म-साधना के योग्य वना देता है। जिनवाणी को जिनेश्वर की आज्ञा मानकर वह उसके पालन का दृढनिश्चय करता है और उसके लिये प्रयत्न करने लग जाता है। जिन-वचन सुनकर वह ससार के समस्त पदार्थों की अनित्यता और भयकरता को समझ कर उनसे बचने और भागने की कोशिश करता है। ठीक उस सर्प के समान जिसके शरीर से केंचुली उतर जाती है।

सर्प स्वय ही अत्यन्त जहरीला होता है और इतनी शक्ति रखता है कि कुछ क्षण मे ही किसी भी प्राणी का अन्त कर दे, किन्तु जव उसके शरीर पर केंचुली आ जाती है तो न पूर्णतया वह देख सकता है और न शीघ्रता से भाग ही पाता है। अत जिस क्षण केंचुली उसके शरीर से झडती है वह तीव्रतम गति से भागता है। इस भय से पीछे मुडकर भी नही देखता कि कही वह पुन उससे शरीर से न चिपक जाय। यही स्थिति भव्य प्राणी की होती है। कहा भी है –

"कचुक अहि त्यागे, दूर भागे, तिम वैरागे पाप हरे।"

अहि यानी सर्प। जिसप्रकार सर्प अपनी केंचुली का त्याग कर के भागता है उसी प्रकार जिनवचनो के द्वारा भव्य प्राणी ससार के भयानक प्रलोभनो को जानकर उनसे दूर भागता है। उसके हृदय मे वैराग्य-भाव

जागृत हो जाते हैं और वह विना जागतिक आकर्षणो की ओर देखे साधना के मार्ग पर अग्रसर हो चलता है।

तो मैं आपको यह वता रहा था कि सर्प के जिस्म पर जैसा कैंचुली नामक आवरण होता है वैसा ही अज्ञान का आवरण मानव की आत्मा पर छा जाता है। उसके विद्यमान रहते वह अपने विवेक रूपी नेत्रो से नही देख पाता कि ससार की वास्तविक स्थिति क्या है, और यह किस प्रकार प्राणी को मूर्ख वनाकर उमे अपने चगुल मे पकडे रहने का प्रयत्न करता है ?

किन्तु जब वह जिन वचनो को सुनता है, उन्हे ग्रहण करता है और उन पर मनन करता है तो भली-भाति समझ लेता है कि यह ससार जीवात्मा के लिये अनतानन्त कष्टो मे भरे हुए कारागार के अलावा और कुछ नही है। इसमे दृष्टिगोचर होने वाले सुख झूठे हैं और अशाश्वत हैं। जिनवाणी-रूपी निर्मल जल उसके हृदय की भूमि को विरक्ति मय स्निग्धता प्रदान करता है और उस स्निग्धता के कारण बोध-रूपी बीज उसमे अकुरित होने लगते हैं।

उन अकुरो का क्या परिणाम होता है ? यह आगे कहा है—

विनयरूप तरु मूल शाखा विसतरे है।
करणी सो फूल पाछे मोक्षरूपी फल लागे,
खात हूं न खूटे कहू सडे है न खरे है।

सम्यक्त्व अथवा वोध रूपी वीजो का कितना सुन्दर परिणाम होता है ? वह यही कि अगर वोधि-बीज हृदय मे जम जाँय तो धीरे-धीरे वे विनय-रूपी वृक्ष के रूप मे अनेक सद्गुण रूपी शाखाओ सहित लहलहा उठते है। हमारे यहाँ विनय को धर्म का मूल माना गया है। इसकी सत्यता अभी-अभी आपको किवाडो की सांकल मे रात भर अगुलि डाले खडी रहने वाल विनयवान साध्वी के उदाहरण से ज्ञात हुई होगी। विनयवान् व्यक्ति ह गुरुजनो की आज्ञा का पालन यथाविधि कर सकता है।

तो विनय जिसका मूल है, ऐमा धर्म-रूपी कल्प-तरु ससार मे भटकती हुई आत्मा को क्या नही प्रदान कर सकता ? सभी कुछ दे सकता है। कवि का कथन भी है कि विनय-वृक्ष पर ही जप, तप, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, त्याग और परोपकार आदि शुभ क्रियाओ के फूल लगते हैं। अर्थात् जिमके हृदय मे विनय होता है वही इन सव क्रियाओ को सम्यक् रूप से कर सकता है। और जव ये सम्यक् रूप से की जाती हैं तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यही कवि श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने कहा है कि करणी के फूलो पर ही मोक्ष-रूपी फल लगता है । और यह फल भी कैसा ? आम, अगूर और अनार जैसा नही कि खाया और खत्म हो गया । यह फल खाने से खत्म नही होता, वृक्ष से झडकर सूखता नही और कभी सडता भी नही है । आशय इससे यही है कि मोक्ष मे पहुँचने के वाद आत्मा पुन नीचे नही आता ।

भगवद्‌गीता मे कहा भी है—

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परम मतं ।"

—जिस स्थान पर जाने के पश्चात् पुन लौटना नही होता है, अर्थात् जो स्थान पुनरावर्तन से रहित है, उसी श्रेष्ठ स्थान को मोक्ष माना जाता है ।

विवेक-विलास मे भी वताया गया है —

"आत्मन्येव लयो मुक्तिर्वेदान्तिकमते मता ।"

—सभी प्रकार के वधनो से विमुक्त होकर आत्मा का पर-ब्रह्मरूप ईश्वरीय शक्ति मे विलीन हो जाना, यही वेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्ष-अवस्था है ।

इसलिये वधुओ ! अगर आप अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हैं, उसे परम पद की प्राप्ति कराने की इच्छा रखते हैं तो आपको जिनवाणी मे रुचि रखना चाहिये और उसकी आज्ञा के अनुसार साधना के पथ पर अग्रसर होना चाहिये । तभी आपको वह परम-पद प्राप्त हो सकेगा जिसे पा लेने पर फिर कभी जन्म लेना और मरना नही पडता है । यही कवि श्री जी ने कहा है —

कहत तिलोक सुनो जिनवाणी भवियन !
पाइये परमपद जनमे न मरे है ।

प्रत्येक सत-महापुरुष मानव को इसी प्रकार की हितकारी सीख देते है पर आवश्यकता है इस सीख को मानने वालो की । हमारे यहाँ तो ऐसे-ऐसे व्यक्ति भी आते हैं, जिनसे पूछा जाय कि पिछले दिन तुमने क्या सुना था ? तो उत्तर देते हैं—"महाराज ! हम चोरी नही करते ।"

"अरे भाई ! मैंने चोरी करने न करने की वात कहाँ पूछी ? मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि कल तुमने सुना क्या था ?"

उत्तर मिलता है—"वही तो बता रहे हैं कि हम चोरी नही करते, आपके माल को यही छोडकर जाते हैं।"

भले ही यह वार्तालाप परिहास मे होता है किन्तु जिन वचनो के प्रति इस प्रकार के शब्दो का उच्चारण करने वाले श्रावको से हम क्या आशा रख सकते हैं ? धर्म क्या परिहास की वस्तु है ? क्या उसे मजाक का साधन बना कर कोई व्यक्ति धर्म पर अखड श्रद्धा रख सकता है ? नही, धर्म तभी फल प्रदान करेगा, जबकि वह अन्तरतम मे रम जाएगा । उसको लेकर हँसी-मजाक करना भी प्राणी को अपना महान् दोष महसूस होगा और ऐसी भावना के लिये भी उसका हृदय कठोर प्रायश्चित करेगा। धर्म के साथ परिहास नही चल सकता क्योकि वह जबान की वस्तु नही है, वरन हृदय की चीज है ।

केवल जबान से किया गया धर्म का विवेचन मिथ्या और प्रदर्शन है, तथा हृदय मे ग्रहण किया गया धर्म कर्म-नाशक है । इन दोनो के अतर को एक पाश्चात्य विद्वान ने भी अपने शब्दो मे बताया है —

"सच्चा धर्म तो पापो की जड काटकर मुक्ति का मार्ग-दर्शन करता है पर मिथ्या धर्म मे मुक्ति टको के बल विकती है ।

— रस्किन

आप समझ गए होगे कि इस उदाहरण से क्या आशय है ? इसमे वही गम्भीर रहस्य है कि सच्चा धर्म हृदय ग्राह्य होता है और जब वह अपने सच्चे स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है तो फिर जबान पर नही आता उसके विषय में किसी प्रकार के वाद-विवाद और तर्क की आवश्यकता नही रहती। न ही उसके लिये किसी प्रकार का प्रदर्शन ही आवश्यक होता है । सासारिक पदार्थ और धन-वैभव से वह परे रहता है ।

किन्तु जहाँ पर यह सब होता है, अर्थात् उसके विषय मे तर्क-वितर्क किया जाता है, जबान से उसकी छानबीन की जाती है, ऊपरी क्रियाओ के द्वारा उसे अपना लेने का प्रदर्शन किया जाता है तथा वाक्य चातुरी के द्वारा उसे वाक्जाल मे उलझा दिया जाता है और एक दूसरे के मतो को लेकर हास-परिहास और व्यग किये जाते हैं, जहाँ सच्चे धर्म का अस्तित्व खोजे नही मिलता । केवल मिथ्यात्व का आडबर और ढोग ही हाथ आता है । इसके अलावा वह धनी व्यक्तियो और पडे पुजारियो की मिल्कियत बन कर रह जाता है जो कि धन के बल पर धर्म को खरीदने और मुक्ति लेने-देने का दावा करते हैं ।

इसलिये आत्म-कल्याण के इच्छुक को इन सब बातो से बचना चाहिये तथा धर्म को मान-बडाई अथवा धन के लिये आचरित नही करना चाहिये। उसे केवल श्रेय के लिये, आत्म-उत्थान के लिये और कर्म-नाश के लिये प्रदर्शन, पाखड और अहकाररहित भाव से जिन्दगी की हर सास के साथ अमल मे लाना चाहिये।

पर यह सब हो कैसे सकता है? अर्थात् उसके यथार्थ रूप को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसके उत्तर मे अभी मैंने आपको बताया ही था कि तीर्थंकर महापुरुष, जिन वाणी और सद्गुण पर श्रद्धा रखने से तथा उनकी आज्ञा का पालन करने से ही मानव को सन्मार्ग मिल सकता है और वह सच्चे धर्म का अधिकारी बनकर मुक्ति-पथ पर बढ सकता है।

एक बात मैं आपको और बताना चाहता हू कि आज्ञा पालन का महत्व केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही नही है। सामाजिक क्षेत्र मे भी वह उतना ही आवश्यक और अनिवार्य है। मनुष्य जीवन के एक सिक्के के समान दो पहलू होते हैं। जिस प्रकार सिक्के के दोनो पहलू महत्वपूर्ण होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य-जीवन के ये दोनो पहलू भी अपना-अपना महत्व रखते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे जहाँ मानव अपनी आत्मा को उन्नत बनाने के लिये मन को निर्मल बनाने का प्रयत्न करता है, वहाँ समाज और परिवार मे रह कर भी उसे अपने व्यवहार को उत्तम और निष्कपट रखना होता है। क्योकि उसकी बाह्य और आतरिक दुनिया एक दूसरे से सम्बन्धित है। एक मे सफल हो जाने पर ही वह दूसरी मे भी सफलता हासिल करता है। उदाहरण स्वरूप जो व्यक्ति अपने माता-पिता और शिक्षक की आज्ञा का सन्मान करेगा वही अपने धर्मगुरु की तथा जिनवाणी की आज्ञा का भी मान कर सकेगा तथा उसके प्रति आस्था रख सकेगा। आज्ञा-पालन का प्रथम पाठ माता-पिता की आज्ञा का पालन करके ही पढा जा सकता है।

महात्मा तुलसीदासजी ने कहा भी है—

अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु-बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति-ऐन॥

—रामचरित मानस

पद्य मे माता-पिता की आज्ञा के पालन का जो महत्व बताया गया है वह यथार्थ है। प्रत्येक सुपुत्र अपने माता-पिता पर देव के समान श्रद्धा रखता है तथा भयानक से भयानक कष्ट उठाकर भी उनकी आज्ञा पालन करता है।

आज्ञा-पालन कैसे की ?

एक ऐतिहासिक घटना है सम्राट् अशोक ने अपनी वृद्धावस्था मे एक और विवाह किया था। नवीन महारानी का नाम तिष्यरक्षिता था। तिष्य-रक्षिता जब विवाह कर अपने ससुराल मे आई तो उसकी दृष्टि महाराज के सबसे बडे पुत्र कुणाल पर पडी। कुणाल को देखकर वह मोहित हो गई और मौका पाकर उसने अपनी इच्छा कुणाल पर प्रकट की। साथ ही यह भी कहा कि अगर वह उसकी बात नही मानेगा तो उसका नतीजा बहुत बुरा होगा।

कुणाल अपनी सौतेली माता का प्रस्ताव सुनकर दग रह गया और उस समय वहाँ से भाग तक्षशिला जा पहुचा। वहाँ के महाराज ने कुणाल को अत्यन्त आदर और स्नेह सहित अपने महल मे स्थान दिया।

कुछ समय पश्चात् तक्षशिला नरेश ने यह विचार कर कि महाराजा अशोक पुत्र के पलायन के चिन्तित होगे उन्हे लिख दिया — "आपके सुपुत्र कुणाल कुमार मेरे यहाँ सानन्द हैं। आप उनके लिये किसी प्रकार की चिन्ता न करें ?

बहुत समय बाद पुत्र की कुशलता के समाचार पाकर वृद्ध सम्राट् अशोक को अपार खुशी हुई किन्तु तिष्यरक्षिता जो कि कुणाल से तिरस्कृत सी होकर बदला लेने की भावना चिरकाल से अपने हृदय मे छिपाये हुए थी और भी जल उठी। किन्तु किसी तरह चेहरे पर बनावटी प्रसन्नता लाकर बोली—

"महाराज ! कुणाल की कुशलता के समाचार पाकर बडी प्रसन्नता हुई। अच्छा हुआ कि वह तक्षशिला पहुँच गया। अब तो वह बडा हो गया है। और सुना जाता है कि तक्षशिला विद्या-प्राप्ति का बडा भारी केन्द्र है अत वहाँ पर वह अध्ययन करे तो बहुत अच्छा हो।"

रानी की बात सुनकर महाराज सतुष्ट हुये और बोले — तुम ठीक कहती हो ! कुणाल को वहाँ के विद्याकेन्द्र से अवश्य लाभ उठाना चाहिये। मैं आज ही वहाँ के महाराज को पत्र लिखता हूँ।

ऐसा कहकर सम्राट अशोक ने तक्षशिला-नरेश को एक पत्र लिखा। उसमे कुशल समाचार सूचित करने के पश्चात अन्त मे लिख दिया— **अधीयताम् कुणाल**. अर्थात कुणाल को अध्ययन कराया जाय। पत्र लिखकर महाराज ने उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिये।

तिष्यरक्षिता ने भी उस पत्र को ध्यान से पढकर महाराज की पास बचाकर अधीयताम् शब्द के 'अ' पर एक छोटी सी बिन्दी लगा दी । इस के साथ रवाना कर दिया गया ।

तक्षशिला नरेश के हाथ मे पत्र पहुँचा, पर पत्र के अत मे जब उन्हें पढा—अधीयताम् कुणाल तो उनके पैरों तले से जमीन खिसक गई । महान् आश्चर्य के मारे वे बहुत देर तक स्तब्ध से बैठे रह गए । पर आखिर बात प्रकट तो करनी ही थी । धीरे धीरे उन्होने पत्र की बात दरबार मे जाहिर की । सुनते ही मत्री, सेनापति एव समस्त अन्य दरबारी चित्रलिखित से रह गए । कुणाल जैसे सुन्दर गुणवान और होनहार राजकुमार के लिए उसके पिता की ऐसी आज्ञा को जानकर सभी के हृदय भर आए और नेत्र छलक उठे । कुणाल सभी को अत्यन्त प्रिय थे ।

पर आज्ञा तो आज्ञा ही थी, उसमे परिवर्तन करना सभव नही था । अत जल्लाद को बुलवाया गया । इधर कुणाल के हृदय मे तनिक भी दुख या क्रोध का चिह्न नही था । वह समझ गया था कि पिताजी मेरे लिए ऐसी आज्ञा कदापि लिखकर नही भेज सकते थे, इस आज्ञा के पीछे तिष्यरक्षिता की कोई चाल होगी । किन्तु फिर भी पत्र के नीचे पिताजी के हस्ताक्षर थे अत वह प्रसन्नता पूर्वक उनके हस्ताक्षरो का सन्मान करने के लिये तैयार था ।

अत जब उसने देखा कि कोई भी मेरी आँखे निकालने के लिये तैयार नही है । जल्लाद और उसके अलावा अन्य कर्मचारी भी ऐसा करने मे हिचकिचा रहे हैं तथा घोर व्यथा का अनुभव कर रहे है, तो उसने स्वय ही लोहे की गरम-गरम सलाखें उठाईं और अपनी आँखो मे घुमेड ली ।

क्या कुणाल के समान पितृभक्त और आज्ञाकारी युवक आज कही मिल सकते हैं ? नही, किन्तु आज्ञा मे इस प्रकार की रुचि हुए बिना आत्मा का उत्थान भी कैसे हो सकता है ? वही प्राणी अपने आपको जन्म-मरण से मुक्त कर सकता है, जो मरण देकर भी अपने माता-पिता की, गुरु की तथा जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करने मे तत्पर रह सके ।

मोक्ष प्राप्त कर लेना बच्चो का खेल नही है, वरन बडी टेढी खीर है । गीता मे कहा गया है —

> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा ।
> गच्छन्त्य पुनरावृत्ति, ज्ञाननिर्धूत कल्मषा. ॥१७

...ल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान धरने वाले, ... वाले, उसी को सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष

...साधक जब अपने साध्य के अलावा और किसी तरफ ... या भक्त अपने ईश्वर के अलावा और किसी भी तरफ ...रता, उसी के प्रेम मे पागल रहता है तभी उसकी प्राप्ति

...र्दू भाषा के कवि ने परमात्मा के प्रति प्रेम के स्वरूप को अपने ...बताया है—

यह इश्क नहीं आसा इतना ही समझ लीजे।
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है॥

क्या कहा है यही कि परमात्मा से प्रेम करना आसान नही है। यह अग्नि का महासागर है जिसे तैर कर पार करना है।

लक्ष्य-वेध कैसे हो सकता है?

आपने अपनी पाठ्य पुस्तको मे पढा होगा, मैंने भी बचपन मे पढा था कि एक बार द्रोणाचार्य ने कौरव और पाडवादि अपने समस्त शिष्यो की धनुर्विद्या की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

सभी को लेकर वे एक बृहत मैदान मे आए। एक पेड पर उन्होने मिट्टी की एक चिडिया बनाकर रख दी और सर्वप्रथम युधिष्ठिर को बुलाकर चिडिया की आँख को निशाना बनाने का आदेश दिया। किन्तु उससे पहले प्रश्न किया—

"तुम्हे क्या दिखाई दे रहा है?"

"मुझे चिडिया दिखाई दे रही है गुरुदेव!" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया। आचार्य ने पुन प्रश्न किया—"और क्या दिख रहा है?"

"और पेड व उसकी पत्तियां दिख रही हैं।" द्रोणाचार्य ने यह सुनकर युधिष्ठिर को वहाँ से हटा दिया—"तुम लक्ष्य-वेध नही कर सकोगे।"

अब दूसरे शिष्य को और उसके पश्चात सभी को क्रमश बुलाया और उनसे भी यही प्रश्न किये। उत्तर भी सबके इसी प्रकार मिले।

आचार्य ने निराश होकर दूर खडे हुए अर्जुन को देखा और उसे पास बुलाकर पूछा—

"वत्स ! तुम्हे क्या दिखाई दे रहा है ?"

"मुझे चिडिया की आँख दिखाई दे रही है।" अर्जुन ने जवाब दिया। पुन आचार्य ने पूछा—"और क्या देख रहे हो तुम ?"

"मुझे तो आँख के अलावा और कुछ भी दिखाई नही देता गुरुदेव !" अर्जुन का उत्तर सुनकर आचार्य की आँखो मे प्रसन्नता की चमक आ गई और उन्होने आज्ञा दी—"लक्ष्यवेध करो, तुम्हे सफलता मिलेगी।" हुआ भी यही। अर्जुन का तीर छूटा और चिडिया की आँख मे प्रविष्ट हो गया।

इस उदाहरण से आप समझ गए होगे कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधक की दृष्टि कैसी होनी चाहिये ? निश्चय ही उसे अपने साध्य के अलावा अन्य किसी भी वस्तु की ओर दृष्टिपात नही करना चाहिये। तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

हमारे अवतारी पुरुष इसीलिये प्राणी को बार-बार सावधान करते हुए कह गए हैं—

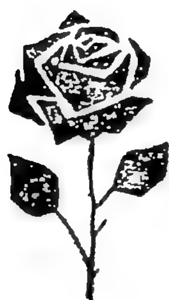
सबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरवि जीवियं॥

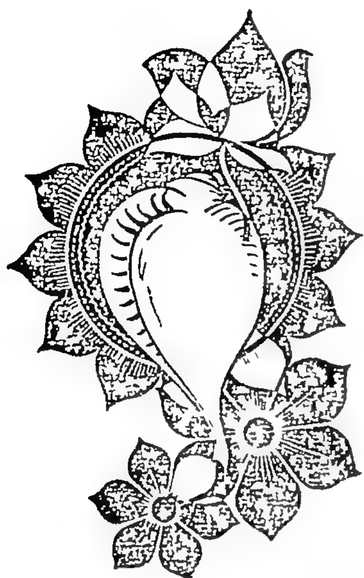
—सूत्रकृताग २-१-१

—"हे मनुष्यो ! समझो ! जीवन की विनश्वरता को समझो। इस शरीर की असारता को समझो, धर्म के स्वरूप को समझो, और आत्म-कल्याण के सच्चे उपायो को समझो, यह भी समझो कि मृत्यु के पश्चात् बोधि दुर्लभ है—बडी कठिनाई से प्राप्त हो सकती है। आयु क्षण-क्षण मे समाप्त होती जा रही है। दुबारा मानव-भव पाना सरल नही है। अगर इसके समाप्त होने से पहले धर्माचरण न कर पाया तो इस मानव-जन्म के लक्ष्य की सिद्धि होना अत्यन्त कठिन है।"

बधुओ ! हमे इस चेतावनी से लाभ उठाना है तथा भगवान के वचनो पर विश्वास करते हुए उनकी आज्ञा का पालन करना है। अगर हमने ऐसा नही किया और प्रतिदिन अखण्ड धारा बहती हुई जिन वाणी के द्वारा भी

हृदय को सरस बनाकर इसमे धर्म-रूपी अकुर नही जमाए तो फिर मनुष्य-पर्याय रूप यह सुयोग मिला न मिला बराबर हो जायेगा तथा हमारी मोक्ष-प्राप्ति की कामना जन्म-मरण के अथाह सागर मे विलीन हो जाएगी। इसलिये हमे अपनी आत्मा पर से अज्ञान और मिथ्यात्व का आवरण हटाकर उसे उसके सच्चे रूप मे लाना है और इस प्रयत्न मे आज्ञा-रुचि ही हमारी सहायक बन सकेगी। अगर हम जिन वचनो के अनुसार चलेंगे और उनकी आज्ञा का पालन करेंगे तो निश्चय ही हमारा मार्ग सरल बनता जाएगा और हम आत्म-कल्याण के सुपथ पर अग्रसर होते रहेगे।





२३ बीज में तरुवर भी है !

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो ?

पिछली वार मैंने वताया था कि हमारे धर्म ग्रन्थो मे दस प्रकार की रुचियो का वर्णन है। उनमे से आज्ञारुचि के विपय मे कल कहा गया था और आज वीजरुचि को लेकर विचार कर रहे हैं।

छोटा मत समझो

बीज छोटा सा होता है किन्तु उसी के द्वारा एक वडा भारी वृक्ष निर्मित हो जाता है। कहाँ वड का छोटा सा बीज केवल राई के समान, और कहाँ विशाल काय तरुवर, जिस पर सैंकडो पक्षी वसेरा लेते हैं तथा सैंकडो थके हुए मुसाफिर जिसकी शीतल छाया मे टुक विश्राम लेकर अपने को तरो-ताजा वना जाते हैं।

छोटे से वीज का महत्व वडा भारी होता है, क्योंकि उसके अन्दर महान् फल छिपा हुआ होता है। एक सुन्दर पद्य मे कहा भी है—

> वीज वीज ही नहीं बीज मे तरुवर भी है।
> मनुज मनुज ही नहीं मनुज मे ईश्वर भी है ॥

कितनी यथार्थ वात है ? एक वीज केवल वीज ही नही है, वह अपने

मे एक विशाल वृक्ष समाया हुआ है, जो सीचा जाने पर ससार के समक्ष आ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य केवल नामधारी मनुष्य ही नही है, उसमे ईश्वर भी है जो आत्मा को उन्नति की ओर ले जाता हुआ अपने सदृश बना लेता है।

तो मैं बीज रुचि के विषय मे बता रहा था कि दस प्रकार की रुचियो मे से एक बीज-रुचि है। बीज-रुचि किसे कहते हैं ? और उसकी पहचान क्या है ? इस विषय मे एक गाथा है—

एगेण अणेगाईं, पयाइ जो पसरई उ सम्मत्तं।
उदएब्व तेल्ल बिन्दू, सो बीयरुइत्ति नायव्वो ॥

उत्तराध्ययन सूत्र २८-२२

गाथा मे बताया गया है—'एगेण अणेगाईं' यानी जो एक से उनेक और 'पयाई जो पसरई अर्थात् पदो का प्रसार कर लेता है यह एक शक्ति है। एक पद सुन लेना और अपनी बुद्धि से अनेक और पदो का निर्माण कर लेना तथा एक वाक्य सुनकर उसके अनेक भावो को समझ लेना बीज-रुचि का कार्य है।

खेत मे बीज के एक दाने से अनेक दाने पैदा हो जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुप इ गित मात्र से ही अनेक बातो को समझ लेता है। और एक वाक्य या एक पद के द्वारा अनेक पदो का निर्माण करने की कुशलता रखता है। आप भक्तामर का पाठ करते हैं, उसके श्लोको पर ध्यान दे तो स्पष्ट मालूम होगा कि श्लोक मे तीन चरण कवि के होते हैं और एक चरण उसका अपना। उदाहरण स्वरूप देखिये—

वालम्बन भवजले पतता जनानाम्। अथवा—
स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्रम्।

इसमे भगवान ऋषभदेव की स्तुति की गई है। नेमभक्तामर मे भगवान् नेमिनाथ की, पार्श्व भक्तामर मे पार्श्वनाथ भगवान की और वीर भक्तामर मे भगवान महावीर की स्तुति है।

इस प्रकार अलग-अलग भक्तामरो की रचना की गई है पर हम देखते हैं कि उनमे एक-एक पद को लेकर तीन-तीन पद अपनी ओर से रचे गए हैं तथा उनके अर्थ को सुन्दर और स्पष्ट बना दिया गया है। तो एक पद से अनेक पदो का जो यह फैलाव हुआ वह बीज-रुचि की शक्ति के द्वारा ही हो सका।

वीज-रुचि को भली-भाति समझने के लिये तेल-विन्दु का उदाहरण दिया जा सकता है। तेल की एक वूँद अगर पानी मे डाल दी जाय, तो उसका प्रसार सम्पूर्ण जल मे हो जाता है। ऐसा घी की वूँद के साथ नही होता। वह जितने स्थान मे गिरता है उतने मे ही वना रहता है, फैलता नही।

दो प्रकार के व्यक्ति

अभी मैंने तेल-विन्दु और घृत-विन्दु के जो उदाहरण आपके समक्ष रखे हैं, उन्ही के आधार पर आप मनुष्यो की रुचि समझ सकते हैं।

घृत-विन्दु के समान जिनकी रुचि होती है, उनकी वुद्धि और ज्ञान विस्तृत नही होता, फैलता नही। वे जितना पढते हैं या जितना सुनते हैं उतना ही उनके दिमाग मे रहता है। अपनी वुद्धि की कसौटी पर वे उसके औचित्य और अनौचित्य की परख नही कर सकते। नही अपने विवेक से वे सुनी हुई वात के गूढ रहस्य को जान सकते हैं।

इसका परिणाम कभी-कभी वडा हानिप्रद निकलता है। वह यही कि किसी भी वात की यथार्थता या अयथार्थता का विचार न कर सकने के कारण ऐसे व्यक्ति धोखेवाज या पाखडियो के वहकावे मे आकर गलत मार्ग पर चल देते हैं। प्रदर्शन और वाक्य-जाल मे उलझकर अधर्म को ही धर्म समझ वैठते हैं तथा धर्म के सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर अपना इहलोक और परलोक दोनो ही विगाड वैठते है। यह सव वुद्धि के तथा वीज-रुचि के अभाव मे होता है।

आचार्य चाणक्य ने कहा भी है —

यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा, शास्त्र तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्या विहीनस्य, दर्पण कि करिष्यति ॥

—जिस मनुष्य मे स्वय अपनी वुद्धि नही होती उसे शास्त्र से भी कोई लाभ नही होता। जिस प्रकार नेत्र-हीन व्यक्ति को दर्पण से कोई फायदा नही हो पाता।

वस्तुत जिस व्यक्ति की वुद्धि का विकास नही होगा, वह कभी कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न नही कर पाता। प्रत्येक कार्य मे उसे निराशा और असफलता ही हासिल होती है। जैसा कि कहा जाता है —

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः
काम व्यग्रा भवन्ति च।

महारम्भा कृतधिय—
स्तिष्ठंति च निराकुलाः ॥

—कवि माघ

अर्थात्—अल्पज्ञ व्यक्ति छोटा सा कार्य आरम्भ करते हैं और उसी मे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं पर बुद्धिमान लोग बडे से बडा कार्य प्रारम्भ करके भी निश्चिन्त बने रहते हैं।

यह अन्तर क्यो ? इसलिये कि अल्पज्ञ की बुद्धि घृत-बिन्दुवत् प्रसार रहित होती है, तथा उसमे आगा-पीछा या उचित अनुचित को समझने की शक्ति नही होती। किन्तु इसके विपरीत जो बुद्धिमान् और विवेकी होते हैं उनकी प्रज्ञा जल मे तैलबिन्दु के समान आवश्यकतानुसार प्रसारित होती जाती है। ऐसे महापुरुष बहुत कम पाये जाते हैं।

आचार्य सोमप्रभ ऐसे ही महा मानव थे। उन्होने सस्कृत मे एक श्लोक का निर्माण किया, जिसका एक सौ अट्ठारह प्रकार से अर्थ किया जाता है। उसी श्लोक से अरिहत का गुणगान, उसी श्लोक से सरस्वती का और इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ निकलते हैं। तो एक श्लोक मे एक सौ अठारह प्रकार का अर्थ भर देना कितनी विद्वत्ता का परिचायक है ? इसके अलावा सस्कृत भाषा मे तो गूढार्थ से भरा हुआ बहुत साहित्य है पर हमारी हिन्दी भाषा मे भी अनेकानेक कवित्व और कविताएँ ऐसी पाई जाती हैं, जिनका कई प्रकार से अर्थ किया जाता है।

सत दादू एक बडे ही विद्वान् व महापुरुष थे। उनके नाम से अलग एक पथ भी चला हुआ है। उनका रचित एक दोहा उदाहरणार्थ आपके सामने रखता हू —

दादू दिया है भला दिया करो सब कोय।
घर मे धरा न पाइये, जा घर दिया न होय ॥

इस दोहे का एक अर्थ है अगर व्यक्ति दूसरो को देता है तो वह अत्युत्तम बात है। देने के लिये किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता नही है। जिसके पास बुद्धि है, वह बुद्धि के द्वारा औरो की कठिनाइयाँ हल करे, जिसके पास शारीरिक-शक्ति है वह सेवा-कार्य को अपना लक्ष्य बनाए, अगर धन की प्रचुरता है तो अभाव ग्रस्त प्राणियो की आवश्यकताओ को पूरा करे और इनमे से कुछ भी नही है तो दीन-दुखी प्राणियो के प्रति स्नेह और सहानुभूति ही रखे, उन्हें सान्त्वना प्रदान करे। साराश यही है कि जिससे जो कुछ भी दिया जा सके वह औरो को अवश्य देवे।

कबीर ने तो जीवन का सुफल देना ही बताया है। कहा है —

हाड़ बढ़ा हरि भजन कर, द्रव्य बढ़ा कछु देय।
अकल बढी उपकार कर, जीवन का फल येह ।।

वास्तव मे, दान देने से बढकर ससार मे और कोई उत्तम कार्य नही है। अत सभी को जैसा और जितना दिया जा सके देना चाहिये। दादूजी ने आगे कहा है—'घर मे धरा न पाइये जा घर दिया न होय।' अर्थात्—जो व्यक्ति अपने सचित धन को घर मे ही इकट्ठा करके रखता है, किसी को उसमे से कुछ देता नही, उसे दान देने का शुभ फल प्राप्त नही होता। मनुष्य को यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि दान के प्रभाव से दूसरे लोक मे दान-द्रव्य से अनेक गुना अधिक प्राप्त होता है। किसी कवि ने कैसे सुन्दर ढग से दान का महत्व बताते हुए कहा है —

"दातार कृपण मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुञ्चति।"

— मैं तो दानी को महा कजूस मानता हूँ जो कि मर जाने पर भी अपने धन को यहाँ नही छोडता। कितना गूढार्थ इस चरण मे छिपा हुआ है ? कवि का आशय यह है कि दानी व्यक्ति अपने दान के प्रभाव से प्राप्त अनेक गुना पुण्य मरने पर अपने साथ ले जाता है। उसे यहाँ नही छोड जाता।

सत दादूदयाल इसीलिये कहते हैं कि घर मे धन है, पूर्वजो ने उसे जमीदोज कर रखा है। पर अगर उसमे से कुछ भी दिया नही गया है तो परलोक मे उसके बदले कुछ भी नही मिल सकेगा। बीज बोने पर ही फसल प्राप्त होगी, धर्म के वृक्ष बोये बिना नही लगेंगे। बिना बोये तो पाप रूपी घासफूस और काँटे ही उगेंगे जो निरर्थक तो साबित होगे ही, उलटे कष्ट भी पहुँचाएँगे इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार देते रहना चाहिये। देने पर ही अधिक की प्राप्ति होती है। कहा भी है —

"धनं फलति दानेन।"

— धन का विस्तार अथवा विपुल धन की प्राप्ति केवल दान से ही हुआ करती है।

अगर धन दान मे दिया जाएगा तो उससे भी कई गुना अधिक प्राप्त होगा और नही दिया जाएगा तो दादू जी के कथनानुसार 'घर में धरा न पाइये।" अर्थात् घर मे गडा हुआ भी प्राप्त नही हो सकेगा। क्योंकि व्यक्ति ने दिया नही था। इस विषय मे मुझे एक सत्य घटना याद आई है—

दो सत्य घटनाएँ

किसी गाँव मे एक श्रावक थे। प्रारम्भ मे उनकी माली हालत बहुत अच्छी थी, किन्तु पाप-कर्म के उदय से या कि समझ लीजिये, दिया हुआ न होने से उनके धन का ह्रास होता चला गया तथा असह्य निर्धनता ने उन्हे घेर लिया। बहुत समय तक उन्होंने अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया पर सफलता नही मिली तो घबराकर रहने का मकान ही किसी को बेच दिया। सभवत पाँच सौ या छ सौ मे ही वह बिका।

इधर मकान खरीदने वाले ने उसमे कुछ सुधार करवाना प्रारम्भ किया और उस सिलसिले मे उसने रसोई और एक कमरे के बीच की दीवाल को गिरा दिया। दीवार का गिरना था कि उसमे दबा हुआ बहुत सारा धन बाहर आ गया और मकान का खरीददार मालोमाल हो गया।

इस प्रसग से यही साबित होता है कि मकान जिसने बेचा था, उसी के बाप-दादो ने धन इकट्ठा करके दिवाल में चुन दिया था। अत. वह उसी का था, किन्तु पाप कर्मों के उदय से अथवा दानकृत पुण्यो के अभाव से वह धन उसका और उसी के घर मे रहा हुआ होकर भी उसे नही मिल सका। क्यो नही मिल सका ? इसीलिये कि उसके हाथ से पूर्व भव मे दिया हुआ नही था।

एक घटना और भी मेरे देखने मे इसी प्रकार की आई थी। महाराष्ट्र के अमरावती शहर मे एक पुराना स्थानक था, उसमे हमारा चातुर्मास हुआ। उस स्थानक को छ व्यक्तियो ने मिलकर खरीदा था। उसके पडौस मे पीछे ही एक जमीन और थी जो कि डेढ हजार रुपये मे उन्हे मिल रही थी। किन्तु स्थानक छ जनो की मिल्कियत मे था अत उन लोगो ने उससे लगी हुई जमीन को लेने से इन्कार कर दिया। दूसरो का लेना नही और स्वय खर्च करना नही फिर काम कैसे बनता ? जमीन नही खरीदी गई।

कुछ ही समय बाद एक मुसलमान बोहरा ने उसी जमीन को दो हजार सात सौ रुपये मे खरीद ली। उसने जाकर जमीन को अच्छी तरह देखा भाला और उसके पुण्योदय से उस जमीन मे उसे एक तलघर मिल गया। तलघर मे बहुत सा कीमती सामान प्राप्त हुआ। मकान की खरीदी मे व्यय किये हुए पैसे तो उसे तलघर मे प्राप्त सामान से ही वसूल हो गए। जमीन मुफ्त मे रही।

उसके बाद वह बोहरा वही रहने लग गया। पर मुसलमान था अत

कभी स्थानक मे ही हड्डियाँ फेंक देता था। मास आदि पकाने क
समस्त वातावरण भर जाता। परेशान होकर साधु-सन्तो को रह

कहने का अभिप्राय यही है कि अगर वे छ व्यक्ति उस ज
लेते तो प्रथम तो साधु-सन्तो को तकलीफ नही होती, दूसरे
स्थानक को और सुविधाजनक बना देता, और तीसरा लाभ य
तलघर मे पड़ा हुआ सामान स्थानक के उपयोग मे आ जात
सब होता कैसे ? जबकि उन्होने पूर्व मे दान देकर पुण्योपार्जन
नही था

तो बधुओ, आपको ध्यान है कि हमारा विषय क्या चल र
आपको यह बता रहा था कि बीज-रुचि जिन महापुरुषो मे होती
हुई बात मे से अनेक अर्थ निकाल लेते हैं और अपनी कही
अनेक अर्थ भर देते है। उदाहरण के लिये मैंने सत दादूजी का
आपके सामने रखा है और उसका एक अर्थ दान देने के विषय मे

उसी दोहे मे अब जो दूसरा अर्थ है, वह आपको बता रहा
दिया है भला, दिया करो सब कोय।" यही दोहे की पहली पंक्ति
मानी दीपक कहते हैं— दीपक ससार का एक बहुमूल्य और
पदार्थ है। बहुमूल्य से आशय यह नही है कि वह बहुत धन दे
जाता है। अपितु यह है कि वह अधकार का नाश करता है।

हम साधुओ के लिये तो दीपक जलाना वर्जनीक है क्योकि
होती है, किन्तु आप गृहस्थो का कार्य उसके बिना एक दिन भी
सकता। आप कहेंगे हमारे यहाँ तो बिजली है। तब भी वह
बिजली भी दीपक का परिष्कृत रूप है। मुख्य बात है अन्धका
करने की। और इसीलिये अगर एक दिन भी आपके यहाँ न जले
घरो मे हाय-तोबा मच जाती है। जिस दिन बिजली फेल हो
जानते ही हैं कि आपके घरो मे कैसी अव्यवस्था और परेशानी का
बन जाता है।

तो दीपक अधकार का नाश करने वाला और आपके घरो
मय बनाने का साधन है अत सभी को सायंकाल के पश्चात् दीपक
करना चाहिये यह सत दादूजी कहते हैं।

अनेक घरो मे तो दीपक न जलाना बड़ा अशुभ माना जात

करती हैं। और फिर दीपावली मे तो आप जानते ही हैं कि सैकडो दीपक जलाकर वह महत्वपूर्ण त्यौहार मनाया जाता है। आपकी मान्यता ही यह है कि अगर देहरी पर उस दिन दीपक नही रखेंगे तो लक्ष्मी का आगमन नही होगा। हमे लक्ष्मी की जरूरत नही है अत हमे दीपक की भी आवश्यकता नही है।

दोहे की अगली पक्ति मे कहा है—

घर में धरा न पाइये, जा घर दिया न होय।

अर्थात् जिस घर मे दीपक नही होगा वहाँ निश्चय ही अधेरा होगा और अधेरे मे घर मे रखी हुई वस्तुएँ ढूँढे न मिलेगी भले ही वे स्वय उसी व्यक्ति के हाथ की रखी हुई क्यो न हो।

तो इस दोहे के हमने दो अर्थ समझलिये। पहला दान से लिया, दूसरा दीपक से और अब तीसरा अर्थ भी देखिये! तीसरा अर्थ लिया है ज्ञान-दीपक से। जड दीपक जिस प्रकार घर के अधेरे को दूर करता है, उसी प्रकार ज्ञान-दीपक आत्मा के अधेरे को मिटाता है। जड दीपक ससार की जड वस्तुओ को दिखाता है और ज्ञान-दीपक हृदय की शुभ भावनाओ को प्रकाशित करता है।

जब तक ज्ञान रूपी दीपक आत्मा मे प्रज्ज्वलित नही होगा, आत्मा अधेरे मे रहेगी। और अन्धकारमय आत्मा जिस शरीर मे रहती है उस शरीर को कितना हेय और निरर्थक माना जाना चाहिये इस विषय मे एक अग्रेजी भाषा का कवि बडे ही मर्मस्पर्शी शब्द कहता है—

"If the body be without anillunined heart bury it under ground no respect is haieb to an empty candelabrun in a dark house"

कहते हैं—अगर तुम्हारे इस शरीर मे प्रकाश शून्य अन्त करण है, तो उस देह को दफना दो! ऐसा क्यो? क्योकि जिस प्रकार प्रकाश से रहित अधेरा मकान शोभा नही पाता, उसी प्रकार ज्ञान की ज्योति से रहित हृदय वाला शरीर शोभा नही पाता तथा निरर्थक सावित होता है।

प्रकाश शून्य अन्त करण से क्या तात्पर्य है? यह आप समझ गए होंगे! और नही तो इस प्रकार समझिये कि प्रकाश रहित अन्त करण वह है, जिसमे सम्यक्ज्ञान की ज्योति नहीं है। जिस अन्त करण मे शिक्षा नही है, सस्कार नही हैं, त्याग, तपस्या, सेवा, दया, दान तथा सद्भाव आदि सद्गुण नही हैं

और जो ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की अद्वितीय शक्ति से शून्य है, वही अन्त करण निरर्थक और कर्म-नाश के सर्वथा अयोग्य है । इसीलिये कवि न कहा है—"ऐसे निरर्थक अन्त करण को अपने आप मे रखने वाले शरीर को दफना दो ।"

सक्षेप मे जहाँ ज्ञान की ज्योति नही जगमगाती वहाँ अज्ञान दशा बनी रहती है । और ऐसी स्थिति मे आत्मा अपना उद्धार करने मे समर्थ नही हो पाती । वह तो अपने पूर्व सचित पुण्यो को मानव शरीर, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, उत्तम कुल और भोग-विलास के अन्य साधनो के रूप मे पाकर तथा उन्हे भोगकर यही समाप्त कर देती है, और पूर्णतया पुण्य-हीन होकर पुन ससार परिभ्रमण के लिये चल देती है ।

वस्तुत यह यथार्थ बात है कि बैठे-बैठे खाने पर कुबेर का खजाना भी समाप्त हो जाता है और इसी प्रकार नवीन पुण्यो का सचय न करने पर पूर्व सचित पुण्य खत्म हो जाते हैं । आप धनवान कैसे बनते हैं ? तभी न, कि जब खर्च से अधिक कमाई करते जाते हैं । अगर कमाया हुआ सब खर्च करते जाँय तो क्या आप लखपति और करोडपति बन सकेंगे ? नही !

एक गुजराती कवि ने भी यही बडे सुन्दर ढग से कही हैं —

कमाई कमाई ने कमानी धूल धाणी करे,
कहो ए श्रीमंत क्यारे थशे ससार माँ ?
सात डग सामा भरी पाँच डग पाछी करे,
कहो ए माणस क्यारे पहोचशे बाजार माँ ?

कवि का कथन सत्य है कि मनुष्य कमा-कर अपनी सारी कमाई को फूँकता चला जाय तो वह श्रीमत कब बनेगा ? अर्थात् कभी नही बनेगा ?

इसी प्रकार का दूसरा दृष्टात भी कहा है कि वह व्यक्ति, जो सात कदम आगे बढता है पर पाँच कदम पुन पीछे हट जाता है तो वह बाजार मे कब पहुच सकेगा ?

इन उदाहरणो से तात्पर्य केवल यही है कि मनुष्य जिस कार्य को सम्पन्न करना चाहता है, उसमे निरतर प्रगति करता चले, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखे कि जितना कार्य किया जा चुका है, उसमे कही खराबी न आ जाए । अर्थात आगे बढते हुए भी पीछे के सरक्षण का ध्यान रखे ।

आज तो राजा-महाराजा है नही, पर प्राचीन काल मे जब होते थे, उनके किसी सग्राम के लिये कूच करने पर चारण, भाट आदि आशीर्वाद

देते थे—हे महाराज ! आप सकुशल आगे बढे, जिन्हे नही जीता, उन्हे जीतें और जिन्हे जीत लिया है उनका पालन करें ।"

इसी प्रकार दीक्षा लेने वालो से भी कहा जाता है—"अजिय जीणाहिं ।" अर्थात् इन्द्रियो को जीतो और जीत लेने पर उन्हें काबू मे रखो। सयम के साथ रहो !!"

ऐमा क्यो कहा जाता है ? इसलिए कि —

आपदाम् प्रथित पंथा इन्द्रियाणामसंयम ।

—इन्द्रियो का असयम यानी विपयो का सेवन ही आपत्तियो को आने का मार्ग बताया गया है ।

इसलिए विचारशील पुरुष बडी सावधानी और सजगता से अपने मन और इन्द्रियो को इनके विपय से विमुख करने का प्रयत्न करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे सहज ही ससार के समस्त प्रलोभनो पर विजय प्राप्त करते हुए अपने इच्छित लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगते हैं ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है —

इन्द्रियार्थेषु निःसंगं, तस्य सिद्धं समीहितम् ।

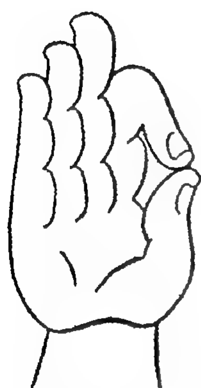
—जो विचारवान प्राणी इन्द्रियो के विपयो मे सलग्न नही है, उसी की मनोकामना सिद्ध होती है।

तो बधुओ ! हमारा मूल विपय बीज-रुचि को लेकर चल रहा है । इसी प्रसग मे मैंने संत दादूदयाल का एक दोहा आपके सामने रखा और बताया कि जिन महामानवो मे बीज-रुचि होती है वे थोडे शब्दो मे से ही उनमे छिपे हुए अन्य सभी भावो को समझ लेते हैं, तथा स्वय भी थोडे से शब्दो मे गागर मे सागर के समान बहुत से रहस्य भर देते हैं। जिस प्रकार संत दादूजी ने केवल एक ही दोहे मे तीन प्रकार के विषयो को स्पष्ट कर दिया ।

प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी बुद्धि को बीज-रुचि के द्वारा जल मे पडे हुए तैल-बिन्दु के समान परिष्कृत कर विस्तृत बनाता है तथा आज्ञा-रुचि रखते हुए भगवान के प्रत्येक आदेश को उसके सही रूपो मे समझकर ग्रहण करता हुआ कल्याणकारी पथ पर अग्रसर होता है ।

जो भव्य प्राणी इस प्रकार अपने विवेक, बुद्धि आत्म-बल और समस्त सद्गुणो को साथ लेकर सम्यक् ज्ञान के प्रकाश मे दृढ कदमो से साधना-पथ पर चलता है सफलता उसी के चरण चूमती है ।





२४

उपदेशों को आत्मसात् करो !

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

उपदेश का जीवन मे बडा भारी महत्व है। अगर व्यक्ति उपदेश के चद शब्दो को भी ग्रहण करके उन्हे अपने आचरण मे उतार लें तो उसकी काया पलट हो सकती है। उदाहरणस्वरूप कुछ निराशावादी कहा करते हैं :— "यह ससार घोर दुखो से भरा हुआ है, इसमे रहकर हम अपने आपको पापो से कैसे बचा सकते हैं ? इसमे इतनी शक्ति ही कहा है कि अपने समस्त कर्मों का नाश करके मुक्ति जैसी महान सिद्धि को हासिल कर सकें।"

नरक या स्वर्ग ?

ऐसे अकर्मण्य, पौरुष-रहित और निराशावादी प्राणियो को जगाने की शक्ति अगर किसी मे है तो वह केवल उपदेश ही है। अगर व्यक्ति सर्वथा ही विवेकहीन, बुद्धिहीन और श्रद्धाहीन नही हो गया है तो भगवान के वचन और उन्ही पर आधारित सत पुरुषों के उपदेश उसे समझा सकते हैं कि यही ससार जिसे वह नरक मानता है, अपने आपमे स्वर्ग भी छिपाये हुए हैं। और वह तभी प्रकाश मे आ सकता है जबकि प्राणी सच्चा कर्मयोगी बने, कषायो को जीते, मन एव इन्द्रियो को सासारिक प्रलोभनो से बचाए तथा

सम्यक्ज्ञान और क्रियारूपी अपने दोनो पैरो से पूर्ण आत्म-विश्वास और आत्म-वल सहित सत्पथ पर चले।

ऐसा करने पर उसे यही ससार जो दु ख और पापो से भरा दिखाई देता है, पुण्य और आनन्द से परिपूर्ण जान पडेगा। दृष्टि के बदलते ही उसकी भावनाएँ बदल जाएँगी और वह मानने लगेगा —

Every thing is for the best is this best of all passible worlds
—वाल्टेयर

—सभी सभव ससारो मे यह ससार सर्वोत्तम है और इसमे सभी वस्तुएँ सर्वोत्तम के लिये हैं।

पर दृष्टि को बदलें कैसे ? उत्तर यही है— उपदेश के द्वारा। वीतराग प्रभु उपदेश देते किसलिये है ? प्राणियो को सन्मार्ग पर लाने के लिये तथा उनकी दोप-दृष्टि को गुण-दृष्टि मे वदलने के लिये। उन्हे अधकार से प्रकाश मे लाने के लिये ही वे उपदेश देते है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के वत्तीसवें अध्याय मे कहा है —

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य सखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

यह मूल पाठ है। भगवान का उपदेश इसीलिये है कि ज्ञान का प्रकाश हो, अज्ञान और मोह का नाश हो, राग और द्वेष दोनो का पूर्णतया क्षय हो तभी एकान्त सुख-रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

उपदेश ग्राह्य किसे होता है ?

ससार मे उपदेशो की कमी नही है। भगवान ने उपदेश दिये हैं जो जिनवाणी के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। सत-महापुरुप भी उपदेश देते आए हैं और आज भी देते हैं पर उन्हें ग्रहण करने वाले विरले ही होते हैं। उपदेश वे ही ग्रहण करते है जो भव्य जीव होते हैं। अभव्य को उपदेश नही लगता। भव्य और अभव्य मे क्या अतर है ? जो भव करके मोक्ष मे जाने वाला है वह भव्य और जो भव करके भी मोक्ष मे नही जा सकता वह अभव्य कहलाता है।

तर्क करने वाले कहते हैं—वीतराग प्रभु का उपदेश साधारण सत या महापुरुप का उपदेश नही है। उनके उपदेश का असर क्यो नही होता ?

एक वार मध्यप्रदेश के सुवासरा मन्डी नामक गांव मे हमारा प्रवचन चल रहा था। उस समय एक सिक्ख भाई ने प्रश्न किया "महाराज, आपका उपदेश तो वहुत ही अच्छा और आत्मा को तारने वाला है, पर आपके शिष्य उसे अमल मे नही लाते इसका क्या कारण है ?"

मैंने कहा—"भाई ! हमारा फर्ज है उपदेश देना और आप लोगो का फर्ज है उसे अमल मे लाना। हम अपना फर्ज पूरा करते है अव आप उसे अमल मे लाते हैं या नही, यह आपकी भावनाओ पर तथा आपकी भविष्य मे वधने वाली गति पर निर्भर है। जिनकी गति शुभ होने वाली होती है उन्हे अधिक उपदेश की भी आवश्यकता नही होती, और वे उपदेश के दो शब्दो को ग्रहण करके भी चेत जाते हैं। इस प्रकार सतो का कर्तव्य मार्ग-दर्शन करना है पर सुनने वाले अगर उस मार्ग पर नही चलते तो यह दोप उनका है, उपदेश का नही।"

इसी वात को स्पष्ट करने वाला एक श्लोक है —

> पत्र नैव यदा करीरविटपे, दोपो वसतस्य किम् ?
> नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ?
> धारा नैव पतति चातकमुखे मेघस्य किं दूपणम् ?
> सद्वोधात् द्रवते न दुष्ट हृदय वोधस्य किं दूपणम् ?

मैंने उस सिक्ख भाई को समझाने के लिये यह श्लोक कहा और उसे स्पष्ट किया कि—"देखो भाई ! जव वसन्त ऋतु आती है, हर एक वृक्ष मे कोपलें फूटती हैं, नवीन पत्ते आते हैं, किन्तु केर का पेड ऐसा होता है कि उसमें एक भी पत्ता नही लगता। तो इसमे वसन्त ऋतु का क्या दोप है ?"

"इसी प्रकार सूर्य के उदय होते ही ससार के समस्त प्राणी अपने मुदे हुए नेत्र खोलते हैं और अपने अपने कार्य मे सलग्न हो जाते हैं। सन्त, सती और व्रतधारी श्रावक अपने व्रत-नियम मे लग जाते हैं, विद्यार्थी अध्ययन मे रत होते हैं, नौकरी पेशे वाले अपनी ड्यूटी पर जाने की तैयारी करते हैं और किसान अपने खेतो की ओर भागते हैं। इस प्रकार सभी प्राणी सजग होकर अपने अपने कार्य मे जुट जाते हैं, किन्तु उल्लू एक ऐसा जीव है जो सूर्योदय होते ही अपनी आंखें वन्द कर लेता है, उसकी ओर देखता ही नही। तो वताओ, इसमे सूर्य का क्या दोप है ? उसका काम प्रकाश करना है और उसने अपना कर्तव्य पूरा किया। अर्थात् प्रकाश फैलाया पर कोई उससे लाभ न उठाये तो वह क्या करे ?"

सूर्य के समान ही मेघ भी सम्पूर्ण पृथ्वी पर समान वृष्टि करता है। अपनी ओर से वह भूमि के प्रत्येक स्थान को सरसब्ज और प्रत्येक प्राणी को आह्लादित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु अगर चातक के मुँह मे जल की बूँद न गिरे तो मेघ क्या करे ? चातक केवल स्वाति नक्षत्र का जल ही लेता है दूसरा नही, और इस कारण प्यासा मरता रहता है, पर इसमे मेघ का क्या दोष है ? कुछ भी नही।

इसी प्रकार सन्त-पुरुष सभी प्राणियो को एक सा धर्मोपदेश देते हैं, उन्हे समझाने का प्रयत्न करते हैं तथा सन्मार्ग सुझाते है। और जबकि भव्य प्राणी थोडा सा सुनकर भी तुरन्त सावधान होकर अपनी दिशा बदल लेते हैं, अभव्य और कुसस्कारी व्यक्तियो के हृदय पापो के परिणामो को सुनकर भी भयभीत नही होते, द्रवित नही होते तो सद्‌बोधनो और सदुपदेशो का क्या दोष है ?

श्री भर्तृहरि ने सत्य ही कहा है —

> प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्र दंष्ट्राकुरात्-
> समुद्रमपि संतरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
> भुजगमपि कोपित शिरसि पुष्पवद्धारयेत्॥

अर्थात्—मनुष्य घड़ियाल के मुख से बलपूर्वक मणि निकाल सकता है और भयकर लहरे उठती हो ऐसे दुस्तर समुद्र को भी पार कर सकता है, क्रोधित सर्प को पुष्प की भाति सिर पर धारण कर सकता है, परन्तु हठी मूर्खों के चित्त को नही मना सकता।

ऐसे व्यक्ति सतो की नसीहत और उपदेशो से कोई लाभ नही उठा पाते, कोई भी शिक्षा उनके गले से नही उतरती। ऐसी स्थिति मे गुरु क्या कर सकता है ? एक शिक्षक ब्लैक बोर्ड पर गणित का सवाल लिखता है और नाना प्रकार से उसे हल करने की विधि बताता है। अध्ययन मे रुचि रखने वाले छात्र उन विधियो को भली-भाति समझ लेते है, और याद कर लेते हैं। किन्तु जड़बुद्धि और दुष्टप्रकृति वाला छात्र उस ओर देखे ही नही और अपना मन उस ओर न लगाए तो शिक्षक क्या कर सकता है ?

इसी प्रकार हम उपदेश देते हैं पर आप उसे अमल मे नही लाते तो यह आपका दोष है। हमे भी हमारे गुरु महाराज ने सयम पथ पर चलने के लिये अनेक प्रकार की उत्तम शिक्षाएँ दी थी। यह उनका काम था, पर

अव हमारा काम है, उनके वताये हुए मार्ग पर चलना । हम अगर सही मार्ग पर न चलें तो दोप हमारा ही है ।

लोग भूल जाते हैं कि सत महात्मा जो उपदेश देते हैं उसमे उनका कोई स्वार्थ सिद्ध नही होता । वे अन्य प्राणियो को आत्मा की उन्नत वनाने का प्रयत्न करते हैं और करुणा की भावना से ससार-चक्र मे फसे हुए जीव को मुक्ति का मार्ग वताते हैं ।

एक अग्रेज विद्वान ने भी जीव को कितनी हितकर सीख दी है । देखिये :—

"O, Ignorantat man ! thou hast adhered to the oppearn-ance, For tnis ıeason the root af meaning has remained with out blossm and fruit"

कहा है—अरे अज्ञानी जीव ! तू वाह्य पदार्थों के साथ ही मत सलग्न रह, अगर तू इन दिखावटी पदार्थों के साथ लगा रह गया तो जिस उद्देश्य को लेकर तू इस ससार मे आया है वह विना फले ही रह जाएगा ।

वस्तुत अगर व्यक्ति इस ससार के वाह्य और नश्वर पदार्थों मे आसक्त रहेगा, इन्ही की प्राप्ति और भोग की समस्याओ मे उलझा रहेगा तो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी आन्तरिक गुणो की ओर ध्यान नही दे पाएगा । और जव इनके विकास की ओर अपना लक्ष्य नही देगा, कभी अपनी आत्मा मे नही झाकेगा तो अपने मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य को कैसे पा सकेगा ?

जो प्राणी इस वात को समझ लेते हैं, वे अपने अमूल्य जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नही जाने देते । सतो का उपदेश तो दूर, किसी साधारण सी घटना से ही अपने जीवन की गलत दिशा को सही दिशा मे ले आते हैं ।

ऐसी कहानी कभी नहीं सुनी थी !

एक राजा को कहानियाँ सुनने का वडा शौक था । प्राय वे अपने वाल वनाने वाले नाई से ही कहानियाँ सुना करते थे ।

एक दिन उससे वोले—"आज तू मुझे ऐसी कोई कहानी सुना, जिसका मेरे हृदय पर सीधा प्रभाव पडे ।" नाई वेचारा महाराज का गुलाम था मना कर नही सकता था, अत उसने तनिक सोच विचार कर कहानी कहना शुरू किया—

"महाराज ! प्रतिष्ठान पुर नगर मे एक महाराजा राज करते थे। उनकी महारानी बडे तेज मिजाज की थी। एक दिन उसकी दासी महारानी की शैय्या बिछा रही थी। गर्मी के दिन थे और राजमहल से लगी हुई नदी के कारण उस ओर से ठडी हवा के झोके आ रहे थे।

ठण्डी हवा और पुष्पादि से युक्त शैय्या, देखकर दासी की इच्छा हुई—तनिक इस कोमल शैय्या पर सोकर तो देखूँ कैसा लगता है ? अपनी इच्छा को दवा न सकने के कारण दासी महारानी की शैय्या पर लेट गई।

ज्यो ही वह शैय्या पर लेटी दुर्भाग्य से उसे कठिन परिश्रम से थकी हुई होने के कारण निद्रा आ गई। ठीक उसी बीच महारानी वहाँ आई और अपनी शैय्या पर दासी को सोते हुए देखकर आग-बबूला हो उठी। उसने घसीट कर दासी को पलग से नीचे पटक दिया और समीप ही पडी हुई छड़ी से उसे मारना प्रारम्भ कर दिया।

किन्तु बडी आश्चर्यजनक बात हुई कि दासी ने रोने और चीखने चिल्लाने की बजाय ठहाका मारकर हँसना शुरू कर दिया। उसकी ऐसी हँसी से रानी बडी चकित हुई और मारना भूलकर हँसने का कारण पूछ बैठी।

दासी ने उत्तर दिया—"महारानी जी ! मुझे यह सोचकर हँसी आ गई कि इस सुन्दर और कोमल शैय्या पर एक बार सोने से भी जब मुझे इतनी मार खानी पडी है तो आपको इस पर प्रतिदिन सोने के कारण भविष्य मे न जाने कितनी मार खानी पडेगी ? और तब भी आप अपने भविष्य की ओर से निश्चिन्त रहकर मुझे मारती जा रही हैं। इसी पर हँसी आ गई कृपा करके मुझे क्षमा करें।"

राजा ने नाई से यह कहानी सुनी और सुनते ही उनका मन ससार से विरक्त हो गया। बोले—"तूने कहानियाँ तो मुझे पहले भी बहुत सुनाई हैं किन्तु इस कहानी का मेरे मन पर जैसा प्रभाव पडा है, वैसा पहले कभी नही पडा।"

ऐसा कहते हुए राजा ने अपने सारे अलकार उतार कर नाई को इनाम मे दे दिये और उसी क्षण राज्य त्याग कर साधु बन गए।

भव्य जीवन

भव्य प्राणियो का जीवन ऐसा ही होता है। निकट भविष्य मे ही जिनकी आत्मा ससार-मुक्त होने वाली होती है वे किसी साधारण सयोग से ही चेत

जाते है और समस्त सासारिक सुखो को तिलाजलि देकर साधनो मे जुट जाते हैं। और ऐसा होने पर ही आत्म-कल्याण हो सकता है। जब तक जल मे डूबे हुए प्राणी की छटपटाहट के समान जीव को इस ससार-सागर से उबरने की छटपटाहट नही होती, तब तक वह आत्म-मुक्ति के प्रयत्न मे सलग्न नही हो सकता। कहा भी है—

धान तजे गृह छोरि भजे, जिनराज के नाम लग्यो मन है।
शुद्ध सम्यक् ज्ञान विराग रुचे न करे परमाद इको छिन है॥
निशवासर दुक्कर धारत कष्ट अनित्य लखे मनुजा तन है।
जिन आन अमीरिख शीश धरे शिव पामिवे को यह साधन है॥

सर्प जिस प्रकार अपनी केंचुली का त्याग करके पुन पीछे फिर कर नही देखता और वहाँ से सरपट भाग जाता है, इसी प्रकार जब प्राणी धन-धान्य पूर्ण गृह एव सासारिक सम्बन्धियो के प्रति मोह ममता को त्याग कर बिना उनकी ओर मुडकर देखे भागकर भगवान से लौ लगा लेता है, तभी वह साधना के कठोर पथ पर चल सकता है।

जो जीव सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं और वैराग्य मे रमण करने लगते हैं, वे एक क्षण का भी प्रमाद किये बिना शरीर को अनित्य मानकर दुष्कर तपादि करते हुए इसका पूरा लाभ उठाते हैं। उनकी आत्मा कभी भी डिगती नही, यहा तक कि धर्म के लिये वे समय आने पर प्राणो का त्याग करने से भी नही हिचकिचाते। ऐसा उत्कट सयम-पालन ही शिव गति के प्राप्ति का साधन बन सकता है।

किन्तु जो जीव अभवि होते हैं अर्थात् भविष्य मे जिनके छुटकारे की सम्भावना नही होती वे प्रतिदिन जिनवाणी सुनकर भी जागृत नही होते, सन्तो के उपदेशो की एक भी सीख ग्रहण नही करते।

खोखला साधुत्व

हमारे आगमो मे वर्णन आता है कि स्वय अभव्यो के उपदेश सुनकर भी अनेक प्राणी चेत गए और मोक्ष मे चले गए पर वे स्वय तो नौग्रैवेयक, तक जाकर भी लौट आते हैं आगे नही जा सकते।

ऐसा पढकर और सुनकर महान् आश्चर्य होता है कि साधुत्व ग्रहण कर लेने और आचार, विचार तथा व्यवहार के पालन मे भी कोई कमी न रखने पर भी प्राणी अभव्य क्यो रह जाता है ?

इसका उत्तर यही है कि वह जीव साधुत्व का पालन अवश्य करता है

पर केवल व्यावहारिक और बाह्य दृष्टि से ही। अत करण से वह भीगता नही है। ऐसे साधुत्व से कही आत्मा का कल्याण हो सकता है। नही, साधुत्व का पालन करना कांटो के मार्ग पर चलना है और लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है। जो जीव जीवित अवस्था मे ही मृत्यु से निर्भीक हो जाते हैं वे ही साधु-धर्म का पालन कर सकते हैं। केवल साधु का बाना पहन लेने से और बाह्य-क्रियाओ को कर लेने मात्र से ही साधु, साधु नही कहलाता, जब तक कि उसकी अन्तरात्मा साधु न बन जाय। साधु को बाह्य परिग्रह और भोग-विलास के साधनो का त्याग तो करना ही होता है, साथ ही समस्त आतरिक विकार और दुर्गुणो का भी अनिवार्य रूप मे त्याग करना पडता है।

एक फारसी भाषा के कवि ने कहा भी है —

जाहिर अज आमाले नेको पाक कुन।
बातन अज हक्कुल् यकीं बेबाक कुन॥

अर्थात्—हे जीव! तू अपने बाह्य स्वरूप को शुभ कर्मों द्वारा पवित्र कर और आन्तरिक भावो का दृढ़ श्रद्धा से उत्थान कर।

वस्तुत साधु मानव-जीवन के पावन और उच्चतम उद्देश्य की प्रतिमूर्ति तथा सयम और सदाचार की चलती फिरती प्रतिमा है, उसका जीवन, तप और त्याग का जीवन है तथा अधकार मे विचरण करने वाले ससारी प्राणियो के लिये प्रकाश-स्तम्भ के सदृश है। पर वह ऐसा तभी साबित होता है जबकि उसमे पूर्ण सचाई हो तथा उसकी समस्त बाह्य-क्रियाओ के साथ उसकी अन्तरात्मा भी जुडी हुई हो। अन्यथा तो वह साधुत्व ग्रहण करके और उसके अनुसार आचार-विचार का पालन करके भी कोरा का कोरा ही रह जाएगा।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि अभवि प्राणी यद्यपि साधु बन जाते हैं, साधु के योग्य आचरण करते हैं, जिन वचनो के आधार पर धर्मोपदेश देते हैं और अनेक प्राणियो को बोध देकर उन्हे आत्मोद्धार के मार्ग पर बढ़ा देते है किन्तु वे स्वय अन्तरात्मा की अपरिवर्तित स्थिति के कारण सम्पूर्णतया कोरे के कोरे ही रह जाते हैं। उनका खोखला जीवन कभी भी मानव पर्याय के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति नही करवा पाता। किसी के लाख प्रयत्न करने पर भी उनकी आत्मा मे परिवर्तन नही आता।

पूज्य पाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने ऐसे जीवो के लिये सत्य ही कहा है:—

बरसत मेघधार भेदे नहीं मगसूल,
अभवि को चित्त नहीं भेदे जिनवाणी वे ।
जलत जवासो जैसे अति घन बरसत,
खार की जमी पै नहीं बीज वृद्धि मानिए ।।
तुष को पछारे नहीं मिलत तंदुल कन,
निकसे न माखन मथावे कोई पानीये ।
सन्निपात रोगी ताको दूध खांड जहर होय,
अमीरिख कहे ऐसे अभवि पिछानिये ।।

कहा है—जिस प्रकार निरतर मेघ-वृष्टि होने पर भी मगशूल नामक काला पत्थर कभी नही भीगता, उसी प्रकार अभवि जीव का अन्त.करण प्रतिदिन जिनवाणी की अखण्ड धारा को सुनकर भी वोध को प्राप्त नही होता, उलटे जिस प्रकार जवासिया का छोटा सा पेड अन्य फले फूले वृक्षो को देखकर इर्ष्या से स्वय ही जल जाता है, वह भी औरो की प्रगति को देखकर मन ही मन जलता है और अपनी आत्मा को कलुपित वनाता है ।

अभव्य के विपय मे अधिक क्या कहा जाय ? जैसे खारी जमीन मे डाला हुआ वीज अकुरित नही होता, तुप अर्थात छिलको को पछाडने पर चावल का एक भी दाना नही निकलता, पानी को लगातार मथते रहने पर भी मक्खन प्राप्त नही होता और सन्निपात के रोगी को दूध और शक्कर लाभ-प्रद होने की वजाय हानिकारक सावित होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व और अज्ञान रूपी रोग से ग्रसित होने के कारण अभव्य जीव को न शास्त्रो का स्वाध्याय करने से, न जिनवाणी का श्रवण करने से, और न ही निरतर उपदेशो के द्वारा वोध दिलाने का प्रयत्न करने से ही कोई लाभ होता है ।

ऐसा जीव कोटि प्रयत्न करने पर भी पूर्ववत बना रहता है, रंचमात्र भी अपने आपको नही वदल पाता । हमारे शास्त्र वताते हैं और आपको भी ज्ञात होगा कि राजा श्रेणिक ने अपने नरक का वध तोडने के लिये क्या-क्या किया था ?

होनहार को नमस्कार

जब भगवान ने वताया कि 'तुम मरकर नरक मे जाओगे' तो श्रेणिक को वडा दुःख हुआ और उन्होने भगवान् से उस दुःखदायी नरक से वचने का उपाय पूछा ।

भगवान् महावीर ने राजा को चार उपाय नरक से छुटकारा पाने के बताये। जिनमे से एक था श्रेणिक की दादी को भगवान् के दर्शन कराना और दूसरा था उनकी कपिला दासी के हाथ से दान दिलाना।

उपाय बडे सरल थे। राजा श्रेणिक ने सोचा—'यह कौनसी बडी बातें हैं ? मैं दादी जी को एक बार तो क्या कई बार भगवान् के दर्शन करा दूंगा और दासी तो मेरी सेविका ही है, उसके हाथ से चाहे जितना दान भी दिलवा दूंगा।"

अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा श्रेणिक पहले अपनी दादी के पास आ पहुंचे और बोले—

"दादी जी ! आप मेरा सुख चाहती हैं या दुख ?"

"बेटा यह कैसी बात है ? मैं तो तेरा सुख ही चाहती हूं।"

"तो फिर एक बार भगवान के दर्शन करने चलो !" श्रेणिक ने मौका पाते ही कह दिया। पर दादीजी तो जैसे सांप की पूंछ पर पैर पड गया हो, इस प्रकार चोककर बोली—

"ऐसी बात तू मत कर ! मैंने अपनी जिन्दगी में कभी भी दर्शन-वर्शन नही किये, अब बुढापे मे अपनी रीत नही तोडूंगी। और फिर भगवान के दर्शन क्या करना है ? अपने जैसे वे भी मनुष्य हैं, जैसी रोटी हम खाते हैं वैसी ही वे भी खाते हैं। फरक कौन सा है ? मैं तो जाऊंगी कदापि नही।"

दादी की बात सुनकर श्रेणिक को कुछ निराशा हुई पर वे चतुर थे। सोचा—"किसी और उपाय से दर्शन करवा दूंगा।"

कुछ दिन बाद जब दादी वह बात भूल गई तो श्रेणिक महाराज ने एक दिन उनसे हवाखोरी के लिये चलने को कहा। बहुत मना करने पर भी पोते का आग्रह देखकर वे रथ पर सवार हो हवा-खोरी के लिये निकली।

इधर श्रेणिक को अपना कार्य सिद्ध करना था, अत वे रथ को सीधे भगवान के समवशरण की ओर ले आए तथा जब दूर से ही भगवान् दिखाई दिये तो दादी से बोले—

"दादी जी ! वे सामने भगवान् विराजे हुए हैं, देखो !"

पर इतना कहते ही देखते क्या हैं कि उनकी दादी ने अपनी रीति की रक्षा करने के लिये तकुए से अपनी दोनो आंखें फोड ली हैं।

अब समस्या आई कपिला दासी के हाथ से दान दिलवाने की। श्रेणिक को तो नरक की चिन्ता सता रही थी अत. दादी के क्रिया-कर्मादि से निपटकर एक दिन उन्होंने कपिला दासी को अपने समक्ष बुलवाया और उससे दान देने के लिये कहा।

"महाराज ! मैं तो दान नही दे सकती।" कपिला ने दो टूक उत्तर दे दिया।

राजा ने क्रोध करते हुए पुन कहा–"क्यो नही देगी दान ? तुझे कोई अपने पास से तो देना नही है। मेरा धन है उसे देने मे तेरा क्या जाता है ?"

"कुछ भी हो महाराज ! चाहे आप मुझे जान से मरवा डाले पर मैं दान नही दूँगी।"

श्रेणिक वडे विचार मे पड गए। सोचने लगे—"क्रोध में आकर दासी को मरवा देना तो सहज है पर उससे क्या होगा ? मेरा नरक का बध तो टूटेगा नहीं. वह तो इसके हाथ से दान देने पर ही छूट सकता है।"

आखिर एक उपाय उन्होंने खोजा। कपिला के हाथ मे लकडी का एक लम्बा चाटू वांध दिया गया और उससे कहा—"यह दान तो तेरे हाथ का नही है ? अव इस चाटू से दे दो।"

कपिला कम धूर्त नही थी। देते हुए वोली—"यह दान मैं नहीं दे रही हू, राजा का चाटू दे रहा है।"

श्रेणिक मस्तक पर हाथ रखकर बैठ गए और सोचने लगे किसी ने ठीक ही कहा है—

सहसबार डुबकी दई मुक्ता लगो न हाथ।
सागर को क्या दोष है, बुरे हमारे भाग ॥

तो बंधुओ, आप अभव्य प्राणी के लक्षण भली-भाति समझ गए होंगे कि कुत्ते की पूँछ के समान उनका हृदय लाख प्रयत्न करने पर भी अशुभ-भावनाओ से रहित नही हो सकता। अन्यथा श्रेणिक महाराज की दादी दूर से ही भगवान के दर्शन कर लेती तो क्या विगड जाता ? और कपिला दासी राजा का धन अपने हाथ से दान कर देती तो उसकी कौन सी हानि हो जाती ?

पर ऐसा होता कैसे ? फिर अभव्य को अभव्य कहने की आवश्यकता ही क्या थी ? थोडा सा प्रयत्न करने पर ही वह भव्य साबित हो सकता था। पर ऐसा कदापि होता नही है, यह समझकर हमे इन समस्त उदाहरणो से शिक्षा लेनी है।

हमे प्रतिक्षण अपनी आत्मा का निरीक्षण करते हुए, उसे दोष रहित बनाना है तथा जिन वचनो पर दृढ आस्था रखते हुए संत-महापुरुषो और गुरुओ के उपदेशो को आत्म-सात् करते हुए उन्हे अमल मे लाना है। तभी हम भगवान के कथनानुसार एकान्त सुख-रूप मोक्ष की ओर बढ सकेंगे।

